...हुंकार हूँ मैं

रामधारी सिंह दिनकर

सत्यमेव जयते

प्रधान मंत्री
Prime Minister

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह "दिनकर" स्मृति न्यास, दिल्ली द्वारा उस महान क्रांतिकारी कवि का जन्मशताब्दी वर्ष मनाया जा रहा है और इस उपलक्ष्य में एक "स्मारिका" भी प्रकाशित की जा रही है।

"राष्ट्रकवि" रामधारी सिंह दिनकर ने राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत एवं क्रांतिकारी संघर्ष की प्रेरणा देने वाली ओजस्वी कविताएं लिखकर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपनी एक अमिट छाप छोड़ी है। दिनकर अपने युग के एक प्रमुख कवि ही नहीं थे, बल्कि एक सफल और प्रभावपूर्ण गद्य लेखक भी थे। उन्होंने जहां विभिन्न साहित्यिक विषयों पर निबंध लिखे, वहीं बोधकथा, डायरी, संस्मरण तथा दर्शन एवं इतिहासगत तथ्यों के विवेचन भी लिखे। उन्होंने हिन्दी जगत को एक नई शैली, नई शक्ति, नई भाषा तथा नई दिशा प्रदान की। दिनकर जी ने शासकीय सेवा में रहकर भी कई महत्वपूर्ण पदों को सुशोभित किया। उस दौरान भी साहित्य सृजन की उनकी लेखनी निरंतर चलती रही।

स्मारिका के सफल प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

मनमोहन सिंह

(मनमोहन सिंह)

सत्यमेव जयते

अध्यक्ष, लोक सभा
SPEAKER, LOK SABHA

संदेश

मुझे यह जानकर खुशी हुई है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास 21 सितम्बर 2008 को श्री दिनकर के जन्मशती समारोहों का आयोजन कर रहा है और इस अवसर पर *'हुँकार हूँ मैं'* शीर्षक से एक स्मारिका का प्रकाशन कर रहा है।

रामधारी सिंह दिनकर अत्यंत उदार तथा गौरवशाली व्यक्तित्व के धनी थे । वह केवल कवि और निबंधकार ही नहीं बल्कि एक महान स्वतंत्रता सेनानी भी थे । आत्मा को झकझोर देने वाली उनकी रचनाओं ने देशवासियों को विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए प्रेरित किया। *राष्ट्रकवि* दिनकर जी की देशभक्ति और संवेदना से ओत-प्रोत विशिष्ट रचनाएं आज भी हमें अनुप्रेरित करती हैं । उनकी कविताएं हमें सामाजिक अन्याय और शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने की शिक्षा देती हैं। निःसंदेह, उनकी कृतियाँ भारत के लोगों के लिए सदैव प्रेरणा का स्रोत बनी रहेंगी ।

मैं उनकी चिरस्थायी स्मृति के प्रति सम्मान व्यक्त करता हूँ तथा समारोह से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को हार्दिक शुभकामनाएं देता हूँ और इसकी पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ ।

सोमनाथ चटर्जी

(सोमनाथ चटर्जी)

सत्यमेव जयते

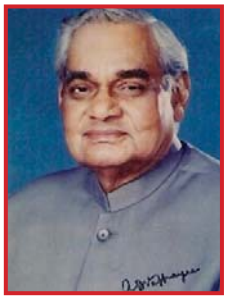

अटल बिहारी वाजपेयी

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर के जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में **हुंकार हूं मैं** नामक स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है। राष्ट्रकवि दिनकर ओजस्विता के कवि थे। उनकी हुंकार ने भारत और भारतीयों की सुप्त चेतनाओं को जागृत करने का असंभव कार्य किया था। ऐसे 'दिनकर' कभी-कभी ही जन्मते हैं। ऐसे साहित्यिक महापुरुष की स्मृति में स्मारिका का प्रकाशन एक सराहनीय प्रयास है।

स्मारिका के सफल प्रकाशन के लिए मेरी शुभकामनाएं स्वीकार करें।

अटल बिहारी वाजपेयी

(अटल बिहारी वाजपेयी)

6A, Krishna Menon Marg, New Delhi 110011 India
Tel.: +91 11 23015308, 23793877 Fax: +91 11 23794612

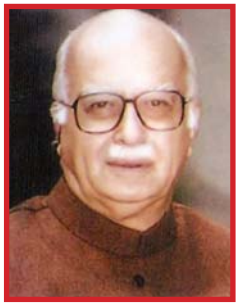

लाल कृष्ण आडवाणी
नेता, प्रतिपक्ष
लोक सभा

सत्यमेव जयते

44, संसद भवन
नई दिल्ली-110 001
दूरभाष: 23016705, 23034285
फैक्स: 23017470

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के जन्मशताब्दी वर्ष में "हुंकार हूँ मैं" नामक स्मारिका प्रकाशित की जा रही है। दिनकर जी की वीर रस से ओतप्रोत रचनायें जितना आजादी के संघर्ष के समय में क्रांतिकारियों को ऊर्जा प्रदान कर उनको देश के लिए मर मिटने के लिए प्रेरित करती थीं , वे उतना ही राष्ट्रवाद के लिए आज भी प्रासंगिक है।

ऐसे महान कवि का स्मरण करते हुए मैं उन्हे अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ तथा स्मारिका के सफल प्रकाशन के लिए राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' न्यास के सभी सदस्यों को हार्दिक शुभकामनायें प्रेषित करता हूँ।

(लाल कृष्ण आडवाणी)

निवासः 30, पृथ्वीराज रोड़, नई दिल्ली-110 001 दूरभाषः 23794124, 23794125, फैक्सः 23017015

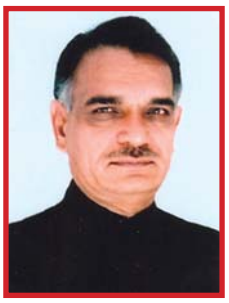

सत्यमेव जयते

शिवराज पाटील
SHIVRAJ V. PATIL
गृह मंत्री, भारत
HOME MINISTER, INDIA

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह "दिनकर" स्मृति न्यास राष्ट्रकवि "दिनकर" जी के जन्मशताब्दी वर्ष पर "स्मारिका" प्रकाशित कर रहा है ।

राष्ट्रीय चेतना, स्वाभिमान एवं मानवीय संवेदना के ओजस्वी कवि रामधारी सिंह "दिनकर" का आजादी की लड़ाई में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है । आज भी हमें उनके साहित्य के अध्ययन और मनन से शोषण के विरूद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा मिलती है ।

मुझे आशा है उक्त संस्था साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक उत्थान के लिए निरंतर कार्यरत रहेगी और "दिनकर" जी के आदर्शों और विचारों को जन-जन तक पहुंचाने में महती भूमिका निभाएगी ।

स्मारिका के सफल प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएं ।

(शिवराज वि.पाटील)

सत्यमेव जयते

डॉ. मुरली मनोहर जोशी
संसद सदस्य (राज्य सभा)
अध्यक्ष
वाणिज्य सम्बन्धी संसदीय
स्थायी समिति

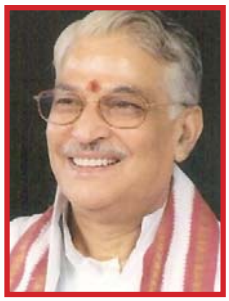

123, संसदीय सौध
नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 23034123, 23011991

शुभकामना संदेश

मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास दिनांक 21 सितम्बर, 2008 को दिनकर जन्म शताब्दी समारोह का आयोजन कर रहा है। यह न्यास लगभग 12 वर्षों से राष्ट्रकवि दिनकर के विचारों को सुदूर ग्रामांचलों तक पहुंचाने के लिए संकल्परत है। गत एक वर्ष से विभिन्न स्थानों पर आयोजित कार्यक्रमों द्वारा न्यास राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने का प्रशंसनीय कार्य कर रहा है।

अपने स्वयं के पुरुषार्थ एवं संकल्प से बिना किसी आर्थिक सहयोग के नवयुवकों द्वारा ऐसे कार्यक्रम का आयोजन एक शुभ लक्षण है और भारत के स्वाभिमान तथा स्वाधीनता की रक्षा के प्रति आश्वस्त करता है।

यह भी हर्ष का विषय है कि इस अवसर पर ***'हुंकार हूं मैं'*** स्मारिका का भी प्रकाशन किया जा रहा है। भारत दिनकर के ओज की हुंकार भावी पीढ़ी के तरुणों से सुनना चाहता है और उसकी अनुगूंज विश्वव्यापी बने, देश इसकी प्रतीक्षा कर रहा है। मैं दिनकर शताब्दी आयोजन एवं इस पत्रिका के सफल प्रकाशन के लिए अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

(मुरली मनोहर जोशी)

6, रायसीना रोड़, नई दिल्ली-110001 • दूरभाषः 23718444, 23711144, फैक्सः 23711772
''आंडिरस'' 9/10 - ए टैगोर नगर, अनुकूल बैनेर्जी रोड़, इलाहाबाद - 211002 • दूरभाषः 0532-2465008, फैक्सः 0532-2466800

राजभवन
गांधीनगर–382020

सत्यमेव जयते

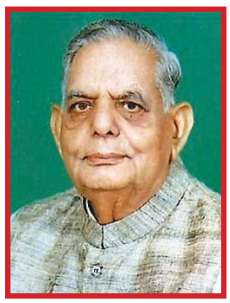

नवल किशोर शर्मा
राज्यपाल, गुजरात

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जी के जन्मशताब्दी वर्ष दिनांक २१ सितम्बर, २००८ के दिन :हुंकार हूं मैं: नामक स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है। मुझे आशा है यह स्मारिका पठनीय, संग्रहणीय, व प्रेरणा का स्त्रोत बनेगी।

आजादी की लड.ाई में राष्ट्रकवि दिनकर जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा। वे राष्ट्रीय चेतना, स्वाभिमान एवं संवेदना के ओजस्वी कवि थे। आज भी उनकी कृतियों से अन्याय एवं शोषण के खिलाफ संघर्ष की अद्‌भुत शक्ति मिलती है। इसलिए आपने स्मारिका का नाम :हुंकार हूं मैं:रखा है यह समयोचित है।

दिनकर जी ने राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर काव्य रचना की है। उनकी कविताओं में ओज, पौरूष और क्रन्ति का संगम राष्ट्रीयता आधारित है। भारतीय अतीत का सौन्दर्य वर्णन उनकी काव्यात्मक गरिमा को सदैव गौरवान्वित करेगा।

राष्ट्रप्रेम के युगचारण की ख्याति दिनकर जी को सदैव शाश्वत बनाये रखेगी, ऐसी आस्था और विश्वास के साथ मैं राष्ट्रकवि को श्रध्दासुमन अर्पित करते हुए कार्यक्रम की सफलता हेतु अपनी शुभकामनाऐं प्रेषित करता हूं।

नवल किशोर शर्मा

(नवल किशोर शर्मा)

बाल्मीकि प्रसाद सिंह
BALMIKI PRASAD SINGH

सत्यमेव जयते

राज्यपाल, सिक्किम
GOVERNOR OF SIKKIM

RAJ BHAVAN
GANGTOK-737103
(SIKKIM)

रामधारी सिंह 'दिनकर' भारतीय साहित्य के अंतरिक्ष पर हिन्दी कविता और गद्य लेखन के चमकते नक्षत्र हैं। २७ वर्ष की उम्र में 'रेणुका' से उन्होंने कविता की दुनिया में प्रवेश किया और अगले ३५ वर्षों तक लगातार एक के बाद एक प्राजंल 'काव्य–ग्रंथ' हमें देते रहे, साथ ही साथ गद्य लेखन में भी महारथ हासिल की। 'कुरूक्षेत्र', 'रश्मिरथी' 'उर्वशी' 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसी उनकी रचनाएँ विश्वविख्यात है। वस्तुतः दिनकर जी की ये रचनाएँ कालजयी रचनाएँ हैं, राष्ट्रीय धरोहर हैं।

पारम्परिक भारतीय साहित्य जगत के तत्त्वों को अन्तर्विष्ठ कर उन्होंने ***'राष्ट्रीय–सांस्कृतिक विचारधारा'*** की जो गंगा सृजित की है उसमें बहुआयामी काव्य–तत्त्व समाहित हैं। इनके काव्य का उद्देश्य महज रसास्वादन कराना नहीं, बल्कि लोकमंगल करना है। इन्होंने न तो संस्कृत नाटकों के रस–सिद्धान्त के पारम्परिक सिद्धान्त को अपनाया और न ही शेक्सपीयर या मिल्टन की भाँति शील–वैचित्र्य, मानसिक–संघर्ष, नियतिवाद का प्रयोग किया है बल्कि इनकी शैली 'दिनकरवादी' है। यह भारतीय शैली है, राष्ट्रीय शैली है और यह गाँव के लोगों को और सामान्य पाठकों को विशेष रूप से प्रभावित करती है।

धर्मनिरपेक्ष विचारधारा से आप्लावित दिनकर जी की आस्था काव्य में संस्कृतिक–समन्वय की है। औपनिवेशिक शोषण की बहुआयामी तस्वीरें प्रस्तुत करने वाले इस राष्ट्रकवि ने भारतीय जनता की काहिली, धार्मिक अंधविश्वास, अकर्मव्यता, अशिक्षा आदि में छिपे हुए गुलामी के बीज को भी अपने काव्य में उभारा है और चुनौती दी है। दिनकर–काव्य हिन्दी समाज की उदारतम चेतना का दस्तावेज है।

आज अगर दिनकर जी हमारे बीच होते तो भारत के विकास और उसके प्रजातंत्र की मजबूती पर प्रसन्नता व्यक्त करते। उन्हें महिलाओं की ग्राम पंचायत में बढ़ती भागीदारी से आनन्द मिलता, लेकिन भारत में बढ़ते अपसध और असहिष्णुता तथा गरीब और अमीर के बीच बढ़ती हुई खाई उन्हें परेशान भी करती।

दिनकर जी से मेरे परिवार का बड़ा ही घनिष्ठ संबंध था। मेरे पितामह बाबू हृदय नारायण सिंह जी जो 'नैशनल स्कूल' के प्राचार्य थे (जिन्हें महात्मा गाँधी एवं राजेन्द्र प्रसाद ने नियुक्त किया था), बालक दिनकर की प्रतिभा को भाँप लिया था। उन्होंने दिनकर जी को इस स्कूल को छोड़कर मोकामा घाट में जहाँ अंग्रेजी की पढ़ाई होती थी, जाकर पढ़ने को कहा। क्योंकि बीहट नैशनल स्कूल में उनकी प्रतिभा का सम्पूर्ण विकास संभव नहीं था। दिनकर जी ने ऐसा ही किया।

दिनकर जी जब भी अपने गाँव 'सिमरिया' आते थे तो मेरे पैतृक गाँव 'बीहट' (जो सिमरिया के बगल में है) अपने पुराने गुरू को प्रणाम करने आते थे। मेरे पिताजी से भी उनकी गहरी दोस्ती थी और वे मुझे अपने परिवार का सदस्य मानते थे। जब मैं **I.A.S.** में चयनित हुआ, तो वे बड़े गौरवान्वित थे।

'उर्वशी' जिस पुस्तक पर उन्हें **'ज्ञानपीठ पुरस्कार'** मिला था, में एक जगह उन्होंने पुरूरवा के बारे में कहा है– ''उर्वशी अपने समय का सूर्य हूँ मैं।'' मुझे और दिनकर जी के पाठकों को भी इस ठीकठाक ज्ञान नहीं है की पुरूरवा का व्यक्तित्व कितना ओजस्वी था। लेकिन दिनकर जी अपने समय के सचमुच 'सूर्य' थे। मैं उस 'सूर्य', जो दिनकर जी थे, की स्मृति को प्रणाम करता हूँ।

बाल्मीकि प्रसाद सिंह

(बाल्मीकि प्रसाद सिंह)

GOVERNOR
KARNATAKA

RAJ BHAVAN
BANGALORE

सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है कि आगामी २१ सितम्बर २००८ को नई दिल्ली में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जन्मशताब्दी समारोह का आयोजन किया जा रहा है और इस अवसर पर `हुंकार हूं मैं" नामक स्मारिका भी प्रकाशित की जा रही है।

इस शुभ अवसर पर मैं आयोजन की सफलता एवं स्मारिका के सफल प्रकाशन की कामना करता हूं।

रामेश्वर ठाकुर

(रामेश्वर ठाकुर)

GOVERNOR OF WEST BENGAL

सत्यमेव जयते

RAJ BHAVAN
KOLKATA 700062

संदेश

'दिनकर' के नाम में वह है जो उस्ताद अल्लारखा की तबले पर थिरकती हथेलियों में है: गति, ताल, लय, और उन तीनों के मेल से उत्पन्न चमत्कार।

'दिनकर' के काव्य में वेग है, आवेग है; राग है, अनुराग है। और साथ ही पुरुष-प्रकृति की युगल कला। जब वे 'हिमालय' में लिखते हैं : 'साकार, दिव्य, गौरव विराट / पौरुष के पूँजीभूत ज्वाल' तब सशक्त पुरुषत्व का नाद हिमालय को सजग करदेता है। और जब वे लिखते हैं, अगली ही पंक्ति में, 'मेरी जननी के हिम-किरीट, मेरे भारत के दिव्य भाल' तो उनका स्वर अचानक सुकोमल हो कर हेमाँगी प्रकृति का मधुर दर्शन दे देता है। और तब उस्ताद अल्लारखा के तिलस्मी तबले का स्थान पंडित शिवकुमार शर्मा का संतूर ले लेता है।

काव्य संसार में ही चिर नहीं, 'दिनकर' चिरंजीव यौवनत्व का स्वरूप बने रहेंगे।

किन्तु मेरी समझ में भारत के आत्म-परिचयी चिन्तन में भी वे एक दार्शनिक-इतिहासज्ञ के रूप में हमारे स्वबोध-पटल पर छाए रहेंगे। 'संस्कृति के चार अध्याय' उनकी ऐसी अमूल्य भेंट है जिसका तुलाभार पंडित जवाहरलाल नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इन्डिया' से ही हो सकता है। कितना उचित है, कि उस ग्रन्थ के लिए प्राक्कथन जवाहरलालजी ने स्वयं लिखा है।

'दिनकर' की शताब्दि पर मैं उनकी जीवन्त स्मृति की भव्य चट्टान पर अपना प्रणाम अर्पित करता हूँ।

गोपालकृष्ण गांधी

GOVERNOR
सत्यमेव जयते
MIZORAM

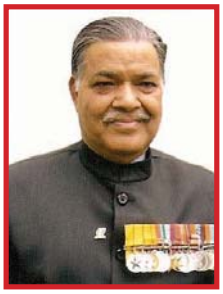

Lt. Gen. (Retd.)M.M. Lakhera
PVSM. AVSM. VSM

RAJ BHAVAN.
AIZAWL - 796 001
Phone : 0389 2322262 / 2323200
E-mail : rbaizawl@sancharnet.in
Fax : 0389 2323344

विषय :- राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' जी के जन्मशताब्दी पर स्मारिका ''हुंकार हूँ मैं'' शुभ संदेश भेजने के संबंध में ।

आदरणीय नीरज कुमार जी,

आपके द्वारा दिनकर जी के जनशताब्दी के सुअवसर पर स्मारिका - ''हुंकार हूँ मैं'' के प्रकाशन के अवसर पर हम अपना छायाचित्र प्रकाशन हेतु भेज रहे हैं मेरी भगवान से प्रार्थना है कि आप इसी तरह दिनकर जी के विचारों को जन-जन तक पहुंचाने के शुभ कार्य में सफलता हासिल करें ।

शुभकामनाओं सहित

एम एम लखेड़ा

(ले0 जनरल एम0 एम0 लखेड़ा)
राज्यपाल
मिजोरम

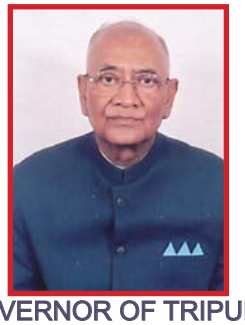

GOVERNOR OF TRIPURA

सत्यमेव जयते

RAJ BHAVAN
AGARTALA - 799006
0381 - 2324091, 2325767

संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास, डॉ0 मुखर्जी नगर, दिल्ली ने राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के जन्म शताब्दी समारोह का आयोजन 21 सितम्बर, 2008 को मावलंकर सभागार, रफी मार्ग, नई दिल्ली में करने का निर्णय लिया है एवं इस सुअवसर पर स्मारिका ''हुंकार हूँ मैं'' का प्रकाशन करने का निर्णय लिया है। यह स्वागत-योग्य है।

राष्ट्रकवि दिनकर आजीवन साहित्य साधना में निरत रहते हुए सम्पूर्ण देश में अपनी लेखनी के माध्यम से देशभक्ति एवं कर्तव्य परायणता की अलख जगाते रहे। उनकी शाश्वत एवं ओजस्वी कविताएँ स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान देशभक्तों के हृदय में राष्ट्रीय भावनाएं जागृत करती थीं। उनकी कविताओं के स्मरण मात्र से ही लोगों में शौर्या का संचार होने लगता था। समय के साथ राष्ट्रकवि दिनकर के विचारों की प्रासंगिकता न केवल अक्षुण्ण है बल्कि उसकी उपादेयता और बढ़ी है।

मैं इस समारोह की सफलता, स्मारिका के सफल प्रकाशन एवं इसके उद्देश्यों की पूर्ति की कामना करता हूँ।

(दिनेश नंदन सहाय)

नारायण दत्त तिवारी

सत्यमेव जयते

राज्यपाल
आंध्र प्रदेश

राज भवन
हैदराबाद - 500 041

संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर स्मृति न्यास द्वारा आगामी 21 सितंबर 2008 को राष्ट्रकवि दिनकर जी के जन्मोत्सव पर **"हुंकार हूँ मैं"** नामक स्मारिका के प्रकाशन किये जाने का निर्णय लिया गया है । हमारे आदर्श और काव्य तथा साहित्य के पुरोधा रहे सम्मानित दिनकर जी राष्ट्रीय चेतना, स्वाभिमान एवं संवेदना के ओजस्वी कवि थे । स्वतंत्रता के संघर्ष में उनका अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा । वर्तमान समय में भी युवा एवं वर्तमान पीढी को उनकी कृतियों के अध्ययन और चिन्तन से समाज में पनप रहे अन्याय एवं शोषण के खिलाफ लडने की शक्ति प्राप्त होती है । आशा है उक्त स्मारिका में स्वनामधन्य दिनकर जी के जीवन के विभिन्न आयामों, अनेक संघर्ष की विभिन्न गाथाओं एवं उनके ओजस्वी तथा स्वाभिमानी साहित्यसृजन के साथ-साथ कतिपय रूचिपरक एवं ज्ञानबर्द्धक बिन्दुओं का उल्लेख भी निहित होगा।

मैं दिनकर स्मृति न्यास द्वारा किये जा रहे इस सद्प्रयास की सराहना करता हूँ तथा प्रकाशित की जाने वाली स्मारिका के सफल प्रकाशन हेतु हार्दिक शुभकामनायें प्रेषित करता हूँ ।

(नारायणदत्त तिवारी)

विद्युत मंत्री
भारत सरकार
नई दिल्ली–110001

सत्यमेव जयते

सुशीलकुमार शिंदे
SUSHILKUMAR SHINDE

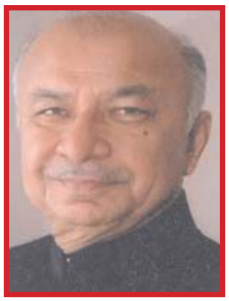

MINISTER OF POWER
GOVERNMENT OF INDIA
NEW DELHI - 110001

संदेश

यह हर्ष का विषय है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह "दिनकर" स्मृति न्यास उनकी जन्मशताब्दी के शुभ अवसर पर "हुंकार हूँ मैं" नामक स्मारिका का प्रकाशन कर रहा है । यह एक सराहनीय कदम है ।

हिंदी साहित्य के इतिहास में श्री दिनकर जी का स्थान अग्रणीय है । वे राष्ट्रीय चेतना, स्वाभिमान एवं संवेदना के ओजस्वी कवि थे । वे एक प्रखर राष्ट्रवादी एवं महान विचारक थे । देश के स्वतंत्रता आंदोलन में भी उनका उल्लेखनीय योगदान रहा है, इसलिए उन्हें राष्ट्रकवि के नाम से याद किया जाता है । हमें उनकी रचनाओं और जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए ।

अपनी भावभिनी श्रद्धांजली अर्पित करते हुए राष्ट्रकवि रामधारी सिंह "दिनकर" स्मृति न्यास द्वारा प्रकाशित स्मारिका हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएं ।

(सुशीलकुमार शिंदे)

सत्यमेव जयते

रसायन एवम् उर्वरक
तथा इस्पात मंत्री
भारत सरकार
नई दिल्ली
MINISTER OF CHEMICALS
& FERTILIZERS AND STEEL
GOVERNMENT OF INDIA
NEW DELHI

राम विलास पासवान
Ram Vilas Paswan

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर स्मृति न्यास, द्वितीय तल, मुखर्जी टावर, डॉ० मुखर्जी नगर, दिल्ली द्वारा स्वर्गीय दिनकर जी का जन्मशताब्दी समारोह दिनांक 21.9.2008 को मावलंकर हाल, रफी मार्ग, नई दिल्ली में **राष्ट्रीय चेतना के कवि दिनकर** विषय पर व्याख्यानमाला का आयोजन तथा इस अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन करने के साथ मनाया जा रहा है ।

दिनकर जी राष्ट्रीय चेतना, स्वाभिमान एवं संवेदना के ओजस्वी कवि थे । उनकी कविताओं ने राष्ट्र निर्माण में भाग लेने के लिए देशवासियों को प्रेरित करने में अहम् भूमिका अदा की है ।

मैं स्वर्गीय दिनकर जी को अपनी ऋद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके जन्मशताब्दी समारोह के सफल आयोजन और स्मारिका के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ तथा आयोजकों का बधाई देता हूँ ।

(राम विलास पासवान)

संसद सदस्या (राज्य सभा)
अध्यक्षा
संसदीय स्थायी समिति
गृह मंत्रालय
भारत सरकार
नई दिल्ली-110 001

सत्यमेव जयते

सुषमा स्वराज
Sushma Swaraj

Member of Parliament (Rajya Sabha)
Chairperson
Parliamentary Standing Committee
Ministry of Home Affairs
Govt. of India
New Delhi-110001

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि ***राष्ट्रकवि रामधारी सिंह "दिनकर" स्मृति न्यास*** द्वारा ***राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर जी*** का जन्मशताब्दी समारोह दिनांक *21* ***सितम्बर*** *2008* को मावलंकर सभागार, नई दिल्ली में मनाया जा रहा है । श्री रामधारी सिंह दिनकर यथार्थ के धरातल पर वीर रस से ओतप्रोत राष्ट्रवादी कवि थे जिनकी रचनाओं से अन्याय एवं शोषण के खिलाफ संघर्ष लड़ने की अद्‌भुत शक्ति पाठकों को मिलती है । ऐसे महान कवि का सम्मान एवं उनकी रचनाओं को जन-जन तक पहुंचाने हेतु राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर स्मृति न्यास द्वारा उनकी जन्मशताब्दी पर स्मारिका का प्रकाशन भी किया जा रहा है, निश्चय ही इसके लिये न्यास से जुड़े सभी लोग प्रशंसा के पात्र हैं ।

मैं इस सराहनीय कार्य हेतु स्मृति न्यास के सभी कार्यकर्ताओं को बधाई देती हूं और स्मारिका की सफलता हेतु अपनी अनेकानेक शुभकामनायें प्रेषित करती हूं ।

[सुषमा स्वराज]

Office : 123-A, Parliament House Annexe, New Delhi-110001 • Tel. : 91-11-23034128, 23011992
Residence : 8, Safdarjung Lane, New Delhi-110011 • Tel. : 91-11-23794344, 23794044, 23793444

मीरा कुमार
MEIRA KUMAR

सत्यमेव जयते

सामाजिक न्याय और
अधिकारिता मंत्री
भारत सरकार
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-११०००१
MINISTER OF SOCIAL
JUSTICE & EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA
SHASTRI BHAWAN, NEW DELHI-110001

6 अगस्त, 2008

संदेश

पराक्रम और शौर्य के अमर गायक दिनकर राष्ट्रीय अस्मिता और स्वाभिमान के अपने समय के प्रखरतम स्वर थे । उनके समकालीन शीर्ष राष्ट्रवादी कवियों में उनके स्वर की ज्वाला अलग से पहचानी जा सकती है । विदेशी दासता की बेड़ियों में जकड़े भारतीय समाज की दुर्दशा से वे भीतर से आहत थे । सामाजिक-आर्थिक शोषण, दूध को तरसते, भूख से बिलबिलाते निर्धन-असहाय बच्चों के मर्मांतक रुदन के विरुद्ध भी वे आवाज बुलन्द करते रहे और निरंकुश अंग्रेज प्रभुओं के विरुद्ध बगावत पर भी आमादा थे । वस्तुतः यही दिनकर की काव्यधारा का मुख्य स्वर है, जो क्रान्तिकारियों का हुंकार बना गया ।

स्मरणीय है कि स्वर्गीय बाबू जगजीवन राम जी से उनके गहरे आत्मीय संबंध थे । वे अक्सर बड़े स्नेह और आदर से उनकी चर्चा किया करते थे । उनके जन्मशताब्दी समारोह की सफलता के लिए हार्दिक मंगलकामनाएं ।

शुभेच्छु,

मीरा कुमार

मीरा कुमार (श्रीमती)

सत्यमेव जयते
अम्बिका सोनी
Ambika Soni

पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री
भारत सरकार
नई दिल्ली-110 115
MINISTER OF TOURISM & CULTURE
GOVERNMENT OF INDIA
NEW DELHI-110 115

संदेश

राष्ट्रकवि दिनकर राष्ट्रीय चेतना, स्वाभिमान एवं संवेदना के ओजस्वी कवि थे। उनकी रचना को पढ़कर अन्याय एवं शोषण के खिलाफ संघर्ष करने की शक्ति मिलती है।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास द्वारा दिनांक 21.09.2008 को दिनकर जन्मशताब्दी समारोह का आयोजन एवं इस सुअवसर पर स्मारिका "हुंकार हूँ मैं" का प्रकाश्न करना एक प्रशंसनीय कार्य है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह समारोह एवं प्रकाशित होने वाली स्मारिका न केवल आज की एवं आने वाली पीढ़ी को दिनकर की रचना से अवगत कराएंगे।

इस समारोह एवं स्मारिका के सफल आयोजन/प्रकाशन हेतु मेरी शुभ कामनाएँ।

(अम्बिका सोनी)

cm/apro/10072008

नरेन्द्र मोदी
मुख्यमंत्री, गुजरात

संदेश

भारतीयता एवं राष्ट्रभाषा एक दूसरे से जुडे हुए है । राष्ट्रीय एकता के लिये एवं शोषण, अन्याय के खिलाफ लेखनी के माध्यम से भाव संवेदनायें उभरती है ।

आजादी के आंदोलन में प्रखर राष्ट्रवादी और दूरद्रष्टा के रूप में कार्यरत ओजस्वी राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर की जन्म शताब्दी के शुभ अवसर पर **राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर स्मृति न्यास** द्वारा **'हूंकार हूँ मै'** स्मारिका प्रकाशित हो रही है यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई ।

स्मारिका के प्रकाशन की सफलता के लिये हार्दिक शुभकामना प्रेषित करता हुं ।

आपका,

(नरेन्द्र मोदी)

नरेन्द्र मोदी
मुख्य मंत्री, गुजरात राज्य

शीला दीक्षित
मुख्यमंत्री

सत्यमेव जयते

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार
दिल्ली सचिवालय, आई.पी. एस्टेट,
नई दिल्ली – 110002

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि **राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास** आगामी 21 सितम्बर, 08 को **राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' जन्मशताब्दी समारोह** का आयोजन करने जा रहा है। इस अवसर पर एक **स्मारिका** का प्रकाशन भी किया जा रहा है।

कविता संवेदनाओं को जागृत करने और अभिव्यक्ति को सरल बनाने का माध्यम है। कविता से भाषा का लालित्य भी प्रखर होता है। कवि की रचनाओं में जो सद्भाव, सहयोग, सरसता, समानता और सहजता के बिन्दु मुखरित होते हैं उनसे समस्त मानवता को लाभ मिलता है। आशा है स्मारिका राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' जी के कृतित्व एवं व्यक्तित्व की विस्तृत जानकारी लोगों तक पहुँचाने में उपयोगी सिद्ध होगी।

समारोह के सफल आयोजन तथा स्मारिका के सफल प्रकाशन हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

शीला दीक्षित

(शीला दीक्षित)

फोन : ऑफिस - 3392020, 3392030 फैक्स : 3392111

शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री

मध्यप्रदेश शासन
भोपाल – 462004

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर स्मृति न्यास, दिल्ली द्वारा दिनकर जी के जन्मशताब्दी वर्ष पर स्मारिका "हुंकार हूं मैं" का प्रकाशन किया जा रहा है।

राष्ट्रीय चेतना, स्वाभिमान और संवेदना के ओजस्वी कवि दिनकर जी का आज़ादी की लड़ाई में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

उनकी आज़ादी की हुँकार ने जहाँ लोगों को संघर्ष करने के लिये जोशो-जुनून से भर दिया, वहीं "सिहासन खाली करो कि जनता आती है" जैसी रचना ने ब्रिटिश साम्राज्य को चेताया। राष्ट्रवादी रचनाओं के साथ-साथ अन्याय और शोषण के विरूद्ध संघर्ष करने की ताकत भी उनकी रचनाओं से मिलती है।

भारतीय जनमानस को अपनी देशप्रेम की रचनाओं से उद्वेलित करने वाले आदरणीय दिनकर जी के जन्म शताब्दी वर्ष पर मैं उन्हें श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूं। मैं देश की जनता का आव्हान करता हूं कि जिस तरह आज़ादी के लिये संघर्ष करते हुए अनेकों भारतीय शहीद हो गये उसी तरह आज हम अपने देश और प्रदेश का गौरव बढ़ाने के लिये जिये तथा विकास और समृद्धि के लिये प्रयत्न करें।

शुभकामनाओं सहित।

(शिवराजसिंह चौहान)

सत्यमेव जयते

डॉ. भीष्म नारायण सिंह
पूर्व राज्यपाल

संदेश

दिनकर जी हिन्दी साहित्य हीं नहीं समस्त देश के अग्रणीय कवि तथा चिन्तक थे। आधुनिक हिन्दी कविता में उनका अद्वितीय स्थान था। कहा जा सकता है कि वीर रस का इतना बड़ा प्रतिभावान महाकवि अपने समय में कोई दूसरा नहीं था। वे यथा नाम तथा गुणा थे। सूर्य की तरह के तेजस्वी, ओजस्वी एवम् अग्रणी कवि थे। उनकी कविताएं आग उगलती थीं। मेरे नगपति मेरे विशाल जैसी कविताएं जिन्होंने समस्त राष्ट्र में चेतना का प्रसार किया कम लिखी गयी हैं। रेणूका, हुंकार जैसी प्रांणवान कविता दिनकर ही लिख सकते थे।

वे कवि ही नहीं महाकवि भी थे। चिन्तक ही नहीं महान चिन्तक भी थे। संस्कृति के चार अध्याय जैसी कृति दिनकर ही लिख सकते थे। आज जिन परिस्थितियों में देश गुजर रहा है उसमें दिनकर की प्रासंगिकता और अधिक महत्वपूर्ण लगती है। राष्ट्र को नई चेतना चाहिए, युवा वर्ग को एक नई दिशा। दिनकर समय के साथ पुराने नहीं और अधिक नये हो गये हैं। उनकी ओजस्वी कविताएं देश में नई चेतना का प्रसार कर सकती हैं। दिनकर को याद करने का अर्थ है अपने गौरवशाली अतीत को याद करना।

भारत की नई पीढ़ी ऊर्जावान है, उसे दिनकर जैसे महान कवि का मार्गदर्शन एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगा। दिनकर एक विशेष क्षेत्र के कवि नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीयता के अस्मिता के पूर्ण महाकवि भी थे। आज की पीढ़ी दिनकर से बहुत कुछ सीख सकती है। उनकी इस गौरवशाली जन्मशताब्दी पर सारा राष्ट्र उन्हें नमन करता है। राष्ट्रीय स्तर पर भी दिनकर की जयन्ती मनायी जानी चाहिए। वे इतने बड़े कवि थे कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी उनकी स्मृति में कुछ किया जाए तो वो भी कुछ कम ही होगा।

उनकी पुन्य स्मृति को नमन!

डॉ भीष्म नारायण सिंह
पूर्व राज्यपाल

सी-83, उपकार एपार्टमेन्ट, मयूर विहार फैज़-1, दिल्ली-110091
दूरभाष : 2712322 फैक्स : 2714422

3, कृष्ण मेनन मार्ग,
नई दिल्ली – 110011
फोन न0 23017172/6035

सत्यमेव जयते

जार्ज फर्नाडिस
संसद सदस्य
(लोक सभा)

संदेश

यह अति प्रसन्नता की बात है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह "दिनकर" जन्म शताब्दी समारोह जो 21 सितम्बर 2008 को नई दिल्ली स्थित मावलंकर सभागार मे आयोजित है, के अवसर पर **"हुंकार हूँ मैं"** नामक स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है। इस संसार मे कुछ ही ऐसे लोग है जिन्हें शताब्दियों तक याद किया जाएगा उनमे से एक राष्ट्रकवि रामधारी सिंह "दिनकर" है। श्री दिनकर जी की कृतियाँ राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभक्ति, संस्कृति और सभ्यता के उन्नयन के साथ साथ धर्म और नैतिकता के सरल रूप मे अभिव्यक्ति के लिए जानी जाती है। श्री दिनकर जी की रचनाएँ स्वाधीनता संग्राम के दौर में सम्पूर्ण राष्ट्र के स्वतन्त्रता सेनानियों को प्रेरित करती थी तो दूसरी तरफ अन्याय एंव शोषण के खिलाफ संघर्ष करने की अदभूत शक्ति भी देती थी। स्वाधीनता संग्राम के जमाने मे श्री दिनकर जी की वीर–रस की कविताओं के प्रति नौजवानों मे दिवानगी छाई हुई थी। राष्ट्रकवि श्री दिनकर जी ने शिक्षा, भाषा एंव साहित्य के क्षेत्र मे जो अपनी अमिट छाप छोडी है उसे कदापि नही भूला जा सकता है। श्री दिनकर जी ने संस्कति के चार अध्याय से लेकर उर्वशी, कुरूक्षेत्र, हुंकार आदि ग्रंथों मे भारतीय संस्कृति एंव उसके प्राचीन गौरव का सफतलापूर्वक चित्रण किया है। इनकी रचनाओं मे संवेदनाओं के दर्शन बडी आसानी से किये जा सकते है। ऐसे महान कवि का सम्मान एंव जनमानस के बीच उनकी रचनाओं को फैलाने मे श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास का संकल्प अत्यन्त ही सराहनीय रहा है।

मैं इस सराहनीय कार्य हेतु श्री नीरज सहित न्याय से जुडे लोगो को बधाई देता हूँ तथा इस अवसर पर प्रकाशित की जा रही स्मारिका के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

शुभकामनाओं सहित ।

भवदीय

(जार्ज फर्नांडीस)

डॉ० रत्नाकर पाण्डेय
पूर्व संसद सदस्य (राज्यसभा)
सदस्य : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी

सत्यमेव जयते

फ्लैट नं० 2-4, प्लाट नं० 113-114
कृष्ण कुंज, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110092
फोन : 011-22051017, 011-22051018

संदेश

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास द्वारा दिनकर जन्मशताब्दी समारोह का आयोजन दिनांक 21 सितम्बर, 2008 को मावलंकर सभागार, नई दिल्ली में किया जा रहा है तथा इस अवसर पर स्मारिका "...हुंकार हूँ मैं" प्रकाशित की जा रही है।

दिनकर स्मृति न्यास से मैं लगभग ग्यारह वर्षों से जुड़ा हुआ हूँ और न्यास का संरक्षक होने के नाते दिनकर जन्मशताब्दी के सुअवसर पर मनसा वाचा कर्मणा हमारा संकल्प कर्म यह बन गया है कि स्वतंत्रता के बाद की पीढ़ी के लिए दिनकर जन्मशताब्दी समारोह रचनात्मक प्रेरणा देने के लिए शौर्य, पौरुष, वीरता का रचनात्मक ज्ञानबोध देने का धरातल, कर्मयोग के रूप में बनने की प्रेरणा का प्रतीक समारोह बने। दिनकर जी "सिंहासन खाली करो कि जनता आती है" का शंखनाद करने वाले ऐसे कवि थे जो कहते थे कि "जागता तभी जहान उसे जब विपत जगाती है।" दिनकर पलायन में नहीं, डटकर मुकाबला करने में विश्वास करते थे और उन्होंने कहा था कि "जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर जो उससे डरते हैं, उनका है जो चरण रोक निर्भय होकर लड़ते हैं।"

रेशमी नगर दिल्ली में रचने बसने की उद्दाम लालसा भी दिनकर को धरती के कवि सपूत के कर्मठ कर्तव्य-बोध से डिगा नहीं पाई। दिनकर ने कहा "बेजान बूतों के कारीगर कुछ होश करो, देखो पत्थर में जब तक प्राण नहीं भरते सौगंध उसी की तुम्हें न तुम संतोष करो।"

दिनकर इतिहास और परम्परा के संदर्भ में युग चेतना को झंकृत करने वाले ऐसे कवि थे, जिन्होंने केवल समय की नब्ज को ही नहीं पहचाना बल्कि जनमानस की अनुभूतियों को कविता के माध्यम से आत्मसात करके अपनी रचनाओं को हिंदी की गीता के कर्मयोग का विवेकपूर्ण संयोजन करके मानवता के स्वाभिमान, शौर्य को हमारे धृति ध्यान और स्मृतियों की रक्त-शिराओं में शब्द-ब्रह्म के रूप में कविः मनीषी परिभूः स्वयंभू बनाकर हमेशा-हमेशा के लिए उतार दिया। मानवता की शुचि दिनकर की रचनात्मक शक्ति है। उन्होंने ऐसी कविताएँ रची हैं, जो सिद्धांत और दर्शन बनकर हमारे जीव में शीतल सुरभित मंद बयार का प्रवाह जनतंत्र के संघर्ष की तप्त तीव्र दुर्गंधपूर्ण वायुमण्डल से मुक्त करती हैं। वीर योगी भाँति दिनकर ने स्वाभिमानी भारत की हिन्दी कविता का अजश्र सृजन किया है। दिनकर जैसा न कोई था, न कोई है और न कोई होगा। राष्ट्रकवि बनने की होड़ में दिनकर नहीं थे। उनकी रचनात्मक शक्ति ऐसी थी, है और रहेगी जो उन्हें देवनागरी लिपि और हिन्दी के विश्वकवि के रूप में प्रतिष्ठित कर चुकी है। दिनकर की कविताओं का शृंगार विलासिता का काव्य नहीं है। दिनकर का पौरुषोचित काव्य हुंकार चारण वंदना नहीं है। दिनकर ने वीरता और शृंगार के माध्यम से काव्य-रस का शृंगारिक एवं वीरोचित ऐसा समन्वय साहित्य में किया है, जो विश्व साहित्य में कोई कवि नहीं कर सका। उन्हीं कवियों की काव्य पंक्तियाँ याद रहती हैं, जो हमारे जीवन के प्रवाह को रोककर नई दिशा देती हैं। दिनकर हिन्दी काव्य को नया मोड़ देने वाले भगीरथ थे, जिनकी जन्मशताब्दी पूरी दुनिया में विश्व-मानवता को कर्मयोगी काव्य का संदेश देने में सफल होगी।

(डॉ० रत्नाकर पाण्डेय)

का0 : 23012411
23019080
ऐक्स.: 481

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी

24 अकबर रोड़, नई दिल्ली–110011

आर० के० धवन, संसद सदस्य
प्रभारी, हिमाचल प्रदेश एवं उत्तराखण्ड
सदस्य, कांग्रेस कार्यसमिति (स्थायी आमंत्रित)

संदेश

यह हर्ष का विषय है कि राष्ट्र कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की जन्म शताब्दी समारोह का आयोजन राष्ट्र कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास द्वारा किया जा रहा है। इस अवसर पर 'हुँकार हूँ मैं'' शीर्षक से स्मारिका का प्रकाशन किया जाना भी सर्वथा उचित एवं तार्किक है।

दिनकर जी हिन्दी साहित्य के एक अनमोल रत्न थे एवं उनका लेखन सदैव प्रेरणादायक बना रहेगा। उनकी अभिव्यक्ति की शैली अत्यधिक प्रभावशाली थी एवं जो संदेश वह देना चाहते थे अपने साहित्य के द्वारा अत्यधिक निपूणतापूर्वक देने की क्षमता रखते थे। इसी कारण वह साहित्यकारों के अग्रणी रहे। उनकी विलक्षण प्रतिभा का सम्मान करने हेतू तत्कालीन सरकार द्वारा उन्हे राज्य सभा का सदस्य मनोनीत किया गया था जिसका निर्वाह उन्होने अत्यधिक कुशलता पूर्वक किया। एक ऋणी राष्ट्र उनका नाम हमेशा सम्मान पूर्वक लेता रहेगा।

मैं समारोह की सफलता की कामना करते हुए स्व. राष्ट्र कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' को अपनी विनम्र श्रृद्धाजंली अर्पित करता हूँ।

6 अगस्त, 2008

(आर. के. धवन)

निवास : 141, गोल्फ लिंक्स, नई दिल्ली–110003, दूरभाष : 24624262, 24693223

सत्यमेव जयते

विजय कृष्ण

सांसद (लोकसभा)

संदेश

यह जानकर आपार प्रसन्नता हुई कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास द्वारा दिनकर जी के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने हेतु दिनकर जन्मशताब्दी समारोह मनाया जा रहा है व इस उपलक्ष्य पर एक स्मारिका 'हुंकार हूँ मैं' प्रकाशित की जा रही है।

हृदय की सहज प्रेरणा से अनुप्रेरित, स्वानुभूति एवं सत्य चिंतन व मनन के परिणामस्वरूप उनका काव्य देश एवं काल की सीमाओं से मुक्त है। साहित्य के आकाश में उनकी प्रतिभा सदैव प्रकाशमान रहेगी। उन्हीं के शब्दों में-

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।

मैं राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' जन्मशताब्दी समारोह के सफल आयोजन व प्रकाशित हो रही स्मारिका - 'हुंकार हूँ मैं' के सफल एवं सुरुचिपूर्ण प्रकाशन हेतु अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

(विजय कृष्ण)

सदस्य, आश्वासन समिति (लोकसभा)
सदस्य, सलाहकार समिति,
मानव संसाधन विकास विभाग (लोकसभा)

सदस्य, प्राक्कलन समिति (लोकसभा)
सदस्य, स्थाई समिति, वित्त (लोकसभा)

संसद भवन कार्यालय – 011–23034816
29, केनींग लेन (पं. रविशंकर शुक्ला लेन), नई दिल्ली–110001
फोन : 011–23382282, 9868180770, 9431075248

प्रदेश राजद कार्यालय
वीरचन्द पटेलपथ, पटना
फोन : 0612–2211830, 2204795

किरण माहेश्वरी
राष्ट्रीय अध्यक्ष, भाजपा मोर्चा
सांसद (लोक सभा)

सत्यमेव जयते

457, अम्बामाता स्कीम
उदयपुर–313001 (राजस्थान)
दूरभाष : +91–294–2431000, 2434400
E-mail : saikiran1@gmail.com

संदेश

महोदय,

राष्ट्र कवि रामधारी सिंह'दिनकर' राष्ट्रीयता के सशक्त स्वर थे। उनकी कविताऐं आज भी देशभक्ति, शोर्य और स्वाभिमान की प्रेरणा का स्त्रोत है। उनकी कृतियां पाठको को भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओं पर गर्व करने का साहस देती है।

दिनकर जन्मशती वर्ष उनके प्रति राष्ट्र की कृतज्ञता व्यक्त करने का पावन अवसर है। दिनकर स्मृति न्यास श्रद्धेय दिनकर जी की साहित्य यात्रा को अमिट बनाने एवं अधिकाधिक नागरीकों तक पहूंचाने का सराहनीय कार्य कर रहा है। हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा के रुप में स्थापित करवा कर ही हम देश के स्वाभिमान को बनाऐं रख सकते है।

' हुंकार हूँ मैं ' स्मारिका समाज को दिनकर जी के विशाल रचना संसार एवं राष्ट्रीयता से परिपुर्ण विचारों से अवगत करवाने का सराहनीय प्रयास है। मैं जन्मशती समारोह एवं स्मारिका प्रकाशन की सफलता की मंगल कामना करती हूँ।

धन्यवाद।

आपकी स्नेहांकाक्षी

(किरण माहेश्वरी)

सदस्य गृह कार्य संबंधी संसदीय स्थायी समिति
सदस्य संसदीय परामर्शदात्री समिति, रक्षा मंत्रालय

सत्यमेव जयते

नवीन जिन्दल
संसद सदस्य
(लोक सभा)

संदेश

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' भारत के स्वतंत्रता संग्राम में अपनी कविताओं के माध्यम से महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले राष्ट्रकवि थे। उनकी जन्म शताब्दी के अवसर पर राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास द्वारा "हूंकार हूं मैं" स्मारिका प्रकाशित की जा रही है, जो अत्यंत सराहनीय है।

वीर रस के कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' जी ने आजादी से पूर्व जन–जन में देशभक्ति की भावना को कूट–कूट कर भरने के लिए कई कविताएं लिखी। उनकी लिखी हुई कविताएं आज भी देशभक्ति का संचार कर रही हैं। मुझे याद आती हैं उनकी लिखी हुई पंक्तियां –

" वैराग्य छोड बाहों की विभा संभालो, चट्टानों की छाती से दूध निकालो
है रूकी जहां भी धार शिलाएं तोड़ो, पियुष चंद्रमाओं को पकड़ निचौड़ो....."

ऐसी कई रचनाओं के माध्यम से उन्होंने पूरी मानवता में नए जोश और उत्साह का संचार किया। इसके अलावा वे तीन बार राज्यसभा से सांसद चुने गए और 1959 में उन्हें उनकी सक्रिय कार्यशीलता के लिए पद्म भूषण पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास की साहित्यिक, सांस्कृतिक व सामाजिक उत्थान के लिए कटिबद्धता एवं समपर्ण सराहनीय व अनुकरणीय है। मैं, श्री दिनकर जी के शताब्दी वर्ष के अवसर प्रकाशित स्मारिका "हूंकार हूं मैं" के सफल प्रकाशन की कामना करता हूं और संस्था के पदाधिकारियों, कार्यकर्ताओं व स्मारिका की सम्पादकीय टीम को बधाई देता हूं।

नवीन जिन्दल

(नवीन जिन्दल)

171, साउथ एवेन्यू, नई दिल्ली–110 011 • दूरभाष : 23012253 • फैक्स : 23012213
जिन्दल हाउस, मोहन नगर, पीपली रोड़, क्रुकक्षेत्र (हरियाणा) – 136 118 • टेलीफैक्स : 01744–222 223
ई–मेल : naveen@naveenjindal.com

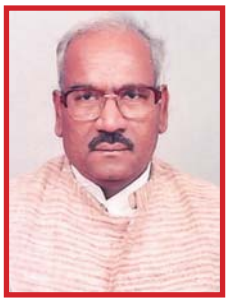

वशिष्ठ नारायण सिंह
पूर्व संसद सदस्य (राज्यसभा)

191, साउथ एवेन्यू,
नई दिल्ली – 110011
दूरभाष : 011– 23795537

सत्यमेव जयते

संदेश

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का व्यक्तित्व असाधारण था। उन्होंने अपने राष्ट्रीय दायित्व का निर्वहन समकालीन परिस्थिति के अनुसार शानदार ढंग से किया। स्वाधीनता की लड़ाई लड़ने वालों के लिए प्रेरणादायी भूमिका निभायी। उनकी रचनाएँ पद्य की हो या गद्य की हो, इसके माध्यम से छात्र, नौजवान, तथा देश के लाखों लोगों को प्रभावित किया तथा स्वाधीनता आंदोलन में सक्रिय रूप से प्रेरक तत्व का कार्य किया।

संस्कृति के चार अध्याय, रश्मिरथी, परशुराम की प्रतीक्षा, कुरुक्षेत्र, उर्वशी, हुँकार और जीवन की ऐसी रचनाएँ, जिसे काल की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता है। उनकी रचनाओं की प्रासंगिकता आज भी यथावत् है।

राष्ट्रकवि दिनकर के जन्मशताब्दी वर्ष के अवसर पर आयोजित हो रहे समारोह की सफलता एवं स्मारिका के सफल प्रकाशन के प्रति मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

राष्ट्रकवि दिनकर ने कहा है:

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

वशिष्ठ नारायण सिंह

(वशिष्ठ नारायण सिंह)

ललितेश्वर प्रसाद शाही
पूर्व केन्द्रीय मंत्री (शिक्षा)

सत्यमेव जयते

763, आर.के.पुरम, सेक्टर–8
नई दिल्ली–110022
फोन न0 : 011–26081570

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास द्वारा राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' जन्मशताब्दी समारोह का भव्य आयोजन किया जा रहा है एवं इस अवसर पर स्मारिका "...हुंकार हूँ मैं।" का प्रकाशन किया जा रहा है।

लेखनी के माध्यम से समाज पर अपनी अमिट छाप छोड़ने वाले दिनकर जी ने हिन्दी साहित्य के आकाश में सर्वदा अपने नाम की महत्ता बनाए रखी। उन्होंने अपनी जीवंत संवेदना के माध्यम से गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में उत्कृष्ट कोटि के साहित्य का सृजन है।

राष्ट्रकवि दिनकर जी की स्मृति को श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए मैं इस समारोह तथा प्रकाशित हो रही स्मारिका के सफल प्रकाशन के लिए हार्दिक शुभ कामनाएँ।

ललितेश्वर प्रसाद शाही

(ललितेश्वर प्रसाद शाही)

सत्यमेव जयते

DR. ARUN KUMAR
Ex. MP (Lok Sabha)

208, North Avenue
New Delhi
Ph. 23093439

संदेश

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर शाश्वत जीवन के प्रतीक है। दिनकर अपने आप में प्रकृति के सबसे महत्वपूर्ण उपादेय के रूप में स्वीकार्य हैं। सिमरिया (बेगुसराय) में जन्मा यह बिन्दु, कब क्षितिज का विस्तार लिया, किसी को पता भी नहीं चला। मानव जाति सम्पूर्ण क्षितिज में आज दिनकर को खोज रहा है। वैज्ञानिक दिनकर की शोध में अक्षय ऊर्जा के रूप में पाकर संतुष्ट है, उसी तरीके से साहित्य प्रेमी साहित्य के इस ऊर्जा को प्राप्त कर गौरवान्वित हैं।

नीरज जो इस न्यास के संकल्प को लेकर आगे बढ़े हैं, उसके प्रथम कार्यक्रम में नालन्दा कॉलेज के एडवर्ड सभागार में मैं शामिल हुआ था, तब मुझे नहीं लगा था कि यह कार्यक्रम राष्ट्रीय स्वरूप को प्राप्त करेगा। जिस तरह रामधारी सिंह 'दिनकर' जीवन के शाश्वत सत्य हैं; अब मुझे इस कार्यक्रम के दौरान लगने लगा है कि जो भी व्यक्ति दिनकर के इस समारोह से समर्पित भाव से जुड़ेगा, वह भारतीय संस्कृति, राजनीति, अर्थतंत्र, सामाजिक व्यवस्था तथा जीवन मूल्यों आदि का अंग बनकर नव क्षितिज का विस्तार लेगा।

दिनकर साहित्य उन मूल्यों के लिए समर्पित है, जहाँ भारतीय समाज दुनिया का प्रेरक तत्व बना रहे। एक संदर्भ की चर्चा मैं यहाँ करना चाहूँगा कि ऐतिहासिक लाल किला के कवि सम्मेलन का उद्घाटन करने हेतु भारत के प्रथम प्रधान मंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू जब मंच पर चढ़ रहे थे तो लड़खड़ा गए, तब राष्ट्रकवि दिनकर ने पीछे से उन्हें थाम लिया। इस पर नेहरूजी ने कहा, दिनकरजी आपने अच्छा किया। जवाब में दिनकरजी ने कहा जब-जब राजनीति लड़खड़ाती है, साहित्य उसे आगे बढ़कर थाम लेता है। नेहरूजी झेप गए और आगे बढ़ गए।

काश! आज के राजनीतिज्ञ इस भाव को समझ पाते और विश्व मानवता का चेतना केन्द्र भारत, मंडल, कमंडल और भूमंडल के सीमित राजनीति से बाहर निकलकर अपने पुरखों के उस इतिहास को संबल देता।

न्यास के सृजन के इस अभियान के लिए सभी आयोजकों को हृदय से बधाई।

राष्ट्रकवि दिनकर ने कहा है:

कुछ समझ नहीं पड़ता रहस्य ये क्या है, जाने भारत में बहती कौन हवा है।
गमलों में हैं जो खड़े सुरम्य सुदल हैं, धरती पर के ही पेड़ दीन दुर्बल हैं ।
जब तक हैं ये वैषम्य समाज सड़ेगा, किस तरह एक होकर ये देश रहेगा ।।

31/01

(डॉ. अरुण कुमार)

पंडित नेहरू की नज़र में 'संस्कृति के चार अध्याय'

मेरे मित्र और साथी दिनकर ने अपनी पुस्तक के लिए जो विषय चुना है, वह बहुत ही मोहक और दिलचस्प है। यह ऐसा विषय है, जिससे, अक्सर, मेरा अपना मन भी ओतप्रोत रहा है और मैंने जो कुछ लिखा है, उस पर इस विषय की छाप, आप-से-आप, पड़ गयी है। अक्सर मैं अपने आप से सवाल करता हूँ, भारत है क्या? उसका तत्त्व या सार क्या है? वे शक्तियाँ कौन-सी हैं, जिनसे भारत का निर्माण हुआ है तथा अतीत और वर्त्तमान विश्व को प्रभावित करनेवाली प्रमुख प्रवृत्तियों के साथ उनका क्या सम्बन्ध है? यह विषय अत्यन्त विशाल है, और उसके दायरे में भारत से बाहर के तमाम मानवीय व्यापार आ जाते हैं। और मेरा ख्याल है कि किसी भी व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह इस सम्पूर्ण विषय के साथ अकेला ही न्याय कर सके। फिर भी, इसके कुछ खास पहलुओं को लेकर उन्हें समझने की कोशिश की जा सकती है। कम-से-कम, यह तो सम्भव है ही कि हम अपने भारत को समझने का प्रयास करें, यद्यपि, सारे संसार को अपने सामने न रखने पर भारत-विषयक जो ज्ञान हम प्राप्त करेंगे, वह अधूरा होगा।

संस्कृति है क्या? शब्दकोश उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि "संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं, उनसे अपने आप को परिचित करना संस्कृति है।" एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है कि "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।" यह "मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि" है। यह "सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।" इस अर्थ में, संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर, संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्त्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिये हैं।

इस नक्शे में भारत का स्थान कहाँ पर है? कुछ लोगों ने हिन्दू-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति और ईसाई-संस्कृति की चर्चा की है। ये नाम मेरी समझ में नहीं आते, यद्यपि यह सच है कि जातियों और राष्ट्रों की संस्कृतियों पर बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनों का असर पड़ा है। भारत की ओर देखने पर मुझे लगता है, जैसा कि दिनकर ने भी जोर देकर दिखलाया है, कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व, मोहनजोदड़ो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान् सभ्यता तक पहुँचता है। दूसरी ओर, इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत ही गहरी छाप है, जो भारत में मध्य एशिया से आये थे। पीछे चलकर, यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आनेवाले तथा फिर समुद्र की राह से पश्चिम से आनेवाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार, हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वयन तथा नये उपकरणों को पचा कर आत्मसात् करने की अद्‌भुत योग्यता थी। जब तक इसका यह गुण शेष रहा, यह संस्कृति जीवित और गतिशील रही। लेकिन, बाद में आकर इसकी गतिशीता जाती रही, जिससे यह संस्कृति जड़ हो गयी और उसके सारे पहलू कमजोर पड़ गये। भारत के समग्र इतिहास में हम दो परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों को काम करते देखते हैं। एक तो वह शक्ति है जो बाहरी उपकरणों को पचाकर समन्वय और सामंजस्य पैदा करने की कोशिश करती है, और दूसरी वह जो विभाजन को प्रोत्साहन देती है; जो एक बात को दूसरी से अलग करने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इसी समस्या का, एक भिन्न प्रसंग में, हम आज भी मुकाबला कर रहे हैं। आज भी कितनी ही बलिष्ठ शक्तियाँ हैं, जो केवल राजनैतिक ही नहीं, सांस्कृतिक एकता के लिए भी प्रयास कर रही हैं। लेकिन, ऐसी ताकतें भी हैं, जो जीवन में विच्छेद डालती हैं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव बढ़ावा देती हैं।

अतएव, आज हमारे सामने जो प्रश्न है, वह केवल सैद्धान्तिक नहीं है, उसका सम्बन्ध हमारे जीवन की सारी प्रक्रिया से है और उसके समुचित निदान और समाधान पर ही हमारा भविष्य निर्भर करता है। साधारणतः, ऐसी समस्याओं

को सुलझाने में नेतृत्व देने का काम मनीषी करते हैं। किन्तु, वे हमारे काम नहीं आये। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो इस समस्या के स्वरूप को ही नहीं समझते। बाकी लोग हार मान बैठे हैं। वे विफलता-बोध से पीड़ित तथा आत्मा के संकट से ग्रस्त हैं और वे जानते ही नहीं कि जिन्दगी को किस दिशा की ओर मोड़ना ठीक होगा।

बहुत-से मनीषी मार्क्सवाद और उसकी शाखाओं की ओर आकृष्ट हुए और इसमें कोई सन्देह नहीं कि मार्क्सवाद ने ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण उपस्थित करके समस्याओं पर सोचने और उन्हें समझने के काम में हमारी सहायता की। लेकिन, आखिर को, वह भी संकीर्ण मतवाद बन गया और जीवन की आर्थिक पद्धति के रूप में उसका चाहे जो भी महत्त्व हो, हमारी बुनियादी शंकाओं का समाधान निकालने में वह भी नाकामयाब है। यह मानना तो ठीक है कि आर्थिक उन्नति जीवन और प्रगति का बुनियादी आधार है, लेकिन जिन्दगी वहीं तक खत्म नहीं होती। वह आर्थिक विकास से कहीं ऊँची चीज है। इतिहास के अन्दर हम दो सिद्धान्तों का काम करते देखते हैं। एक तो सातत्य का सिद्धान्त है और दूसरा परिवर्तन का। ये दोनों सिद्धान्त परस्पर-विरोधी से लगते हैं, परन्तु, ये विरोधी हैं नहीं। सातत्य के भीतर भी परिवर्तन का अंश है। इसी प्रकार पविर्तन भी अपने भीतर सातत्य का कुछ अंश लिये रहता है। असल में, हमारा ध्यान उन्हीं परिवर्तनों पर जाता है, जो हिंसक क्रान्तियों या भूकम्प के रूप में अचानक फट पड़ते हैं। फिर भी, प्रत्येक भूगर्भ-शास्त्री यह जानता है कि धरती की सतह में जो बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं, उनकी चाल बहुत धीमी होती है और भूकम्प में हानेवाले परिवर्तन उनकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ समझे जाते हैं। इसी तरह, क्रान्तियाँ भी धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तन और सूक्ष्म रूपान्तरण की बहुत लम्बी प्रक्रिया का बाहरी प्रमाण मात्र होती हैं। इस दृष्टि से देखने पर, स्वयं परिवर्तन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो परम्परा के आवरण में लगातार चलती रहती है। बाहर से अचल दीखनेवाली परम्परा भी, यदि जड़ता और मृत्यु का पूरा शिकार नहीं बन गयी है, तो धीरे-धीरे वह भी परिवर्तित हो जाती है।

इतिहास में कभी-कभी ऐसा भी समय आता है जब परिवर्तन की प्रक्रिया और उसकी तेजी कुछ अधिक प्रत्यक्ष हो जाती है। लेकिन, साधारणतः, बाहर से उसकी गति दिखायी नहीं देती। परिवर्तन का बाहरी रूप, प्रायः, निस्पन्द ही दीखता है। जातियाँ जब अगति की अवस्था में रहती हैं, तब उनकी शक्ति दिनोंदिन छीजती जाती है, उनकी कमजोरियाँ बढ़ती जाती हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी रचनात्मक कलाओं और प्रवृत्तियों का क्षय हो जाता है। तथा अक्सर, वे राजनैतिक दृष्टि से गुलाम भी हो जाती हैं।

सम्भावना यह है कि भारत में संस्कृति के सबसे प्रबल उपकरण आर्यों और आर्यों से पहले के भारतवासियों, खासकर, द्रविड़ों के मिलन से उत्पन्न हुए। इस मिलन, मिश्रण या समन्वय से एक बहुत बड़ी संस्कृति उत्पन्न हुई, जिसका प्रतिनिधित्व हमारी प्राचीन भाषा संस्कृति करती है।, संस्कृत और प्राचीन पहलवी, ये दोनों भाषाएँ एक ही माँ से मध्य एशिया में जनमी थीं, किन्तु, भारत में आकर संस्कृत ही यहाँ की राष्ट्रभाषा हो गयी। यहाँ संस्कृत के विकास में उत्तर और दक्षिण, दोनो ने योगदान दिया। सच तो यह है कि आगे चलकर संस्कृत के उत्थान में दक्षिणवालों का अंशदान अत्यन्त प्रमुख रहा। संस्कृत हमारी जनता के विचार और धर्म का ही प्रतीक नहीं बनी, वरन्, भारत की सांस्कृतिक एकता भी उसी भाषा में साकार हुई। बुद्ध के समय से लेकर अब तक संस्कृत यहाँ की जनता की बोली जानेवाली भाषा कभी नहीं रही है, फिर भी, सारे भारतवर्ष पर वह अपना प्रचुर प्रभाव डालती ही आयी है। कुछ दूसरे प्रभाव भी भारत पहुँचे और उनसे भी विचारों और अभिव्यक्तियों की नयी दिशाएँ प्राप्त हुईं।

काफी लम्बे इतिहास के अन्दर, भूगोल ने भारत को जो रूप दिया, उससे वह एक ऐसा देश बन गया, जिसके दरवाजे बाहर की ओर से बन्द थे। समुद्र और महाशैल हिमालय से घिरा होने के कारण, बाहर से किसी का इस देश में आना आसान नहीं था। कई सहस्त्राब्दियों के भीतर, बाहर से लोगों के बड़े-बड़े झुण्ड भारत में आये, किन्तु, आर्यों के आगमन के बाद से कभी भी ऐसा नहीं हुआ, जब बाहरी लोग बहुत बड़ी संख्या में भारत आये हों। ठीक इसके विपरीत, एशिया और यूरोप के आर-पार मनुष्यों के अपार आगमन और निष्क्रमण होते रहे; एक जाति दूसरी जाति को खदेड़ कर वहाँ खुद बसती रही और, इस प्रकार, जनसंख्या की बुनवावट में बहुत बड़ा परिवर्तन होता रहा। भारत में, आर्यों के आगमन के बाद, बाहरी लोगों के जो आगमन हुए, उनके दायरे बहुत ही सीमित थे। उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव तो पड़ा, किन्तु उससे यहाँ की बुनियादी जनसंख्या के स्वरूप में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आया। लेकिन, फिरभी, याद रखना चाहिए कि ऐसे कुछ परिवर्तन भारत में भी हुए हैं। सीथियन और हूण लोग तथा उनके बाद भारत आनेवाली कुछ अन्य जातियों के लोग यहाँ आकर राजपूतों की शाखाओं में शामिल हो गये और यह दावा करने लगे कि हम भी प्राचीन भारतवासियों की सन्तान हैं। बहुत दिनों तक बाहरी दुनिया से अलग रहने के कारण, भारत का स्वभाव भी और देशों से भिन्न हो गया। हम ऐसी जाति बन गये, जो अपने आप से घिरी रहती है। हमारे भीतर कुछ ऐसे रिवाजों का चलन हो गया, जिन्हें बाहर के लोग न जानते हैं, न समझ ही

पाते हैं। जाति-प्रथा के असंख्या रूप भारत के इसी विचित्र स्वभाव के उदाहरण हैं। किसी भी दूसरे देश के लोग यह नहीं जानते कि छुआछूत क्या चीज है तथा दूसरों के साथ खाने-पीने या विवाह करने में, जाति को लेकर, किसी को क्या उज्र होना चाहिए। इन सब बातों को लेकर हमारी दृष्टि संकुचित हो गयी। आज भारतवासियों को दूसरे लोगों से खुल कर मिलने में कठिनाई महसूस होती है। यही नहीं, जब भारतवासी भारत से बाहर जाते हैं, तब वहाँ भी एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से अलग रहना चाहते हैं। इममें से बहुत लोग इन सारी बातों को स्वयंसिद्ध मानते हैं और हम यह समझ ही नहीं पाते कि इन बातों से दूसरे देशवालों को कितना आश्चर्य होता है, उनकी भावना को कैसी ठेस पहुँचती है।

भारत में दोनों बातें एक साथ बढ़ीं। एक ओर तो विचारों और सिद्धान्तों में हमने अधिक-से-अधिक उदार और सहिष्णु होने का दावा किया। दूसरी ओर, हमारे सामाजिक आचार अत्यन्त संकीर्ण होते गये। यह फटा हुआ व्यक्तित्व, सिद्धान्त और आचरण का यह विरोध, आज तक हमारे साथ है और आज भी हम उसके विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। कितनी विचित्र बात है कि अपनी दृष्टि की संकीर्णता, आदतों और रिवाजों की कमजोरियों को हम यह कह कर नजर-अन्दाज कर देना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज बड़े लोग थे और उनके बड़े-बड़े विचार हमें विरासत में मिले हैं। लेकिन, पूर्वजों से मिले हुए ज्ञान एवं हमारे आचरण में भारी विरोध हैं और जब तक हम इस विरोध की स्थिति को दूर नहीं करते, हमारा व्यक्तित्व फटा का फटा रह जायेगा।

जिन दिनों जीवन अपेक्षाकृत अधिक गतिहीन था, उन दिनों सिद्धान्त और आचरण का यह विरोध उतना उग्र नहीं दिखायी देता था। लेकिन, ज्यों-ज्यों राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों की रफ्तार तेज होती गयी, इस विरोध की उग्रता भी अधिक-से-अधिक प्रत्यक्ष होती आयी है। आज तो हम आणविक युग के दरवाजे पर खड़े हैं। इस युग की परिस्थितियाँ इतनी प्रबल हैं कि हमें अपने इस आन्तरिक विरोध का शमन करना ही पड़ेगा। और इस काम में हम कहीं असफल हो गये तो यह असफलता सारे राष्ट्र की पराजय होगी और हम उन अच्छाइयों को भी खो बैठेंगे, जिन पर हम आज तक अभिमान करते आये है।

जैसे हम बड़ी-बड़ी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं का मुकाबला कर रहे हैं, वैसे ही, हमें भारत के इस आध्यात्मिक संकट का भी सामना करना चाहिए। भारत में औद्योगिक क्रान्ति बड़ी तेजी से आ रही है और हम नाना रूपों में बदलते जा रहे हैं। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों का यह अनिवार्य परिणाम है कि उनसे सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न होते हैं, अन्यथा समन्वय न तो हमारे वैयक्तिक जीवन में रह सकता है, न राष्ट्रीय जीवन में। ऐसा नहीं हो सकता कि राजनैतिक परिवर्तन और औद्योगिक प्रगति तो हो, किन्तु हम यह मान कर बैठे रह जायँ कि सामाजिक क्षेत्र में हमें कोई परिवर्तन लाने की आवश्यकता नहीं है। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों के अनुसार समाज को परिवर्तित नहीं करने से हम पर जो बोझ पड़ेगा, उसे हम बर्दाश्त नहीं कर पायँगे, उसके नीचे हम टूट जायँगे।

ईसा के जन्म के बाद पहली सहस्त्राब्दी और उससे पहले के भारत की जो तस्वीर हमारे सामने आती है, वह उस तस्वीर से भिन्न है, जो बाद में मिलती है। उन दिनों के भारतवासी बड़े मस्त, बड़े जीवन्त, बड़े साहसी और जीवन के प्रति अद्‌भुत उत्साह से युक्त थे तथा अपना सन्देश वे विदेशों में दूर-दूर तक ले जाते थे। विचारों के क्षेत्र में तो उन्होंने ऊँची-से-ऊँची चोटियों पर अपने कदम रखे और आकाश को चीर डाला। उन्होंने अत्यन्त गौरवमयी भाषा की रचना की और कला के क्षेत्र में उन्होंने अत्यन्त उच्चकोटि की कारयित्री प्रतिभा का परिचय दिया। उन दिनों का भारतीय जीवन घेरों में बन्द नहीं था, न तत्कालीन समाज में ही जड़ता या गतिहीनता की कोई बात थी। उस समय एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, समग्र भारतवर्ष में सांस्कृतिक उत्साह भी लहरें ले रहा था। इसी समय, दक्षिण भारतवर्ष के लोग दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर गये और वहाँ उन्होंने अपना उपनिवेश स्थापित किया। दक्षिण से ही बौद्ध मत का सन्देश लेकर बोधि-धर्म चीन पहुँचा। इस साहसिक जीवन की अभिव्यक्ति में उत्तर और दक्षिण, दोनों एक थे और वे परस्पर एक दूसरे का पोषण भी करते थे।

इसके बाद, पिछली शताब्दियों का समय आता है, जब पतन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। भाषा में कृत्रिमता और स्थापत्य में सजावट की भरमार इसी पतनशीलता के प्रमाण हैं। यहाँ आकर हमारे विचार पुराने विचारों की आवृत्ति बन जाते हैं और कारयित्री शक्ति दिनोंदिन क्षीण होने लगलती है। शरीर और मन दोनों की साहसिकता से हम भय खाने लगते हैं तथा जाति-प्रथा का और भी विकास होता है एवं समाज के दरवाजे चारों ओर से बन्द हो जाते हैं। पहले की तरह बातें तो हम अब भी ऊँची-ऊँची करते हैं, लेकिन, हमारा आचरण हमारे विश्वास से भिन्न हो जाता है।

हमारे आचरण की तुलना में हमारे विचार और उद्‌गार इतने ऊँचे हैं कि उन्हें देख कर आश्चर्य होता है। बातें तो हम शान्ति और अहिंसा की करते हैं, मगर, काम हमारे कुछ और होते हैं। सिद्धान्त तो हम सहिष्णुता का बघारते हैं, लेकिन भाव हमारा यह होता है कि सब लोग वैसे ही सोचें, जैसे हम सोचते हैं, और जब भी कोई हमसे भिन्न प्रकार से

सोचता है, तब हम उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। घोषणा तो हमारी यह है कि स्थितप्रज्ञ बनना अर्थात् कर्मों के प्रति अनासक्त रहना हमारा आदर्श है, लेकिन काम हमारे बहुत नीचे के धरातल पर चलते हैं और बढ़ती हुई अनुशासनहीनता हमें वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों ही क्षेत्रों में नीचे ले जाती है।

जब पश्चिम के लोग समुद्र पास से यहाँ आये, तब भारत के दरवाजे एक खास दिशा की ओर खुल गये। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता बिना किसी शोर-गुल के धीरे-धीरे, इस देश में प्रविष्ट हो गयी। नये भावों और नये विचारों ने हम पर हमला किया और हमारे बुद्धिजीवी अँगरेज-बुद्धिजीवियों की तरह सोचने का अभ्यास करने लगे। यह मानसिक, आन्दोलन, बाहर की ओर वातायन खोलने का यह भाव, अपने ढंग पर अच्छा रहा, क्योंकि इससे हम आधुनिक जगत् को थोड़ा-बहुत समझने लगे। मगर, इससे एक दोष भी निकला कि हमारे ये बुद्धिजीवी जनता से विच्छिन्न हो गये, क्योंकि जनता विचारों की इस नयी लहर से अप्रभावित थी। परम्परा से भारत में चिन्तन की जो पद्धति चली आ रही थी, वह टूट गयी। फिर भी, कुछ लोग इससे इस ढंग से चिपके रहे, जिसमें न तो प्रगति थी, न रचना की नयी उद्भावना और जो पूर्ण रूप से नयी परिस्थितियों से असम्बद्ध थी।

पाश्चात्य विचारों में भारत का जो विश्वास जगा था, अब तो वह भी हिल रहा है। नतीजा यह है कि हमारे पास न तो पुराने आदर्श हैं, न नवीन; और हम बिना यह जाने हुए बहते जा रहे हैं कि हम किधर को या कहाँ जा रहे हैं? नयी पीढ़ी के पास न तो कोई मानदण्ड है, न कोई दूसरी ऐसी चीज, जिससे वह अपने चिन्तन या कर्म को नियन्त्रित कर सके।

यह खतरे की स्थिति है। अगर इसका अवरोध और सुधार नहीं हुआ तो इससे भयानक परिणाम निकल सकते हैं। हम आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में संक्रान्ति की अवस्था से गुजर रहे हैं। सम्भव है, यह उसी स्थिति का अनिवार्य परिणाम हो। लेकिन, आणविक युग में किसी देश को अपना सुधार करने के लिए ज्यादा मौके नहीं दिये जायेंगे। और इस युग में मौका चूकने का अर्थ सर्वनाश भी हो सकता है।

यह सम्भव है कि संसार में जो बड़ी-बड़ी ताकतें काम कर रही हैं, उन्हें हम पूरी तरह न समझ सकें, लेकिन, इतना तो हमें समझना ही चाहिए कि भारत क्या है और कैसे इस राष्ट्र ने अपने सामासिक व्यक्तित्व का विकास किया है; उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू कौन-से हैं और उसकी सुदृढ़ एकता कहाँ छिपी हुई है। भारत में बसनेवाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते तो फिर हम भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे। और यदि भारत को हम नहीं समझ सके तो हमारे भाव, विचार और काम, सब-के-सब अधूरे रह जायेंगे और हम देश की ऐसी कोई सेवा नहीं कर सकेंगे, जो ठोस और प्रभावपूर्ण हो।

मेरा विचार है कि दिनकर की पुस्तक इन बातों के समझने में, एक हद तक, सहायक होगी। इसलिए, मैं इसकी सराहना करता हूँ और आशा करता हूँ कि इसे पढ़कर अनेक लोग लाभान्वित होंगे।

नयी दिल्ली
३० सितम्बर, १९५५

-जवाहरलाल नेहरू

साभार- 'संस्कृति के चार अध्याय' से

दिनकर जी को संस्कृति के चार अध्याय के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान करते हुए देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू

क्रोध, करुणा और सौन्दर्य के कवि

डॉ. नामवर सिंह

दिनकर की वाणी में ही दिनकर के बारे में कहा जा सकता है। विद्यापति के बाद छह सौ वर्षों तक यह भूमि किसी महाकवि की प्रतीक्षा करती रही और वह दूसरा महाकवि दिनकर के रूप में इसे मिला। दिनकर निराला के समान ओज और ऊर्जा के शायद भारतवर्ष में सबसे बड़े कवि थे। दिनकर में सात्विक, क्रोध, कोमल करुणा और सौंदर्य की अनूठी पहचान थी। 'हारे को हरिनाम' में दिनकर तुलसी की तरह शायद बीसवीं सदी की विनय-पात्रिका लिखते हैं।

दिनकर जी की अनेक छवियाँ हैं। एक छवि प्रतिमा के रूप में स्थापित हुई है। उसके कलाकार के विषय में अवश्य कहना चाहूँगा और दिनकर जी की एक कविता के साथ कहूँगा। उनकी एक कविता है- शबनम की जंजीर/और उस कविता की चार पंक्तियाँ- भर सको अगर तो प्रतिमा में चेतना भरो/ यदि नहीं निमंत्रण दो जीवन के दानी को/ विभ्राट, महाबल जहाँ थके से दीख रहे/ आगे आने दो वहाँ क्षीण बल प्राणी को। विभ्राट महाबल से आतंकित होने वाले दिनकर जी नहीं थे। इस प्रतिमा में चेतना कौन भरेगा? और उन्होंने कहा आने दो उसे जो क्षीण बल प्राणी हैं और क्षीण बल प्राणी कौन? दिनकर जी की नजर में सपनों के तो सारथी क्षीणबल होते हैं। जो सपनों का सारथी होता है वही क्षीणबल हुआ करता है। कलाकार और कवि उसी जाति के हैं जो सपनों के सारथी हुआ करते हैं। मुझे देखकर खुशी हुई, उस क्षीणबल कलाकार ने जिसे मैं दिनकर के सपनों के सारथियों में से एक मानता हूँ। उसने प्रतिमा बनायी जो महाकवि के गौरव एवं आकांक्षा के अनुरूप ही हुआ है। दिनकर के संदर्भ में निराला का नाम कई बार लिया गया है। नाम सुनते ही निराला के गीत की पंक्ति याद आयी-बादलों में घिर अपर दिनकर रहे। यह शृंगार का गीत है जिस संदर्भ में बात आयी। मुझे लगा दिनकर के बारे में जितना लिखा गया है और आज जितनी चर्चा हुई है ओज का, ऊर्जा का हुंकार का। गर्जन-तर्जन के कवि के रूप में दिनकर को लोग अधिक जानते हैं। और दिनकर ने जितना गर्जन-तर्जन किया उससे ज्यादा उनके बारे में गर्जन-तर्जन हुआ है। मुझे लगता है कि वह जो दूसरा दिनकर है छिप गया है- बादलों में घिर अपर दिनकर रहे। दिनकर जी को सूर्य कहते समय हम भूल जाते हैं कि सूर्य का एक ही रंग नहीं होता है। रोशनी भी होती है। उस प्रकाश के, उस आलोक के अनेक रंग होते हैं। बल्कि धरती पर जितने रंग दिखाई पड़ते हैं वे सारे के सारे रंग, रंग बिरंगे पुष्प सूरज की रोशनी से ही हैं। सूरज न हो तो उतने रंग धरती पर नहीं होंगे।

इसलिए दिनकर का केवल एक रंग है, एक रस है, एक स्वर है- ये कहके अच्छा तो लगता है। शायद नौजवान लोगों को, उत्साही लोगों को और नेता लोगों को बहुत काम आते हैं। जनता को भड़काने के लिए। लेकिन कई सत्य है। दिनकर की कविता याद दिलाता हूँ- नेता, नेता, नेता। बहुत पहले लिखी गयी कविता, जब घोटाले वगैरह नहीं हुआ करते थे इतने। कम-कम हुआ करते थे। मैं जानना चाहता हूँ व्यंग्य के बारे में जो आज के दौर में बहुत सार्थिक है और गर्जन का युग नहीं है यह। कविता है- *नेता नेता नेता/ नेता का अब नाम नहीं ले/ अंधेपन से काम नहीं ले/ हवा देश की बदल गयी है/ चाँद और सूरज/ ये भी अब/ छिपकर नोट जमा करते हैं/ और जानता नहीं अभागे/ मंदिर का देवता चोरबाजारी में पकड़ा जाता है/ अपना हाथ घिनायेगा तू/ उठ मंदिर के दरवाजों से/ जोर लगा खेतों में अपने/ नेता नहीं भुजा करती है/ सत्य सदा जीवन के सपने/ पूजे अगर खेत के ढेले/ तो सचमुच कुछ पा जायेगा/ भीख या कि वरदान माँगता/ पड़ा रहा तो पछतायेगा/ इन ढेलों को तोड़/ भाग्य इनसे तेरा जागने वाला है/ नेताओं का मोह मूढ़/ केवल तुझको ठगने वाला है।*

इसलिए दिनकर को जब हम याद करें तो देखें और इसलिए जरूरी है कि वीर रस का काव्य रचने वाला आदमी कभी-कभी एक सुपरमैन या महामानव के इंतजार में रहता है। ब्रेख्त के नाटक में एक कविता है। चेला गाता है-*अभागा है वह देश/ जहाँ हीरो नहीं/* गैलीलियों चुपके से कहता है- *अभागा है वह देश/ जिसे हीरो की तलाश है।* इसलिए देश में अगर एक नेता हो जाए तो सब ठीक हो जायेगा, यह वो मनोवृत्ति है जो देखने पर निरामिष मालूम होती है, निरापद मालूम होती है, जिसके शिकार साधारण आदमी होते हैं जो अनुशासन में सबसे पहले मारे जाते हैं। ऐसे दौर में दिनकर जी बड़ी अच्छी तरह से इस सच्चाई को पहचानने लगे थे।

लेकिन मित्रों, मैं फिर, मेरी रुचि में जो अपर दिनकर हैं वो ये हैं। दिनकर ने बड़े दुख के साथ एक कविता लिखी है जिस पर आप लोगों का ध्यान गया होगा। उनकी कविता है- *भूले भी न मेरी विपदाएँ थाहते हैं दोस्त/ केवल पुरानी कविताएँ चाहते हैं दोस्त/* दोस्त और खासकर औरतें।

ज्यादातर मैं देखता हूँ दिनकर जी पर चर्चा करते हुए हुंकार से, कुरुक्षेत्र से, दिल्ली वगैरह से कविताएँ कोट की जाती हैं। अंतिम दिनों में भी लोग दिनकर जी से यही कविताएं चाहते थे। और बहुत दुखी होकर लिखा होगा- *मेरी पुरानी कविताएँ ही चाहते हैं दोस्त*। दोस्त और खासकर औरतें। क्षमा कीजियेगा। औरतों के प्रति इतना बुरा भाव था नहीं दिनकर का। लेकिन पहली पंक्ति महत्वपूर्ण है- *भले से भी मेरी विपदाएं न थाहते हैं दोस्त*। दिनकर की उन विपदाओं को थाह कर देखें तो देखें कि दिनकर कहाँ से जाकर बोलते हैं। इस कविता में लगभग सत्तर के आसपास जहाँ स्वयं दिनकर पहले के काव्यशास्त्र को खारिज करते हैं, तिरस्कृत करते हैं-कविता न गर्जन न सूक्ति है/ वी का न घोष/ न तो वाणी स्वर चिंतकों की/ चौके हुए आदमी की उक्ति है/ कविता न पूर्ति है/ न माँग है/ सीढ़ियाँ नहीं है कि हरेक पाँव सीधा करे/ लॉजिक नहीं है/ ये छलाँग है/ अर्थ नहीं, काव्य शब्द योग है/ वासना का कीर्तन नहीं है खुद वासना है/ रागों का वह कागजी बखान नहीं, भोग है/ तंतुओं के जाल शब्द को जो कहीं बांधते हों/ सारे बंधनों के तार तोड़ दो/ अर्थ से बचो कि अर्थ बेड़ी है परंपरा की/ अर्थ को दबाने से ही शब्द बड़ा होता है/ निश्चित अनिश्चित का संगम जहाँ है शून्य/ कविता का सद्म निरावलंब खड़ा होता है। ये दिनकर एक नया काव्यशास्त्र लिख रहे थे।

दिनकर के बाद में जिंदगी के अनुभवों तजुर्बों से सिमरिया की जिंदगी और रेशमी शहर दिल्ली की जिंदगी देखी। उस परिपक्व कौम में पहुँचकर वे सोच रहे हैं। मुझे याद है दिनकर जी ने सबसे पहले जो पुस्तक छियासठ-सरसठ में पहली बार मुझे दी थी वह 'शुद्ध कविता की खोज' नाम की पुस्तक थी। दिनकर जी ने दूसरी पुस्तक देहावसान से कुछ ही महीने पूर्व 'हारे को हरिनाम' मुझे दी। अपने हस्ताक्षर से मुझे दो ही पुस्तकें दीं। क्यों महाकवि ने किया ऐसा मुझे नहीं मालूम। वह दिनकर मुझे कहीं अधिक गहरे और महत्वपूर्ण लगते हैं।

दिनकर जिस मंजिल पर पहुँचे थे, जहाँ पहुँचे थे वहाँ तक लोग आज भी याद नहीं करते। इसलिए कहा कि दिनकर को तब मैं बड़े कवियों में नाम लेता हूँ। मैंने विद्यापति के बाद यूँ ही उनका नाम नहीं लिया। विद्यापति रूपरस के कवि नहीं थे खाली। विद्यापति में 'हारे को हरिनाम' वाली जो स्त्रोत की भक्ति की भूमि होती है उस पर पहुँचे हैं कवि दिनकर। और नचारियाँ उनकी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसलिए मैं आज उस दिनकर को ही याद दिलाना चाहता हूँ। मैं ये नहीं कहता कि वही दिनकर दिनकर हैं लेकिन पूर्ववर्ती इलियट से परवर्ती इलियट अधिक बड़ा कवि है।

दिनकर जी के प्रसंग में दिनकर जी की एक कविता है। स्वयं अपने बारे में हर महाकवि लिखता है। जैसे निराला का संपूर्ण काव्य उनकी आत्मकथा है। निराला ने 'तुलसीदास' नाम का खंडकाव्य लिखा। तुलसीदास काव्य के नायक तुलसीदास नहीं हैं, वे निराला हैं। 'राम की शक्ति पूजा' के राम राम नहीं है। वे निराला हैं। सरोज स्मृति तो स्वयं हैं ही। अनेक गीतों में दिनकर हैं। दिनकर बाहरी जीवन में क्या थे, राज्य सभा के सदस्य थे, सरकारी नौकरी की, प्रोफेसर रहे। वाइस चांसलर रहे। सद्गृहस्थ रहे। पारिवारिक जिंदगी की उनकी बहुत बड़ी दुनिया थी। लेकिन दिनकर का जो आत्मस्वरूप था वो व्यक्तित्व दिनकर के काव्य में है। और उतनी ही गहराई से दिनकर आत्मविश्लेषण करते हैं और निर्ममता से भी।

अब एक बात पर विचार कर समाप्त करना चाहूँगा। उर्वशी दिनकर की प्रतिभा का शीर्ष है। जैसे प्रसाद ने अपनी सारी प्रतिभा 'कामायनी' में निचोड़कर रखी थी, दिनकर ने अपनी संपूर्ण प्रतिभा एवं काव्यशक्ति 'उर्वशी' में प्रदर्शित की। उर्वशी की छवि गढ़ते वक्त पुरूरवा की व्यथा कथा और पुरूरवा की कामनाओं की अपार लालसा को एक कविता में दिनकर ने कहा वह्नि का रसकोष बोलो कौन लेगा? आग का रसकोष और बेचैन रसकोष। आग के बदले मुझे संतोष बोलो कौन देगा। उर्वशी को पढ़ने के लिए केवल शृंगार की, संभोग की छवियों और चित्रों में भटकने की जरूरत नहीं। जो भटक गया वह भटक गया। इसलिए अग्नि का जो बेचैन रसकोष है उसके पीछे एक गहरा चिंतन है। बड़ा कवि गंभीर दर्शन के बिना नहीं हो सकता। तुलसी इसलिए बड़े थे। कबीर इसलिए बड़े थे। छायावादियों में प्रसाद और निराला इसलिए बड़े थे क्योंकि बड़े चिंतक थे। उसी 'उर्वशी' में वह पंक्ति है जिसकी ओर ध्यान पहली बार प्रगतिशील आलोचक डॉ॰ रामविलास शर्मा का गया। उर्वशी की पंक्ति है- चिंतन कर यह जान कि तेरी क्षण क्षण की चिंता से/ दूर-दूर तक के भविष्य का मनुज जन्म लेता है। इससे चिंतन के भीतर से भविष्य की सभ्यता, भविष्य के मनुष्य के बारे में दिनकर सोचते हैं। चाहे वह उर्वशी ही क्यों न हो उसमें आगामी युग की प्रतिमा, आगामी मनुष्य की प्रतिमा एवं छवियां गढ़ी गयी हैं। और यह प्रतिमा गहन चिंतन के बिना नहीं गढ़ी जाती है। शब्दों के आडम्बर और वाग्जाल से नहीं गढ़ी जा सकती।

बाद के दिनों की कविताएँ आप देखें। विज्ञान और टेक्नॉलाजी की सीमाएँ क्या हैं। और पर्यावरण पर आजकल बड़ी चर्चा हो रही है और देखता हूँ कि इस चिंता में मेधा पाटेकर, बाबा आम्टे और सुंदर लाल बहुगुणा जैसे लोग डूबे हैं। दिनकर की परवर्ती काव्य। 'लोहे के पेड़ हरे होंगे' इस भावी सभ्यता पर है जो विज्ञान और टेक्नॉलॉजी की है। जिसके लिए हम लोग मरे जा रहे हैं। नयी सभ्यता और नये इंसान का निर्माण करेंगे। दिनकर जी इस भारत का सपना उस दौर में देख रहे थे।

मित्रो! उस सबके अपने-अपने दिनकर थे और दिनकर महासागर के समान थे। यहाँ उनके सुपुत्र केदारनाथ सिंह मौजूद हैं। उनसे निवेदन करूँगा कुछ ऐसी व्यवस्था करें। सबकी रचनावलियाँ छप गयी। और प्रकाशक तैयार हैं। दिनकर समग्र एक बार छपकर आ जायें तब पता चलेगा दिनकर सचमुच क्या हैं। दिनकर अतीत के देवता नहीं हैं। भविष्य के निर्माता हैं।

(दिनकर पुण्यतिथि 24 अप्रैल 1998 को दिनकर भवन बेगूसराय में दिए गए व्याख्यान का टेप से लिया गया मुख्य अंश)

हिन्दी के परशुराम

पं० गोपाल प्रसाद व्यास

छह बजे। उठकर पलंग पर चाय पी रहा था। रेडियो खोला। समाचार आने लगे राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का कल आधी रात बाद मद्रास के एक सेनिटोरियम में देहावसान हो गया। उनकी उम्र पैंसठ वर्ष की थी।

प्याला हाथ से छूटकर जमीन पर गिर पड़ा। पत्नी बगल के कमरे में पूजन अधूरा छोड़कर दौड़ी "अपने दिनकर जी?" यह क्या गजब हुआ! सबसे छोटी पुत्री रत्नावली का आज बी॰ए॰ का परचा, सुबह-सुबह मेरा रेडियो खोलकर भजन आजकल पसंद नहीं आता है। किताबें फेंककर पास सटकर बैठ गयी। गोविंद और मोहन अखबारों में विस्तृत समाचारों की तलाश करने लगे। राष्ट्रकवि, महाकवि, यशस्वी कवि, विख्यात कवि लिखते-लिखते जिन अखबारों की स्याही हीं थी उनमें से किसी में भी आज उनके निधन का समाचार नहीं था। अंग्रेजी के 'मदरलैंड' में ऐसा न्यूज आइटम था, 'रामदुलाली दिनकर डैड।' हाय रे हिन्दी का भाग्य और वाह री रोमन लिपि! 9 अप्रैल, 1974 रात्रि 9 बजे दिल्ली क्लाथ मिल के लाला श्रीराम की जयंती के उपलक्ष्य में सप्रू कवि सम्मेलन का आयोजन। हाथ में छड़ी, कंठ में उत्तरीय, लंबा कुरता, गजगति, मिनिस्टराना दिनकर पंडाल में आये तो जैसे रात में दिन निकल आया। मुझ तक पहुंचे तो पूछा, "कहो! हाथ बढ़ाया, मिला तो अपनी बीच की अंगुली मेरी हथेली पर रगड़ते हुए हंसकर कहने लगे, बैग योर पार्डन।"

सहारा देकर मुझे मंच पर लिया। बड़े मंच के बीच में एक गद्दी बिछी थी। हाथ बढ़ाकर मुझे भी उस पर खींच लिया। कवि सम्मेलन में कवि कविता पढ़ते रहे और हम दोनों रात के एक बजे तक वहां कानो-कान बतियाते रहे, "क्या हाल है, प्यारे भाई?"

"अब क्या हाल होगा, न दिल्ली में रहने की जगह है, न फोन है, न गाड़ी है। दुनिया भाग रही है। मुझे भी तुमसे फोन करने के लिए किसी दूसरे के घर भागना पड़ता है। रहता कहीं हूँ, खाता कहीं हूँ, जिंदगी का मजा नहीं रहा। लोग मेरे ढांचे को देखते हैं। हालत को देखने व सुनने की किसे फुर्सत है।"

"क्या कार्यक्रम है?"

"कल मद्रास जा रहा हूँ। जयप्रकाश भी पहुंच रहे हैं। गंगा बाबू भी होंगे। पच्चीस के बाद मुझे तुमसे काम है। या तो तुम आना या फिर मैं आऊँगा।"

काम के संबंध में पूछने पर उन्होंने कहा, "मैं अंदर ही अंदर घुट रहा हूँ। अब विस्फोट होने वाला है। जानते हो मेरे मन में क्या चल रहा है? अगर जयप्रकाश बाबू को छुआ गया तो मैं अपनी आहुति दे दूंगा। तुम क्या सोचते हो? भवानी (भवानीप्रसाद मिश्र) मेरी राय का हो गया है। तुमसे बातें करनी हैं।" मैं तो उनके हर वाक्य से गहरे में उतरता जाता था, मगर दिनकर जी हर नये कवि के उठने से पहले कम से कम दो शब्द उसके माइक पर पहुँचते पहुँचते अवश्य कह देते थे और कविता सुनी हो या न सुनी हो, अच्छी हो या सामान्य हो उसकी समाप्ति पर सबसे पहले तालियाँ अवश्य बजा देते थे। मैंने चुटकी लेते हुए उनसे कहा, "तो आजकल लोकसंग्रह में लगे हुए हो?" उत्तर मिला, "फिर भी तो साले मुझे गाली देने से बाज नहीं आते। गोपाल, भारत में जन्म लेना, हिन्दी कविता और सहित्यकार का कर्म करना कोई मज़ाक है। सांपों से खेलना है। तुमने क्या कम भोगा है।"

एक कवि चिल्ला-चिल्लाकर वीर रस की कविता पढ़ रहे थे। मैंने छेड़ा, "यह तुम्हारा वंशज है। शैली और परंपरा का निर्वाह कर रहा है।"

उनका दर्प जागा, "हिश्ट! यह मेरा अनुकरण नहीं, मेरी कविता की पैरोडी है।"

हम दोनों के बीच से जब तत्कालीन केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री गुजराल उठ गये, तब वह और निकट खिसक आये। गद्दी पर उन्होंने लगभग पैर पसार दिये। तकिये पर लेटने की सी मुद्रा में टिक गये। मुझसे बोले, "तुम भी थोड़ी पीठ टिका लो। पैसे की लाचारी और मित्रों के दुराग्रह से कविता की भ्रष्टता का यह तमाशा घंटो-घंटों बैठकर बरदाश्त करना पड़ता है।"

मैंने पूछा, "आजकल क्या लिख रहे हो?" उत्तर मिला, "अपने सम सामयिकों पर निबंध लिख रहा हूँ। अब उसमें सिर्फ दो बचे हैं। एक पहला और दूसरा आखिरी?"

फिर कुछ क्षण रुककर उन्होंने कहा, "इस पुस्तक का पहला लेख जैनेंद्र जी पर होगा और आखिरी तुम पर। मैंने दोनों के कुछ नोट्स एकत्र कर लिये हैं। एक शाम मेरे साथ रहो।"

इस पर आगे जो वार्तालाप हुआ वह कहीं कहीं अमर्यादित भी है, व्यक्तिगत तो वह है ही। उसे छोड़ता हूँ।

रात के डेढ़ बजे के लगभग हम दोनों 25 अप्रैल के बाद मिलने के लिए एक-दूसरे से विदा हुए। उन्होंने आज के कवि सम्मेलन में 'कृष्ण का विराट रूप' नामक अपनी कविता सुनायी थी। उनके जाने के बाद मेरे मन में कृष्ण के विराट स्वरूप से अधिक कवि का विराट व्यक्तित्व ही रह रह कर उभर रहा था। उनकी वाणी का वोल्यूम अभी तक अपने तार सप्तक पर स्थिर था। उनका दिव्य व्यक्तित्व एक एक शब्द को आज भी ओज प्रदान करने वाला था। 'पृथ्वीराज रासो' से लेकर 'पशुराम की प्रतीक्षा' तक चंद और दिनकर की ओजस्वी राष्ट्रीय परंपरा, 'ससनु-परस खस अंबर है देखल धन देह, के गायक विद्यापति से लेकर 'उर्वशी' के रचयिता तक के हिन्दी सरगम में कौन मध्यम है कौन पंचम है, इसका फैसला क्यों किया जाये? मुझे तो 25 तारीख को उनके लौटने की प्रतीक्षा थी और 25 अप्रैल को शिवस्वरूप दिनकर नहीं, शवस्वरूप उनका ताबूत हवाई जहाज़ से उतारा गया। जिन परिस्थितियों से मेरे इस योद्धा मित्र ने जीवन भर संघर्ष किया था वे आज भी ताबूत बनकर उसे जकड़े हुए थीं। परिस्थितियों से जूझता हुआ बालक रामधारी सिंह जैसा पराक्रमी और दिनकर के समान प्रकाशवान होकर भारतीय क्षितिज पर छा गया। परंतु बड़े परिवार के पोषण, सरकारी चाकरी, अंर्तमन का द्वंद्व व भारतीय संस्कृति की संस्कारबद्ध मान्यताएँ और कवि का मन तथा राज और समाज दोनों की ललक मेरे प्यारे भाई को जन्म भर जकड़े ही रहीं। तिरुपतिनाथ के दर्शन कर लेने के बाद भी उनके मन को शायद शांति नहीं मिली। दूसरे दिन जयप्रकाश बाबू से क्या बातें हुईं, यह नहीं मालूम। लेकिन विदा होते होते उन्होंने मुझसे 20 तारीख की रात को कहा था कि अब राजनीति और संन्यास दोनों में से मुझे एक चीज चुननी है। मद्रास में इन दोनों से ही उनका साक्षात्कार हुआ, लेकिन इनसे पूर्व कि वह निश्चित करते, काल देवता ने अपना निर्णय सुना दिया, तुम कवि ही ठीक हो।

26 अप्रैल, 1974। टेलीफोन की घंटी बजी। मद्रास से ट्रंककाल है। मेरे मित्र श्रीनिवास शास्त्री कह रहे थे, "दिनकर जी ने 23 तारीख को तीन बार तिरुपति भगवान के विशेष शृंगार दर्शन किये। अनुमति प्राप्त करके तीनों बार देवविग्रह को वंदनास्वरूप शायद आशु कविताएँ सुनायीं। वह गद्‌गद एवं आत्मविभोर थे। 24 को जयप्रकाश बाबू से मिले तब वहां भी एक घंटे से अधिक कवितापाठ ही करते रहे। जयप्रकाश पर लिखी ताजा रचना भी इस अवसर पर जयप्रकाश जी को सुनायी। शाम को समुद्र तट की सैर करने गए। वहां रेती में बैठकर लगातार दो घंटे तक कवितापाठ करते रहे। घर लौटे तो सीने में कुछ दर्द महसूस हुआ। किसी अनाड़ी भक्त ने मालिश शुरू कर दी। दर्द बढ़ना ही था। गंगा बाबू और रामनाथ गोयनका दौड़े आये। गोयनका जी स्वयं कार चलाकर कवि को नर्सिंग होम ले गये। वहां आधे घंटे के भीतर ही सब कुछ समाप्त हो गया।"

जब प्राण छोड़े तब अक्षय तृतीया आ चुकी थी, यश, अक्षय, शरीर क्षय। ओह! याद आया आज परशुराम जयंती भी तो है। क्या 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखने वाले की भगवान परशुराम कहीं प्रतीक्षा कर रहे थे। परशुराम तो अपना तेज भगवान राम को देकर गये, देखें दिनकर का तेज अब किस में उदय होता है।

बी-52, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली-49

कालजयी दिनकर

राम पुनीत ठाकुर 'तरुण'

दिनकर : किशोर कवि मादक मधुर उमंगों का।
दिनकर : कोमल कवि मन की मृदुल तरंगों का।।
दिनकर : कवि रूप छटाओं का, मलयज बहार।
दिनकर : कवि सजल घटाओं का, रसमय फुहार।। 1।।

दिनकर : कवि फूलों का, श्री का, सुषमाओं का।
दिनकर : कवि छवि की नयी-नयी प्रतिमाओं का।।
दिनकर : बसता मन कवि का चाँद-सितारों में।
दिनकर : हँसता मन कवि का मस्त बहारों में।। 2।।

दिनकर : जवान दिल में शोणित का उष्ण ज्वार।
दिनकर : उद्वेलित उर की आंदोलित पुकार।।
दिनकर : पौरुष की आग, पराक्रम की ज्वाला।
दिनकर : प्रचण्ड प्रज्ज्वलित क्रांति, कवि मतवाला।। 3।।

दिनकर : जनता का कवि, जन-जन का हृदय-हार।
दिनकर : ममता का कवि, मन में करुणा अपार।।
दिनकर : दीनों-दलितों-पिछड़ों की करुण आह।
दिनकर : पीड़ित भारत माँ की दारुण कराह।। 4।।

दिनकर : भारत का प्रखर राष्ट्रकवि तेजस्वी।
दिनकर : चिंतक, लेखक, वक्ता अति ओजस्वी।।
दिनकर : कविता के प्राण, कला का आराधक।
दिनकर : चिर 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का साधक।। 5।।

दिनकर : अतीत, भवितव्य, समागत वर्तमान।
दिनकर : युग-द्रष्टा-स्रष्टा कवि-कल्पक महान्।।
दिनकर : विशाल व्यक्तित्व, महाकवि कालजयी।
दिनकर : विधि की रचना अपूर्व अनुरागमयी।। 6।।

अध्यापक, तिरहुत अकादमी, समस्तीपुर (बिहार)

वंशज का वक्तव्य : दिनकर के प्रति

बालकवि बैरागी

क्या कहा कि दिनकर डूब गया
दक्षिण के दूर दिशांचल में?
क्या कहा कि गंगा समा गई
रामेश्वर के तीरथ जल में?

क्या कहा कि नगपति नमित हुआ
तिरुपति के धनी पहाड़ों पर?
क्या कहा कि उत्तर ठिठक गया
दक्षिण के ढोल नगाड़ों पर?

वह दिव्य भाल, उन्नत ललाट
दिपता था जिस पर सूर्य बिन्दु
वह धवल वेश, वह स्कंध वस्त्र
लिपटा था जिसमें अमल इन्दु

सुग्रीव शीश, वे वृषभ स्कंध
वह चट्टानों-सा वृक्ष प्रान्त
वह चलता फिरता हवन कुंड
वह हिन्दी का अद्‌भुत निशान्त

वे रक्त रचे जलते लोचन
वह भैरव स्वर, वह महाघोष
वे प्रबल प्रकम्पित पुष्ट ओष्ठ
वह अपनी वय का मुखर रोष

वह धधक धधक सा पदाघात
वह दिग् दिगन्त का सिंहनाद
वह लावे का जीवित प्रमाण
वह पौरुष का सम्पूर्ण स्वाद

वह आर्य रक्त का युद्धगीत
वह बड़वानल का छन्द पूत
वह दावानल का रूपान्तर
वह महामन्यु का रक्तदूत

वह तप्त रुधिर का भाग्यलेख
वह वह्नि-वलय पावक प्रपात
वह नीलकंठ का आप्त रोष
वह पुण्य-प्रलय का चक्रवात

वह रणमंत्रों का जन्म लग्न
वह प्रगति काल का शिलान्यास
वह आह्वानों का महाकाव्य
वह रवि शशि दोनों का प्रकाश

निर्धूम अनल का मणि-किरीट
वह परशुराम का कटु कुठार
वह संकल्पों का युग चारण
वह मसिमय असि का रक्तज्वार

आजानबाहु वह कालपुरुष
वह कामिनियों का कंठहार
वह उर्वशियों का स्वप्न देव
वह ऋतुमतियों का ऋतुसंहार

पर्याय पुरुष वह शोणित का
वह इस शताब्दी का स्पष्ट भाष्य
वह कुरुक्षेत्र का काव्य-कमल
वह यौवन का उर्जित उपास्य

वह वासुदेव इस आँगन का
वह पूर्वघोष पूर्वोदय का
उनचास पवन का अनुगायक
वह रश्मिरथी सूर्योदय का

वह राजनीति का कुश अंकुश
वह अघट अन्य का रिपु विशेष
राजीवनयन, वह करुणाकर
वह संस्कृतियों का अर्थश्लेष

वह मूँद गया अपनी आँखें?
क्या कहते हो, वह चला गया?
अध-घायल माता हिन्दी को
वह बाँध हिचकियाँ रुला गया?

विश्वास नहीं होता मुझको
लगता है सब कुछ है असत्य
प्रतिवाद करो ऋण मानूँगा
यह है असत्य, यह नहीं सत्य।

मरता है केवल मर्त्य मनुज
वह अमर कहाँ मर सकता है
आजीवन जिसने नय गाया
क्या वह भी छल कर सकता है?

कल ही तो उसका काव्य पाठ
सुनता था, सागर शान्त पड़ा
तिरुपति का नाथ सुना मैंने
हो गया मुग्ध रह गया खड़ा।

वह मृत्यु याचना तिरुपति में
अपने श्रोता से कर बैठा
और वहीं कहीं हो समाधिस्थ
क्या कहते हो कि मर बैठा?

यदि यही मिलेगा देवों से
उत्कृष्ट काव्य का पुरस्कार!
तो कौन करेगा धरती पर
ऐसे देवों को नमस्कार!

कितना अच्छा होता दादा!
यह पारिश्रमिक नहीं लेते
उस निर्मम श्रोता के आगे
मुझसे कविता पढ़वा देते।

तुम करते रहते संचालन
मैं कविताएँ पढ़ता रहता
बारी न तुम्हारी आ पाती
उद्दंड सतत लड़ता रहता।

पर पता नहीं तुम क्यों, कैसे
मानस पुत्रों को टाल गये
इस बौनी गूँगी पीढ़ी पर
वाणी का बोझा डाल गये।

हम कंधा तुमको दे न सके
हम श्राद्ध तुम्हारा कर न सके
जो शून्य बनाया है तुमने
हम तिल भर उसको भर न सके।

पर संभव हो तो सुनो आज
यह इस पीढ़ी की वाणी है
संस्कार तुम्हारा बोल रहा है
यह गिरा अमर कल्याणी है।

है वचन समूची पीढ़ी का
हम तुम्हें नहीं मरने देंगे
इस आँगन में तम को तांडव
हम कभी नहीं करने देंगे।

तुम नहीं मरे हो निरवंशी
मैं साबित करने आया हूँ
बेशक अनाथ हूँ आज भले
तो भी दिनकर का जाया हूँ।

हे तीन लोक! चवदहों भुवन!
वक्तव्य सुनो इस वंशज का
दायित्व निबाहूँगा पूरा
मैं दिनकर जैसे पूर्वज का।

आश्वस्त रहो हे पूज्य जनक!
वाणी में अंश तुम्हारा है
कुल, गोत्र भले ही हो कुछ भी
यह सारा वंश तुम्हारा है।

'बापूधाम' 169, डॉ0 पुखराज वर्मा मार्ग,
पोस्ट-नीमच (मध्य प्रदेश) पिन-458 441

आशा के प्रदीप को
जलाए चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त
भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न
राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं
जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की
न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी
मानव का जीत से
स्नेह-बलिदान होंगे,
माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी,
स्वर्ग प्रीति से।
– 'कुरुक्षेत्र'

मही नहीं जीवित है,
मिट्टी से डरने वालों से;
जीवित है वह उसे फूँक,
सोना करने वालों से।
– 'कुरुक्षेत्र'

'जिंदगी से हम उतना
ही पाते हैं जितनी कि
उसमें पूँजी लगाते हैं।
यह पूँजी लगाना
जिंदगी के संकटों का
सामना करना है, उस
पन्ने को पलटकर पढ़ना
है जिसके सभी अक्षर
फूलों से नहीं, कुछ
अंगारों से भी लिखे
गए हैं। जिंदगी का भेद
कुछ उसे ही मालूम है,
जो यह मानकर चलता
है कि जिंदगी कहीं भी
खत्म न होने वाली
चीज है।'
–दिनकर (रेती के फूल)

दिनकर

आकृति शशांक

दूर फलक की खिड़की से,
एक चेहरा झाँका करता है।
अपनी ओजमय नजरों से,
भारत को जाँचा करता है।
ये नजरें उस दिनकर की हैं
जो भारत का सूरज है
टूटे और बिखरे भारत को
जो बँधा रहा धीरज है।

विराट व्यक्तित्व हिमालय-सा
और सागर-सी हुंकार
हृदय में सौंदर्य उर्वशी का
और लहू में भारतीय संस्कार

कर्ण की कुण्ठा को
अपनी रश्मियों से पिघलाया
अपनी लेखनी की नींव पर
भारतीय संस्कृति का महल बनाया।

गूँजती है जो किशोरों के तन में
बनकर नई रवानी
निर्बाध वह बहने वाली
है दिनकर की वाणी।

आगे जब भी उनके गीत सुने जाएँगे।
थकी जीर्ण भुजाओं में भी,
ऊर्जा की लौ जगाएँगे।

क्रांति का उद्घोष वह
नक्षत्र शाश्वत ज्ञान का।
नमन करें हम उस सूर्य को,
जो प्रतिबिंब है स्वाभिमान का।

कुलाची हंसराज मॉडल स्कूल
अशोक विहार, दिल्ली-52

दिनकर जी को याद करते हुए

प्रो० गोपाल राय

दिनकर जी के जन्मशताब्दी वर्ष में उन्हें याद करते हुए अजीब तरह का रोमांच हो रहा है। मैं पहली बार, जहाँ तक मुझे याद है, 1946 में उनके विस्फोटक कविता-संग्रह 'रेणुका' में छपे उनके भव्य चित्र से प्रभावित हुआ था। उस समय मैं बक्सर हाई स्कूल में आठवीं कक्षा का छात्र था और हम कुछ लड़कों ने मिलकर अपने से एक पुस्तकालय कायम किया था और उसका नाम रखा था- 'गांधी जनता पुस्तकालय'। चन्दे की पहली ही वसूली से हमने दिनकर की 'रेणुका' वी.पी. से मँगायी थी और उसे देखने की उत्सुकता इतनी अनिवार थी कि मैं पाँच किलोमीटर पैदल चलकर डाक घर पहुँचा था और वी.पी. छुड़ाकर ले आया था। इतना भी सब्र न था कि मैं घर पहुँचकर पैकेट खोलूँ। अतः रास्ते में ही एक पेड़ की छाया में बैठकर बहुत सावधानी से पैकेट खोला और किताब खोलते ही जिस चीज पर पहली नजर पड़ी, वह दिनकर का भव्य चित्र था। गाँव पहुँचते ही मैंने कविताएँ पढ़नी शुरू कर दीं।

उन दिनों लाल किले में चल रहे आई.एन.ए. के मुकदमे को लेकर जनता बहुत उत्तेजित थी। स्कूल में भी सरकार के विरोध में एक बड़ी सभा हुई थी। हम लड़कों का हृदय भी जोश से लबालब था और हम लोग 'ढिल्लन सहगल शाहनवाज इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा लगाने में अपने गले का पूरा उपयोग कर रहे थे। स्वाभाविक है कि उस उत्साह के माहौल में दिनकर की *'हिमालय के प्रति'* कविता हमें अभिभूत करने में सफल होती और सचमुच ऐसा ही हुआ भी। वह पूरी कविता मुझे एक दिन में याद हो गयी और मैं जोश में आकर *'रे रोक युधिष्ठर को न यहाँ/जाने दे उनको स्वर्ग धीर/पर फिरा हमें गांडवी गदा/ लौटा दे अर्जुन भीम वीर।'* पंक्तियों को पारे के रूप में जोश के साथ दुहराने लगा।

दिनकर की दूसरी किताब 'कुरुक्षेत्र' मैंने 1947 में पढ़ी थी। मुझे याद है तब मैंने उसके प्रथम चरण में ही आए 'वलक्ष' और 'व्याहार' शब्दों के अर्थ अपने हिन्दी शिक्षक से पूछे थे। इससे मेरे शिक्षक इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मुझे अपना प्रिय शिष्य बना लिया था और जब तक मैं स्कूल में रहा वे मेरी हर प्रकार से सहायता करते रहे। फिर तो मैं दिनकर का 'फैन' बन गया और उनका जो भी कविता-संग्रह मिलता, उसे पढ़े बिना नहीं रहता था।

दिनकर जी से मेरी मुलाकात बहुत बाद में हुई। पर हुई बड़े मजेदार रूप में। 1950 में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का पहला अधिवेशन बड़े भव्य रूप में मनाया गया था। उसमें छात्र निबन्ध प्रतियोगिता भी आयोजित की गयी थी, जिसका विषय था 'हिन्दी उपन्यास का विकास'। मैं तब पटना कॉलेज का प्रथम वर्ष का छात्र था। मैंने भी निबंध लिखकर भेज दिया। मुझे याद है कि मैंने शिवनारायण श्रीवास्तव की पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' को आधार बनाकर वह लेख तैयार किया था और कल्पना भी न की थी कि मुझे वह पुरस्कार मिलेगा। यहाँ तक कि उस समारोह में भी नहीं गया था, जिसमें पुरस्कार दिया जाने वाला था। पुरस्कार की घोषणा पहले ही हो चुकी थी, पर मुझे उसका पता न था। चिट्ठी मेरे नाम से पटना कॉलेज के पते पर भेजी गयी थी, पर डाकिया उसे पटना कॉलेज के दफ्तर में दे आया था और इसका मुझे पता न था। शाम को जब कुछ छात्र उस समारोह से लौटे तो मुझे मालूम हुआ कि मुझे ही वह पुरस्कार प्राप्त हुआ है। पुरस्कार था तो मात्र एक सौ रुपये का, पर उन दिनों एक सौ रुपये की राशि बहुत बड़ी हुआ करती थी। मैं पता लगाकर दूसरे दिन दोपहर के अधिवेशन-सत्र में राष्ट्रभाषा परिषद् पहुँचा था और विधिवत पुरस्कार ग्रहण किया था। मंच पर दिनकर जी विद्यमान थे। उसके पहले मैंने दिनकर जी को प्रत्यक्ष नहीं देखा था, केवल उनका चित्र 'रेणुका' के मुखपृष्ठ पर देखा था। उनका भव्य व्यक्तित्व छिपने वाला तो था नहीं। वे मेरे पुरस्कार ग्रहण करते समय ताली बजा रहे थे। मैंने अभिभूत होकर उन्हें प्रणाम किया था।

1957 में मैं पटना कॉलेज में हिन्दी व्याख्याता पद पर नियुक्त हुआ। उस समय दिनकर राज्य सभा के सदस्य हो चुके थे और अधिकतर दिल्ली में रहा करते थे। मैं पहली बार उनसे तब मिला जब वे भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए। तब वे अपने आर्य कुमार रोड वाले नवनिर्मित भवन में रहते थे। उस समय तक 'समीक्षा' जाती थी। इस

कारण वे मुझे जानते थे। मैं डॉ. वचनदेव कुमार के साथ ही दिनकर जी से मिलने गया था। परिचय कराते ही उन्होंने कहा था- 'मैं तो इन्हें पहले से ही जानता हूँ। इन्हें तब से जानता हूँ जब इन्हें बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का प्रथम छात्र लेखक पुरस्कार मिला था।' दिनकर जी के स्नेहपूर्ण व्यवहार ने मेरा दिल जीत लिया था।

वह दिन भी मुझे याद है जब मैं उनके छोटे बेटे केदार के विवाह में बराती बनकर गया था और दिनकर को 'समधी' के भव्य वेश में देखा था। उनका जलेबी-प्रेम भी तभी देखा था। मधुमेह का रोगी होने के बावजूद जलेबी का आकर्षण उनके लिए अनिवार्य था। उन्होंने न केवल खुद जलेबियाँ खायीं, बल्कि हमें भी ललकार देकर जलेबी खाने को प्रेरित किया था।

उन्होंने *'हारे को हरिनाम'* की प्रति *'डॉ. गोपाल राय के योग्य'* लिखकर अपने हस्ताक्षर के साथ भेंट की थी, जो आज भी मेरे संग्रह में सुरक्षित है।

अक्तूबर 1974 को उनका मद्रास में निधन हो गया। दूसरे दिन जब उनका शव पटना के राजेन्द्र नगर वाले मकान में पहुँचा तो मैं वहाँ उपस्थित था। अन्तिम संस्कार में शामिल होने के लिए बाँसघाट भी गया था।

दिनकर जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त करने के लिए मैंने 'समीक्षा' का 'दिनकर विशेषांक' निकाला था। आज उनकी जन्मशताब्दी के अवसर पर श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए मेरा हृदय अश्रुपूरित है।

हिन्दी संकाय, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068.

साहित्य के गौरव दिनकर

डॉ० गणेश शंकर पाण्डेय

साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र के साथ-साथ क्षेत्र के गौरव राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर साहित्य जगत में ओज और पौरुष के कवि माने जाते हैं। इन्होंने काव्य और गद्य दोनों ही क्षेत्रों सशक्त साहित्य का सृजन कर साहित्य जगत को गौरवान्वित किया है। यदि इन्हें साहित्य जगत का क्रान्तिदर्शी कवि कहा जाए तो कदापि अनुपयुक्त नहीं होगा। इनकी कविताओं में माधुर्य की अपेक्षा ओज अधिक है। फलतः प्राणों में स्फूर्ति उत्पन्न कर देने की शक्ति उनकी रचनाओं में विद्यमान है। दिनकर जी ने अपने साहित्य में अधिकांशतः 'तत्सम' शब्दों का प्रयोग कर साहित्य को और अधिक उत्कृष्टता प्रदान की है। उन्होंने न केवल भारतीय साहित्य को वरन् विश्व साहित्य को भी अपने लेखन कर्म से समृद्ध और सुशोभित किया है। वे भावनाओं के आकाश में विचरण न करके वास्तविक धरातल पर साहित्य लेखन करते हैं। दिनकर अपने व्यक्तिगत जीवन में सज्जनता की प्रतिमूर्ति एवं विनम्रता से परिपूर्ण तो थे ही, उनका गद्य ओर पद्य भी उतना ही सरल, सुबोध और बोधगम्य है।

दिनकर ने अपनी रचनाओं में युवा उत्प्रेरक साहित्य सृजन करने के साथ-साथ देश की हताश पीढ़ी में जान फूँकने का कार्य किया है। इनकी काव्य रचनाएँ जितनी शोभायमान है, उतना ही गद्य लेखन भी सशक्त।

'हुंकार' में कवि ने जनता को अपने अधिकारों और कर्तव्यों की पहचान के लिए ललकारा है। यानी राष्ट्र से उपनिवेशवादी और साम्राज्य शोषण के प्रति जागरूक होने का आह्वान किया है। वे अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'उर्वशी' में तेजस्वी और ओजस्वी विचारों से परिपूर्ण होकर प्रेम के धरातल पर काम और अध्यात्म की लड़ाई लड़ते दिखते हैं। उर्वशी ने हिन्दी साहित्य की सर्जनात्मकता और आलोचना दोनों पर ही अपना अमिट प्रभाव डाला है। इसमें नारी के किसी रूप की भी उपेक्षा नहीं की गई है। इसमें कामनीयत्व, मातृत्व का दुर्लभ संतुलन है। हिन्दी में नारी के भोग्या जीवन का ऐसा शरीरी काव्य दूसरा शायद नहीं है।

साहित्य में उर्वशी के माता रूप का आगमन पहली बार हुआ है, उर्वशी के मातृत्व भावना का। औशिकी की व्यथा सामन्ती व्यवस्था में पीड़ित सामान्य भारतीय नारी की व्यथा है। इसमें कामाध्यात्म हैं, लेकिन कामाध्यात्म पर पुरूरवा की व्यथा का कैसा मारक व्यंग्य है।

(आचार्य, एम.ए., पी-एच.डी., बी.एड.), अध्यापक
राजकीय कृत किसान उच्च विद्यालय, धरहरा (नालन्दा)

पत्रों के आईने में दिनकर

आचार्य शिवपूजन सहाय के प्रति

सीतामढ़ी (कोर्ट)
११-९-३९

मान्यवर बन्धु,

सादर नमस्कार !

आशा है रेणुका का छपना खत्म हो गया होगा। यह भी आशा करता हूँ कि रसवन्ती और द्वन्द्व गीत में हाथ लग रहा होगा। रसवन्ती तो ओवरड्यू है। अगर वह अक्तूबर तक नहीं निकली तो फिर १९४० के अक्तूबर में ही निकल सकेगी। अतएव आपको उसके लिये शीघ्रता करने की याद दिलाता हूँ।

द्वन्द्व गीत, सारी पुस्तक *Italics* में छपना चाहिए। कामायनी की तरह उसको Arrange करना होगा। कृपया इसे ध्यान में रखेंगे।

उत्तर दीजिये।

द्वन्द्व गीत के दोनों बाकी पद जा रहे हैं। पुस्तक में जहाँ द्वन्द्व की जगह द्वन्द रह गया हो उसे सुधार देंगे।

आपका
दिनकर

सीतामढ़ी कोर्ट
२३-९-३९

मान्यवर शिवपूजन जी,

जय शंकर !

किस्मत को देखिये कहाँ टूटी है जा कमन्द। दो हाथ सिर्फ जब के लबे बाम रह गया।

शनिश्चर की छुट्टी का आर्डर कल तक को, मेरी आशा के अनुसार ही आ गया था। आज चार बजे से चलने की मैं तैयारी भी कर चुका था लेकिन अचानक कलक्टर का तार आया कि कल कोर्ट बन्द नहीं रहेंगे। लाचारी है कि वादा के मुताबिक आ नहीं सकता।

द्वन्द्व गीत और रसवन्ती की कापियाँ बिलकुल तैयार हो चुकी हैं। आज उन्हें भी लेकर आता। अब अगले रविवार अथवा शनिवार की शाम हो आ सकता हूँ। मेरे आने के बारे में श्रद्धेय मास्टर साहब को सूचना दे देने की कृपा करेंगे। मेरे लिये तो प्रबन्ध पहले से ही किया कराया रक्खा हुआ होगा। उसकी याद क्यों दिलाऊँ?

रविवार को बनारस जा रहा हूँ। बुध की रात या बृहस्पति के प्रातः लौटूँगा। लौटने पर डेरे में आपके पत्र की प्रतीक्षा करूँगा। सो जान रखें।

द्वन्द या द्वन्द्व? शुद्ध रूप तो द्वन्द्व ही है। तो क्या द्वन्द्व गीत ही ठीक होगा? द्वन्द गीत के लिये कोई उपाय नहीं हो सकता? द्वन्द्व की अपेक्षा द्वन्द सरल और कुछ मधुर भी मालूम पड़ता है और मुझे इस अशुद्ध रूप से कुछ मोह सा हो गया है। क्या इसे छोड़कर शुद्ध द्वन्द्व को ही ग्रहण करना होगा?

आपका
दिनकर

५, सफदरजंग लेन, नई दिल्ली
१९ मई, १९६७

प्रिय पंडित जी,

आपका समवेदना-सूचक कार्ड मिल गया था। रामसेवक गये तो अपनी आयु से, मगर, मेरे कालेजे में आजीवन चुभने वाला शूल छोड़ गये।

भये अजस भाजन अब प्राना, कवन हेतु नहिं करिंह पयाना?

मैं बचपन में, आवश्यकता से तो उतना नहीं, मगर गरीब परिवार में जन्म लेने के कारण शौक से गाय-भैंसे चराया करता था। पुरुषार्थ के बल पर यहाँ दिल्ली यानी संसद तक पहुँचा। गरीबी की बाधा मैंने मानी नहीं और दो भाईयों की छह और अपनी दो बेटियों का विवाह, बेटों और भतीजों की शिक्षा-दीक्षा के क्रम में अपने व्यक्तिगत सुख को बढ़ने नहीं दिया। मेरा सारा जीवन यज्ञ में बीता है, दो भाइयों को चिन्ता मुक्त रखने का यज्ञ, आठ लड़कियों के विवाह का यज्ञ। किन्तु बड़े पुण्य ने छोटे पापों से मेरी रक्षा नहीं की। अब भली भाँति समझ रहा हूँ कि विपत्ति किसे कहते हैं, लोभ, काम और कीर्ति का सुख लूटने का क्या दण्ड है। भगवान ने आग में गाड़ कर मेरा अहंकार तोड़ दिया। अपनी जिन पंक्तियों से मैं दूसरों को धीरज बँधाता था, प्रेरणा देता था, वे पंक्तियाँ मेरे लिए बेकार हैं। सहारा है तो केवल माता कौशल्या के वचन का:

सो सब सहिब जो देव सहावा।

आपका

रामधारी सिंह दिनकर

३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता-७
२६-१२-१९६०

श्रीमान्,

पण्डित श्री किशोरी दास जी वाजपेयी के व्यक्तित्व ओर कृतित्व पर दो सौ पृष्ठों का एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का निश्चय हम लोगों ने किया है। भाषा संस्कार और व्याकरण के क्षेत्र में वाजपेयी जी की सेवाएँ अमूल्य रही हैं, उनकी शैली भी इस दृष्टि से अमूल्य है कि उस पर पाश्चात्य प्रभाव प्राय: नगण्य रहा है तथा उनके प्रयोग प्रामाणिकता के प्रयोग हैं।

उनका व्यक्तित्व भी कम आकर्षक नहीं है। प्रत्येक प्रश्न पर उनकी प्रतिक्रिया एक ऐसे व्यक्ति की प्रतिक्रिया होती है जिसका कहीं भी कोई निहित स्वार्थ नहीं है। साहित्य और भाषा के अनेक विवादों में उन्होंने तेजस्विता के साथ भाग लिया है और बराबर उन्होंने बातें दो-टूक कही हैं। यह अक्खड़पन उनके स्वभाव की सबसे बड़ी शोभा है।

हम चाहते हैं कि आप अपनी रुचि के अनुसार वाजपेयी जी के व्यक्तित्व अथवा उनके कृतित्व के विषय में एक निबन्ध अवश्य दें।

वाजपेयी जी ने जिन साहित्यिक शास्त्रार्थों में भाग लिया था उनकी कहानी आज की पीढ़ी के लिए विशेष रूप से रोचक और ज्ञानवर्धक होगी। यदि आप इस विषय में कोई निबन्ध दें सके तो उससे ग्रन्थ की उपयोगिता में विशेष वृद्धि होगी।

हमें आशा है, इस कार्य में आपका सहयोग हमें प्राप्त होगा और आपका निबन्ध मास के भीतर भीतर हमें मिल जायेगा।

निवेदक

रामधारी सिंह दिनकर

नई दिल्ली
८-७-६७

मान्यवर चतुर्वेदी जी,

आपका कृपा-पत्र मिला। मेरा स्वास्थ्य इधर बहुत गिर गया है। और संयम के बावजूद तेजी से सुधर नहीं रहा है। मेरा चित्त अभी भी दबा हुआ है। ऐसी अवस्था में मैंने दो सप्ताह के लिए मॉरिशस जाना स्वीकार कर लिया है। १५ जुलाई को प्रस्थान करना है। लौटना शायद ५ अगस्त तक हो।

आपके आशीर्वाद की कामना करता हूँ।

आपका

दिनकर

पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी के प्रति

मुँगेर
५-१२-३५

श्रद्धेय चतुर्वेदी जी,

प्रणाम !

मैं प्राय: सुकशल पहुँचा। केवल रास्ते में टिकिट इनवैलिड हो जाने से पेनल्टी के ५ रु० ७ आने देने पड़े। मैंने बच्चन की प्रतिभा और अभिव्यक्ति के विषय में बहुत सोचा है।

He seems to be the harbinger of still sentiments in our literature.

आप बच्चन पर लिखते हुए सरस्वती में प्रकाशित पगध्वनि कनिका का अन्तिम पद अवश्य लिखा करें क्योंकि वह उस कविता की जान है।

मैंने बेनीपुरी जी को भी संवाद भेज दिया है। पूर्णिमा सम्मेलन के सभापतियों का चुनाव, जैसा मैंने सुना है, प्राय: खत्म हो चला है। फिर भी मैंने संदेश भेजे हैं।

हाँ, यहाँ मुँगेर में एक हिन्दी परिषद है। इस बार फरवरी के किसी सप्ताह में उसका वार्षिकोत्सव होने जा रहा है। उसके सभापतित्व के लिए लोगों ने बाबा राहुल से प्रार्थना की है। यह मुझे मालूम नहीं था। अगर बाबा ने अस्वीकार किया तो मैं प्रेमचन्द जी के लिए आखिरी कोशिशें करूँगा। हम लोगों का विचार है कि उस अवसर पर नवीन जी, सुदर्शनजी, जोशी जी, महादेवी या सुभद्रा जी भी जरूर रहें। आपका रहना तो Criminally necessary होगा। मैं आपको spare नहीं कर सकता चाहे वर्मा जी की वैशाखी ही मुझ पर क्यों न पड़ें अतएव आप finally लिखिए कि उत्सव की तिथि कब रखी जाय। आप दो सप्ताह की अवधि देकर लिखें कि 'पहली से १४ तक या १५ से २८ तक के बीच रखो' जिससे और लोगों की सुविधा का भी विचार किया जा सके। वसन्तोत्सव का रंग जरा यहाँ भी रहना चाहिए। मेरा जिला यही न है!

प्रेमचन्द जी, जोशी जी तथा सुदर्शन जी के लाने का कुछ भार आप पर भी रहेगा। हम लोग व्यय का प्रबन्ध करेंगे। आप ऐसा करें कि वे सब जरूर आवें।

कलकत्ते से लौटकर मैंने एक नई दृष्टि से यहाँ की परिस्थिति का अध्ययन शुरू किया है। मुझे ऐसा लगता है कि मेरे प्रान्त में प्रान्तीयता है ही नहीं। हम लोग बुद्धू ठीक हैं लेकिन जैसा कि मनोरंजन जी ने कहा था यह बुद्धू शब्द बुद्ध से निकला है। बिहारियों के हृदय में सारे भारतवर्ष के लिए आदर है। मैं समझता हूँ प्रेमचन्द जी, पन्त जी, भगवतीचरण जी, चतुरसेन जी, मिलिन्द जी आदि सज्जनों के नाम जिस आदर से बिहार में लिए जाते हैं वैसा और प्रान्तों में शायद ही हो। यू० पी० के अनेक साहित्यिक इस बात को जानते हैं कि जब-जब यहाँ (बिहार में) कोई उत्सव होने लगा है लोग उनके पास काशी, प्रयाग, कानपुर और लखनऊ तक दौड़े हैं। वे नहीं आये यह उनकी शोभा है। यह चेष्टा घृणा नहीं बल्कि महान आदर का द्योतक है। आज जो कुछ हो रहा है वह accidental है और उसका कोई आधार नहीं।

मैं १२ तक यहाँ हूँ। १६ से २३ तक पो० ऑ० शेखपुरा जिला मुँगेर में रहूँगा। बीच के तीन दिन इधर-उधर बीतेंगे। आप कृपया १२ तक पत्रोत्तर यहाँ ही के पते पर दें। १२ के बाद २३ तक पो० ऑ० शेखपुरा, सब-रजिस्ट्रार आफिस के पते पर।

आशा है रेणुका की एक कापी जोशी जी को मिल गई होगी। मैं परसों घर जाऊँगा और वहाँ से कापियाँ लाकर आपकी सेवा में भेजूँगा।

विश्व-वाणी में समालोचना जल्द निकलनी चाहिए।

साथ का पत्र वर्मा जी को दे दें।

धन्यकुमार जी को वन्दे।

आपका
दिनकर

पोर्ट लुइस, मॉरिशस
३० जुलाई १९६७

मान्यवर चतुर्वेदी जी,

मैं और सुमन यहाँ १७ जुलाई को पहुँचे। हवाई अड्डे पर हमारा स्वागत करने को बहुत से लोग आये थे। श्री जयनारायण राय और श्री एस॰ एम॰ भगत भी पधारे हुए थे। उन दोनों को मैंने आपका नमस्कार निवेदित कर दिया है।

जयनारायण जी तो यहाँ के प्रसिद्ध नेता हैं। हमारा कार्यक्रम बनाने को जो समिति गठित की गई उसके वे ही सभापति हैं। उस समिति द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम हमने कल रात को ही पूरा कर दिया। आज हमें भारत के लिए प्रस्थान करना था। किन्तु, कमिश्नर की इच्छा के अनुसार हमलोग एक सप्ताह यहाँ और ठहर रहे हैं। यही इच्छा शिवमंगल की भी थी।

कार्यक्रम निभाने में मैं रोज थक जाता हूँ। टहलना और आराम, इन्हें छोड़कर और सब सुख है। यहाँ बूढ़े-बूढ़े लोग जब चरण छूने को झुकते हैं, तब शर्म भी लगती है और रुलाई भी आ जाती है। बिहार की बहुत सी लड़कियाँ यहाँ व्याही हुई हैं। वे जब आती हैं, दृश्य कारुणिक हो उठता है।

गोरों के दाँव यहाँ के हिन्दू समझते हैं, मगर, हिन्दुओं के बीच एकता यहाँ है नहीं। मैंने कई भाषणों में एकता पर जोर दिया है और कहा है कि आप हिन्दुस्तान की नकल नहीं करें। उसके इतिहास से शिक्षा लेकर अपने को मजबूत बनायें।

चीनी यहाँ केवल २५ हजार हैं, मगर उनके तीन पत्र पूरी सजीवता से चल रहे हैं। हिन्दी में एक साप्ताहिक भी नहीं है जिसे अखबार कहा जा सके। बड़े-बूढ़े घर में भोजपुरी और बाहर क्रेओल बोलते हैं। मगर उनके बच्चे घर में भी क्रेओल बोलने के आदी हो रहे हैं।

भारत के लिए उत्साह है लेकिन, गोरों के चक्र को विफल करने में भारत क्या सहायता करेगा, यह मैं नहीं जानता।

प्रीमियर रामगुलाम काफी होशियार हैं। मुसलमानों और फारवर्ड ब्लाक के साथ उन्होंने एकता कर ली है, मगर कुछ हिन्दू उनसे फूट रहे हैं इस फूट का सुफल अन्त में गोरों को मिलेगा जिनकी संख्या केवल दस हजार है।

आजकल यहाँ दो-तीन स्वामी भी आये हुए हैं। मैंने टेलीविजन पर दो प्रोग्राम दिये हैं। रेडियो में कविता और तीन वार्ताओं के रेकार्ड भी दे दिये हैं।

१२-१४ अगस्त से पूर्व भारत आना मुश्किल दीखता है। क्योंकि नरोबी में भी तीन दिन रुकने का विचार है।

आपका
दिनकर

P.O. बरबीघा (मुँगेर)
१६-४-३४

परम श्रद्धास्पद चतुर्वेदीजी !

"कस्मै देवाय?" पढ़ा। आपका दृष्टिकोण सदैव जनता के लिए कल्याणकारी रहा है। प्रियतमा के छन्द गानेवाले या सरस्वती के प्राङ्गण में कलंक की कालिमा पोतनेवाले चाहे जो कह लें पर, जनता विज्ञान-वार्त्ता के इस संघर्ष-युग में भी अपने कल्याण-चिन्तक को पहचानती है। और पत्र-पत्रिकाओं के बीच विशाल भारत के लिए एक खास इज्जत दिखाने की पद्धति इस बात को प्रमाणित करती है। कम-से-कम बिहार के लिए यह सत्य समझें। हम कलाबाजियों के नहीं, सादगी के प्रेमी हैं। जनता-जनार्दन का आप पर जो Impression है, इस "कस्मै देवाय" ने उस पर मुहर लगा दी। उच्छृंखल गल्प-लेखकों, कामशास्त्र के टीकाकारों, "महापुरुषों के दूसरे पहलू" के बहाने उद्दीपक निबन्धों के प्रकाशकों के घमासान में भी विशाल भारत हमारे गांवों को नहीं भूलता, यह गौरव की बात है। It is a poetry in itself आशा है इस "धूसर गवन स्वर्ग" की ओर अधिकाधिक कलाकार अपनी तूलिका के साथ अग्रसर होंगे।

कहना व्यर्थ है कि "कविता की पुकार" "कस्मै देवाय" के महाप्रश्न का उत्तर है। निबन्ध पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा कि वैदिक युग में शैल-तरी में बहनेवाले निर्झर के पुलिन पर, ऊषा के आलोक में कोई युवक चिल्ला उठा हो:- "कस्मै देवाय हाविषाविधेम?" मेरी कविता अपनी असहाय एवं अस्पष्ट वाणी में इसका उत्तर लेकर, कला के प्रांगण में अपना चाहती है। भगवान् का आशीर्वाद।

मेरा वर्तमान पता:
श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' बी॰ ए॰ (आनर्स)
Headmaster, H.E. School
P. O. Barbigha (Distt. Monghyr)

भवदीय
रामधारी

आरसीप्रसाद सिंह के प्रति

सासाराम
१२-६-३८

प्यारे आरसी!

तुम्हारा तकल्लुफदार खत मिला। यह देखकर दु:ख हुआ कि नोटिस के नीचे अपने नाम को तुमने काट दिया है। अगर तुम्हें सभाओं के साथ अपने नाम जोड़ने में इतनी दिक्कत मालूम होती है तो तुम डेढ़ सौ कोस से दूसरों को किस विरते पर बुलाना चाहते हो? मैंने माना कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुम निर्लिप्त साहित्यिक के रूप में जा रहे हो, किन्तु क्या तुम्हारी यह सरलता (तुम्हारे स्वभाव के इस अंग को मैं यही मान लेता हूँ) अपने घर वालों के सामने ऐंठ सी नहीं दीखेगी? समय आ गया है कि तुम्हें कोड़े लगाये जायँ। इसीलिये जान-बझ कर यह समीक्षा कर देनी पड़ी। तुम बहकते भी तो जा रहे हो।

देवव्रत जी के यहाँ तुम्हारा संग्रह देखने का संयोग मिला। सब मिला कर तुम्हारा सम्पादन भी मुझे अच्छा लगा, लेकिन एक बात खटकी। प्रारम्भ की कई कविताएँ एक ही छन्द में पड़ गयी हैं जिससे कुछ Monotony आ जाने का डर है। एक ही छन्द वाली एक या दो कविताओं के बाद दूसरे छन्द वाली को स्थान देना अच्छा होगा। किन्तु, यदि तुमने अपनी कल्पना और स्वप्न के सिलसिले के साथ उनका क्रम बांधा है तो, मैं अपना Suggestion वापस ले लूँगा। दरअसल मुझे अधिक समय तक उसे देखने का मौका ही नहीं लगा कि वातावरण की तह तक पहुँच सकूँ।

जनता के जिस अंक में तकदीर का बँटवारा छपा है उसी में भाई राधाकृष्ण की एक कहानी मिली। पढ़कर तबीयत फड़क गई, क्या जबान पायी है। और कितनी हिम्मत। राधाकृष्ण धरती के कलाकार हैं इसीलिये उनपर स्नेह बढ़ता जा रहा है तुम उनके अन्तरङ्गों में से हो, कभी मेरी बात भी उन तक पहुँचा देना। लिखना कि वह जिस गद्य शैली का निर्माण कर रहे हैं उसे बहुत अंशों में हिन्दुस्तानी का आदर्श मानता हूँ। इस पीढ़ी के बहुत कम लेखक ऐसी चलतू भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। अगर समय की गति के साथ उनकी अर्न्तदृष्टि गंभीर और व्यापक होती गई तो हिन्दी को प्रथम श्रेणी का कलाकार प्राप्त हो जायगा।

एक बात और, और बस।

संचयिता तुमने किसी को दे दी क्या? अगर नहीं तो उसके साथ और कुछ पुस्तकें भी पार्सल से भेजो। तुम तो अब कमाने लगे। यह पार्सल का भार अखरेगा नहीं। अगर तुम्हारी आवश्यकता बनी रही तो सभी पुस्तकें पढ़कर तुम्हें फिर से भेज दूँगा। भाई! मैं तो सच्चा देहाती हो रहा हूँ। समय असमय कोई कष्ट दिया करूँ तो स्वीकार कर लिया करो।

आशा है, तुम प्रसन्न हो।

तुम्हारा
दिनकर

P.O. Belsand
9-9-35

My dear Chaturvedijee,

Pranam. I have already applied for leave for 16th inst. as have asked for the permission for 15th too, to leave my station. Hope you are coming on the 15th unfailingly. If you have decided otherwise please wire me and oblige.

The roads are overflooded and the journey is cumber-some and expensive. If you do not come to Patna, my going there shall be all useless. If you despatch your reply by letter on the 11th, I may get it on the 13th or 14th alright. My book is expected to be out by the first week of Oct. I shall do all that you wish me to do.

अभी बेनीपुरी की चिट्ठी मिली है कि आप २२ को पटने जा रहे हैं। बात क्या है? लिखें।

Sincerely yours,
Dinkar

डॉ॰ शिवमंगल सिंह 'सुमन' के प्रति

पटना

३-९-१९५२

प्रिय भाई!

मेरी एक पोती तीन साल की है। दूसरी भी हुई है, जिसकी आज छठी है। शाम को श्रीमती जी ने गर्म दूध से अपना चेहरा जला लिया। उनका उपचार चल रहा है। इस प्रकार, घर में सुख और दु:ख दोनों विद्यमान है। और पस्ती में बैठे-बैठे मुझे तुम्हारी याद आ रही है। अय हर आदमी से साँसों का हिसाब माँगने वाले, कुछ अपनी साँसों का भी हिसाब दो। तुम कविताएँ कम लिखने लगे हो। साल में एक दर्जन नहीं लिखोगे तो फिर जवानी को धिक्कार। चालीसा के बाद तो तीन लिखना भी दूभर हो जाएगा। और अपनी भाषा के प्रशंसक कम, निन्दक अधिक जन्म लेते हैं। इकबाल ने, शायद, सोलह साल कविता की कोई पुस्तक उर्दू में नहीं निकाली थी और इलियट के वेस्ट लैंड से फोर क्वाट्रेंट तक की दूरी भी बीस साल की है। मगर, हिन्दी में कोई ऐसा करे तो उसकी मृत्यु का ढिंढोरा सब लोग पीटने लगते हैं।

हिन्दी कविता की प्रगति अवरुद्ध है। हर बारह साल के बाद नये क्षितिज की निर्माण होना चाहिए, आशा के विरुद्ध दिशा से किसी कवि को उतरना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि तुम अपने आपसे एक प्रश्न करो कि तुमने अपने हिस्से के नये क्षितिज का निर्माण कर लिया या वह काम अभी बाकी है। मेरे ख्याल से, तुम्हारा क्षितिज अभी तक पूर्ण रूप से उभर कर सामने नहीं आया है।

और कवि की संकीर्णता की वृद्धि कवि-सम्मेलनों में होती है, यह तुम जान लो। हम सभी लोगों को भागना चाहिए इन सम्मेलनों से। मैं तो कोशिश करके हार गया, मगर, कवि-सम्मेलनों से छुटकारा नहीं मिलता। बेबसी है। फिर भी जिस सत्य को अनुभव करता हूँ, वह तुम्हें बता रहा हूँ। मैं तुम्हारा गुरु नहीं, अग्रज नहीं, एक पीठ का भाई हूँ, इसलिए, हर बात कह सकता हूँ और तुम्हें भी यही अधिकार देता हूँ।

कविता की भूमि जकड़ी जा रही है। ऐसी चीजों की जरूरत है जो आलोचकों को अनुपस्थित मानकर लिखी जाएँ, जिन्हें जनता आसानी से समझ सके और समझकर आनन्द उठा सके। और ऐसी चीजों की भी जरूरत है जिनके भीतर से कवि अपने आप पर आड़ी चलाता हो, अपने आप को चीरता हो, जिनके भीतर से उसके दिमाग के फटने की आवाज सुनायी देती हो। आशा है, संकेत समझ रहे हो।

और आज ही एक कविता लिखी है जिसका नाम 'संकेत' रखा है। दो पद उसके ये हैं:-

दूँ तुमको जीभ उधार? सूर्य, क्या बोलोगे?
भाषा जिनकी मौजूद, भाव वे जूठे हैं।
हैं भेद अछूते जो, उनको कहना चाहो
तो वाणी के साधन समस्त ये झूठे हैं।
संकेतों से आगे वाणी की राह नहीं,
कुछ लाभ नहीं किरणों को मुखर बनाने से।
रव की झंकारों से न भेद खुल पायेगा,
जो खुला नहीं नीरव प्रकाश फैलाने से।

मैं अपने भीतर थकावट अनुभव करने लगा हूँ। लगता है, अब तक जब भी रचना की समाधि में जाता था, मेरी मुद्रा तनी हुई रस्सी के समान हो जाती थी और उसी मुद्रा में अच्छी कविताएँ लिखा करता था। मगर, अब तनाव को मन बर्दाश्त नहीं करता, न इतना अच्छा स्वास्थ्य ही रह गया है कि तनाव का संकट झेल सकूँ। इसलिए, अब जो नई टेकनिक पसन्द आ रही है उनके पीछे कुछ शारीरिक शिथिलता भी काम कर रही है। मम्मट के काव्य के कारणों में एक कारण स्वास्थ्य को भी माना है। वह बहुत ठीक है।

मगर, तनाव की कविता भी खूब होती है। मैं अपनी मुट्ठी से मशाल फेंक रहा हूँ। तुम उसे बायें हाथ में ले लो। दाहिने में तो तुम अपनी मशाल ले आये हो। भगवान करे तुम्हारे हाथ में यह मशाल अप्रतिम तेज से जले।

But mind you my dear, the greatest force is in the greatest restraint and when you begin to write less, you will begin to say more.

बक गया हूँ जुनूँ में क्या-क्या कुछ, कुछ न समझे खुदा करे कोई।

सस्नेह

दिनकर

पुत्री विभा के प्रति

Peking Hotel, China
30-10-57

प्यारी बेटी,

साथ के पत्र से मेरा पिछला और अगला प्रोग्राम मालूम होगा। यह देश है तो भारत (यहाँ भी धान, गेहूँ, शकरकन्द और कोबी हैं, बाँसों के झुरमुट हैं, झोंपड़े हैं, मिट्टी के मकान हैं, गन्दगी है) किन्तु, यहाँ राज-काज दूसरे ढंग का है। बाजार में सभी दुकानें सरकार की हैं, किताबें भी सरकार ही छापती है, अखबार भी सरकार ही निकालती है और सारे देश के लोग नीले रंग का कपड़ा पहनते हैं। आदमी यहाँ बहुत हैं। सड़कों के दोनों ओर लोग भरे रहते हैं जिनमें कल्लो और पूनम की उम्र के बच्चे भी अगणित होते हैं। औरतें भी कोट और पैंट ही पहनती है। लड़कियाँ अक्सर दो चोटियाँ निकालती हैं और माँग गरदन से ललाट तक चीरती हैं। देश गरीब है। इसलिए, ज्यादा लोग रूई-भरा पैंट और कोट पहनते हैं। छींट की दुलाई खूब चलती है और छींट के रूई-भरे कोटे में बच्चे खूब गुलथुल दीखते हैं। सच पूछो तो सौन्दर्य इस देश में बच्चों में ही मिलता है।

सारे देश के लोग पूरे मन से सरकार के साथ हैं और सभी व्यक्ति देश को शीघ्र-से-शीघ्र और सम्पन्न बनाने के लिए जी-तोड़कर काम कर रहे हैं। यहाँ विरोधी सभा और जुलूस तथा नारे और राजनीतिक कुढ़न कुछ नहीं है। लड़की और लड़के व्यायाम भी खूब करते हैं। यह गुण भारतवासियों को भी सीखना चाहिए।

तुम्हारा
रामधारी

लोकनायक जयप्रकाश नारायण के प्रति

पटना
९-११-५८

मान्यवर जयप्रकाश जी!

प्रणाम।

मानवीय गुणों पर जोर देते हुए आपने अभी हाल में जो बयान दिया है उसकी कतरन मैंने पास रख ली है और उसे कई बार पढ़ गया हूँ। अजब संयोग की बात है कि जब आपका बयान निकला, मैं धर्म और विज्ञान पर एक निबन्ध लिख रहा था जो ४० पेज तक गया है, मगर, अभी कुछ अधूरा है। बयान पढ़कर मुझे लगा कि आप जिस चीज को इतनी अच्छी भाषा में और इतनी सुस्पष्टता के साथ कह रहे हैं, मेरी असमर्थ भाषा भी उसी के आसपास चक्कर काट रही है। इस बयान पर लोगों की क्या प्रतिक्रिया है, यह भी मुझे मालूम है। लेकिन, हर बड़े काम की राह में लोक-मत कुछ बाधक बनकर आता है और उनकी उपेक्षा किए बिना ये काम किए नहीं जा सकते। वर्तमान सभ्यता अनेक रूढ़ियों को तोड़कर आगे बढ़ी है, लेकिन, मुझे अब पूरा सन्देह हो रहा है कि वह खुद एक प्रकार की रूढ़ि में जा फँसी है, जिसका उपयुक्त भाषा के अभाव में, मैं 'बुद्धि की रूढ़ि' नाम देता हूँ। अगर मनुष्य को विकसित होना है तो उसे इस रूढ़ि से भी निकलना होगा। बट्रेण्ड रसल ने लिखा है कि आदमी में तीन प्रवृत्तियाँ होती हैं, instinct to live, instinct to think and instinct to feel. ये मैं अपनी भाषा में रख रहा हूँ। Feel शायद उसने नहीं कहा है। इस प्रवृत्ति का नाम उसने spirit की प्रवृत्ति दिया है। इन तीनों में समन्वय हुए बिना मनुष्य का दोषहीन विकास नहीं हो सकता। रसल और हक्सले के अलावे, मैंने Alexis Carel की Man : The Unknown नामक किताब में भी यही देखा कि वैज्ञानिक सभ्यता गलत दिशा की ओर जा रही है और मैं मान गया हूँ कि कैरेल का कहना बिल्कुल ठीक है। एक धारा है जो सबको बहाए लिए जा रही है। जरूरत है उन पुरुषों की जो इस बहाव में बहने से इनकार कर दें। आपने अपना पाँव जमा लेने का इरादा किया है, इसलिए, मैं आपका सादर अभिनन्दन करता हूँ।

युद्ध-काव्य के विषय में भी आपका सुझाव बेनीपुरी से मिला है।

आपका
दिनकर

हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रति

साउथ एवेन्यू, नयी दिल्ली
४-१२-५७

मान्यवर द्विवेदी जी,

हिन्दी की राजनीति, सद्यः दुर्बल दीखती है। तमिलनाड और बंगाल पूरे जोर पर हैं। समाचार आप पढ़ ही रहे होंगे। प्रचार पुस्तिकाएँ भी प्राप्त हो रही होंगी। अतएव, हिन्दी तथा अन्य देशी-भाषाओं की ओर से भी कुछ कहा जाना चाहिए। बिहार-सम्मेलन का अधिवेशन ७-८ को मुँगेर में है। उसमें एक दिन आप भी आ जायें तो अच्छा रहे। काशी में जो सम्मेलन हो रहा है उसके प्रस्ताव दिल्ली में छपने चाहिए। प्रयाग में परिषद् जो कुछ कहे, उसे भी दिल्ली में छपना चाहिए। प्रत्येक प्रस्ताव की प्रतिलिपि गृहमंत्रालय को जानी चाहिए।

देश में जो स्थिति उत्पन्न की जा रही है, वह विघटन को उत्तेजना देगी। असल में, समस्या क्या है? हम हिन्दी को किसी पर भी नहीं लादने की बात बार-बार कह चुके हैं और हम उस पर आरूढ़ भी हैं। फिर भी लोग हिन्दी वालों को भाषा-साम्राज्यवादी कह रहे हैं। Give the dog a bad name and then hang him. मैं तो सोचता हूँ कि हिन्दी-देश की राजभाषा हुई है या नहीं अथवा उसे राजभाषा होना चाहिए या नहीं, इसका निर्णय अहिन्दी-भाषियों पर ही छोड़ देना चाहिए। वे यदि चाहें तो हिन्दी को राजभाषा बना लें। अन्यथा उन्हें जो निर्णय पसन्द हो, वही कर लें। किन्तु, इतने से ही समस्या का समाधान नहीं होता। संविधान में देश ने एक निर्णय किया और नेताओं ने कहा कि उस निर्णय को काम में लाना चाहिए। हिन्दी-प्रान्तों को इस काम में कठिनाई कम दीखी। अतः, उन्होंने अपने विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बदल दिया। कुछ अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम वहाँ-वहाँ की क्षेत्रीय भाषा बना दी गयी है। अब मुख्य प्रश्न यह है कि उन विश्वविद्यालयों से जो ग्रेजुएट तैयार हो रहे हैं, उनके लिए केन्द्रीय नौकरियों के दरवाजे खुलेंगे या नहीं? बंगाल और तमिलनाडु, अंग्रेजी का पल्ला नहीं छोड़ना चाहते। तो उनके लिए अंग्रेजी का माध्यम बना रहने दीजिये। किन्तु, जो न्याय बंगाल और तमिलनाडु चाहते हैं, वही न्याय हिन्दी-प्रान्तों समेत गुजरात और महाराष्ट्र को भी चाहिए। अन्यथा स्थिति यह हो जायगी कि इन प्रान्तों के युवक अधिकाधिक संख्या में बेकार होते जायेंगे और उनके इलाके उन लोगों के चारागाह बने रहेंगे जो अंग्रेजी में हुशियार हैं। यह स्थिति अन्याय की स्थिति होगी और इन प्रान्तों को जनता उसे स्वीकार नहीं करेगी। फिर जो सरकार, छोटे आन्दोलनों से भीत हो कर, राजभाषा के प्रश्न पर निराशाजनक निर्णय करेगी, उसे अत्यन्त भीषण आन्दोलन का सामना करना पड़ेगा और इन आन्दोलनों से देश की एकता को चोट पहुँचेगी, अतएव कुशल का एकमात्र मार्ग यही है कि केन्द्रीय नौकरियों के दरवाजे अंग्रेजी समेत उन सभी भाषाओं के लिए खोल दिये जायें जिनमें स्नातक तैयार होते हों। निराशाजनक निर्णयों से हिन्दी-प्रान्तों में जो भाव उदित होने वाला है उसकी सूचना अभी से दिल्ली से दे दी जानी चाहिए। लोग एकतरफा भय से सहमे जा रहे हैं। भाषणों, लेखों, वक्तव्यों और प्रस्तावों को दिल्ली में छपवाने की बहुत आवश्यकता है।

आपका
दिनकर

भागलपुर-विश्वविद्यालय
४-३-६४

प्रिय जयप्रकाशजी,

गाँधी-विचार-धारा में डिप्लोमा-कोर्स चलाने की योजना की एक प्रति आपके अवलोकनार्थ भेज रहा हूँ। हमारे यहाँ के शिक्षक इस योजना को व्यावहारिक मानते हैं। पता नहीं, बाहर के शिक्षा-विशारद् कैसा समझेंगे?

योजना पर आवर्त्तक-व्यय कोई नब्बे हजार रुपये प्रति वर्ष पड़ेगा। इसमें अगर गाँधी-स्मारक-निधि, विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग और बिहार-सरकार तत्परता से अनुदान दे तो योजना जुलाई से चालू हो जायेगी।

आप अपनी प्रतिक्रिया लिखित रूप में भेजने की कृपा करें और अनुकूल सूत्रों को पत्र लिखें कि धनाभाव के कारण यह योजना रूक नहीं जाय।

आपका
रामधारी सिंह दिनकर

श्री श्रेयांस प्रसाद जैन के प्रति

२, साउथ एवेन्यू, नई दिल्ली
२३-१२-६६

प्रिय श्रेयांसजी,

अपने बड़े लड़के की बीमारी के बारे में मैंने जो पत्र आपको लिखा है, वह मिला होगा। परसों दिल्ली के चार-पाँच वैद्यों ने उसे देखा और उसका इलाज शुरू किया है। आज मुझे यह सूझा है कि इस भयानक रोग के बारे में पण्डित शिव शर्मा की राय लेना बहुत ही आवश्यक है। इसलिए कागज का एक गुच्छा पंडित शिव शर्मा के लिए भेज रहा हूँ। अगर शर्मा जी बम्बई में हों तो आप फोन पर उनसे बात करके कागज उन्हें विश्वासी आदमी के जरिये भेज दीजिये और आग्रह कीजिये कि वे एक दिन यहाँ आकर मेरे बेटे को देख जायें।

मैं गरीब आदमी हूँ। शर्माजी का भार उठाना मेरी शक्ति के बाहर है। लेकिन अगर वे आने को तैयार हों तो वायु-मार्ग का किराया उनके चरणों पर रख दूँगा। मैं भारी विपत्ति में हूँ। आप एक बार मेरे बच्चे को शर्माजी से दिखला दीजिये। मुझे लगता है, वे अगर आ गये तो रामसेवक बच जायेगा।

आपका
दिनकर

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के प्रति

साउथ एवेन्यू लेन, नई दिल्ली
२१-८-६५

श्रद्धेय वाजपेयीजी,

आपका पत्र आज मिला। आपका यह पितृ-स्नेह बलदायक होगा।

आपने जो बातें बतलायी हैं, उनमें से अधिकांश पर आरूढ़ हूँ—यहाँ तक कि अब ब्रह्मचर्य में भी ढील नहीं है। किन्तु, असली बीमारी मेरे मन में बसी हुई है और वह परिवार को लेकर है। दुर्भाग्यवश, मेरे बड़े लड़के ने परिवार का ध्वंस कर दिया, रजिस्ट्री से बँटवारा कर लिया और अब बतलाता है कि उसके पास जीविका नहीं है। मैंने राय दी कि जो घर तुम्हें हिस्से में मिला है उसे किराये पर उठा तो और खुद किराये में रहो। मेरे पास जो सम्पत्ति थी, दोनों भाइयों के बीच बँट गयी। मेरे पास न घर है, न कारोबार। पटने में किराये के मकान में रहता हूँ। सम्पत्ति के नाम पर एक मोटर कार है जो पटने में है।

राहुलजी की दुर्दशा उनकी पत्नी ने की। नवीनजी को मृत्यु के मुख में उनकी पत्नी ने ढकेला। बेनीपुरी की दुर्दशा उसके पुत्र ने की और मुझे भी दुर्दशा में मेरा बेटा ही डाले हुए है। जो कहीं भी मार नहीं खाता, वह सन्तान के हाथ मारा जाता है। तब भी मानता हूँ कि भगवान मेरे बेटे का कल्याण करें।

भागलपुर में हालत बहुत खराब थी। दिल्ली में ज्यादा आराम है। तब भी दिमाग के भीतर खंजर घूमता रहता है। बड़ी मुश्किल से उसे रोक पाता हूँ। मैं जीवन में चारों-ओर से घिर गया हूँ। मृत्यु और वैराग्य के सिवा तीसरा दरवाजा दिखायी नहीं देता है। दुःख भूलने की वाइस-चान्सेलरी की ओर गया था। दुःख भूलने को ही दिल्ली आ गया हूँ। किन्तु, संसार-त्याग के बिना मुझे मानसिक शान्ति अब शायद नहीं मिलेगी।

आपके उपदेशों पर अमल करने की कोशिश करूँगा।

आपका
दिनकर

नई दिल्ली
१३-३-७०

प्रियवर,

आपका २६-२-७० का पत्र मिला। उसके पूर्व ही राजेन्द्रलाल जी लम्बी छुट्टी पर चले गये। छुट्टी पर से ही अवकाश ले लेंगे। फिर भी कागज उन्होंने मुझसे मँगा लिया। आज फोन पर उनसे बात हुई। बोले, विज्ञापन चला गया होगा या तुरन्त जायगा। जब मुझसे आपने कह दिया, तो निश्चिन्त हो जाइये। पता नहीं, विज्ञापन आपको मिला है या नहीं।

अपनी हाल की कविताओं के पक्ष में मैं अभी कुछ भी नहीं कह सकता। मेरा कोई खास मत बना नहीं है। केवल यही कह सकता हूँ कि इन कविताओं की मैं रचना नहीं करता। वे अकस्मात् पत्तों की तरह फूट निकलती हैं। हाँ, बाद को शब्द बदलने में कठिनाई होती है, दिमाग फटने लगता है। गैरवाजिब ढंग से बैठे हुए शब्द भी हिलने से इन्कार कर देते हैं। यह नया अनभुव है।

आपका कहना ठीक है कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ। इतना और जोड़ दीजिये कि मैं विपत्तियों से झुलसा हुआ हूँ। मेरे जीवित रहने की कोई लॉजिक नहीं थी, फिर भी बच गया हूँ। लेकिन इसे कौन देखे? सच्चे-शहीद भी मरने के पूर्व तक सन्देह के पात्र रहते हैं। मैं तो नकली ठहरा।

आपका पत्र पढ़कर मन कुछ सोचने लगा था। उसी मुद्रा में एक कविता फूट पड़ी। केवल अवलोकनार्थ भेज रहा हूँ।

२७ मार्च को शाम को पटना पहुँचूँगा। २८ को नालन्दा जाना है।

मैं मुजरिम हूँ,
यह बात मैं कैसे मान लूँ?
गीतों की यह विद्या मेरी चुनी हुई नहीं है।
यह तो सरस्वती की अपनी पसन्द की राह है।
मैं तो वर्षों से गीतों के इन्तजार में था
कि आने वाली नदियों के समान
वे नाचते और उछलते जायेंगे।
लेकिन उन्होंने एक नयी चाल पकड़ ली है।
मैं उन्हें कोई बात सिखा नहीं सकता
न वह रास्ता दिखा सकता
जिस पर मेरी सरस्वती की
सवारी आती थी।
मैंने अपने आपको क्षमा कर दिया है।
बन्धु तुम भी मुझे क्षमा करो।
मुमकिन है, वह ताजगी हो,
जिसे तुम थकान मानते हो।
ईश्वर की इच्छा को
न मैं जानता हूँ, न तुम जानते हो।

आपका
दिनकर

डॉ॰ गोपाल राय के प्रति

२ साउथ एवेन्यू, नई दिल्ली

३-११-६६

प्रिय राय जी,

मैं २९ तारीख को पटने था, मगर, आपसे मुलाकात नहीं हो सकी। आज प्रवास से वापस आने पर आपका पत्र मिला। उद्धरण दोनों सचमुच अशुद्ध हैं। अगले संस्करण में मार्जन हो जायगा। तथ्य की ओर कोई भूल हो तो नि:संकोच लिखियेगा।

आलोचक यदि हितकामी हो तो वह भी प्रशंसक के ही समान प्रिय है। मुझे दोनों प्रकार के आलोचक उपलब्ध रहे हैं, वे भी जो आलोचना करते समय केवल कृतियों को देखते हैं और वे भी जिनकी दृष्टि कृति पर कम, मेरे अप्रिय व्यक्तित्व पर अधिक रहती है। आशा है, आपके शिष्य प्रथम कोटि के हैं। आशा है आप प्रसन्न हैं।

आपका

दिनकर

श्री मन्मथनाथ गुप्त के प्रति

नई दिल्ली

१८-५-६७

प्रिय मन्मथ बाबू,

एक पत्र आपका आज मिला, एक पहले मिला था। पहला कम कटु था। दूसरा ज्यादा है।

मैं भाग कहाँ से गया? नौकरी में हूँ ही, खाना-पीना चल ही रहा है, मौके पर हँस भी लेता हूँ, आजकल दफ्तर में डटकर ८ घंटे काम भी करता हूँ। हाँ, इस घर से भाग जाना निश्चित हो गया। २३ मई से मेरा पता होगा–

५, सफदर जंग लेन।

घोष साहब के बारे में मेरी जानकारी कुछ है ही नहीं। किसी दिन खोदकर जीवनी सुनवाइये तो कोई अच्छी चीज तैयार की जा सकती है।

शाह तो बड़ा भारी वैसा निकला।

अभी आठ दिन मैं बहुत व्यस्त रहूँगा। सरकार में हिन्दी की स्थिति पर एक रिपोर्ट तैयार कर रहा हूँ, अच्छा तभी था जब गरजता था और फूल की मालाएँ पहनता था। सरकारी तन्त्र में घुसकर हिन्दी में काम करना सबके साथ झगड़ा मोल लेना है। जो अफसर हिन्दी के मामले में जितना शैथिल्य दिखलाता है, वह भारतीय एकता का उतना ही बड़ा प्रहरी समझा जाता है।

आपका

दिनकर

श्रीमती पद्मा सचदेव के प्रति

नई दिल्ली
२९-९-६७

प्रिय पद्मा,

तुम्हारी पुस्तक 'मेरी कविता : मेरे गीत' की भूमिका पत्र के साथ संलग्न है। प्राप्ति की सूचना देना।

आशा है तुम स्वस्थ हो।

तुम्हारा
दिनकर

भूमिका:–

जब से स्वराज्य हुआ है, भारत की भाषाओं में जान आ गयी है। जिसमें जहाँ तक बढ़ने का दम है, वह वहाँ तक बढ़ने की कोशिश कर रही है। देश के कुछ बड़े-बढ़े लोग, जिन्होंने भारत की मिट्टी को नहीं समझा था, जो बड़े-बड़े शहरों में जनमे और वहीं बढ़कर अब वृद्ध हो गये हैं, जिन्होंने अंग्रेजी में दक्षता प्राप्त करके पहले अंग्रेजों को चकित किया और स्वराज्य के बाद से जो नये राजनीतिज्ञों को भी चकरा देने में कामयाब हो गये हैं, वे लोग कहते हैं कि भाषाओं का जागरण भारत के लिए सबसे बड़ा खतरा है। लेकिन, मुझ जैसे सिर-फिरे लोग यह समझते हैं कि भारत की भाषाएँ यदि नहीं जगीं, तो पार्सल से जो स्वराज्य १५ अगस्त १९४७ ई॰ को आया था, वह मुर्दा-का-मुर्दा पड़ा रहेगा। जनता को उसकी भाषा नहीं मिली, तो वह बढ़ेगी कैसे? वह अपने दु:ख-दर्द, उम्मीद और उमंग की अभिव्यक्ति क्या अंग्रेजी की मदद से करेगी? ऐसे सभी बड़े लोगों से मेरा एक ही सवाल है कि अगर जनता को उसकी भाषा मिलने वाली नहीं थी तो फिर स्वराज्य की ही ऐसी जल्दी क्या थी। शासन का लिबास तो बदल गया, मगर जनता के हृदय के भीतर उमंग का चिराग जलाने का रास्ता कब खुलेगा?

अंग्रेजी में कविताएँ लिखकर बहुत से हिन्दुस्तानियों ने हिन्दुस्तान वालों को चक्कर में डाल दिया। मानो वे कह रहे हों, देखा? जिस भाषा में तुम ठीक से बात नहीं कर सकते, उसमें हम कविताएँ लिखते हैं। मगर इन कविताओं को पढ़ा किसने? जो असली हिन्दुस्तानी हैं, वे अपनी कविताएँ अपनी भाषाओं में पढ़ते हैं और उन्हीं कविताओं पर झूमते भी हैं। रह गये अंग्रेज, सो वे तो अंग्रेजी में कविता लिखनेवाले हिन्दुस्तानियों को कवि ही नहीं मानते। आरू दत्त को भी नहीं, तोरू दत्त को भी नहीं, भारत-कोकिला को भी नहीं, हरीन्द्र चट्टोपाध्याय को भी नहीं। है इनमें से कोई कवि जिसकी कविता अंग्रेजी कविताओं के किसी भी प्रतिनिधि -संग्रह में स्थान पा सकी हो? और मेरे सामने "कामनवेल्थ एन्थालाजी" का नाम मत लीजिये। यह विशेषण ही बताता है कि संग्रह, साहित्य नहीं, राजनीति की दृष्टि से किया गया है।

कविता की असली भाषा कवि की मातृभाषा ही हो सकती है। सीखी हुई भाषा में ज्ञान का साहित्य लिखा जा सकता है, रस का साहित्य लिखा नहीं जा सकता। और रस-साहित्य में भी कविता और गीत के बीच भेद है। कविता में कुछ ज्ञान भी होता है, पाण्डित्य भी होता है, कवि की कारीगरी भी होती है। मगर गीत केवल रस की बूँद हैं, कवि के भीतरी व्यक्तित्व के प्रस्वेद हैं, उसके दर्द की खुशबू है। उनके लिए ज्ञान और पाण्डित्य साधक नहीं, बाधक ही होते हैं:–

इश्क को दिल में जगह दे 'अकबर',
इल्म से शायरी नही आती।

कभी सोचा है कि संस्कृत में गीत क्यों नहीं लिखे गये? संस्कृत का चलन कई हजार साल तक रहा, फिर भी जयदेव को छोड़कर और कोई कवि संस्कृत में नहीं हुआ जिसे हम गीतकार कह सकें। कारण स्पष्ट है। संस्कृत कभी भी मातृभाषा नहीं थी। मातृभाषा, बराबर कोई-न-कोई प्राकृत रही थी। संस्कृत पर अधिकार सहज में प्राप्त नहीं होता था, वह प्राप्त किया जाता था।

गाथासप्तशती प्राकृत में जनमी, क्योंकि उसके भीतर पाण्डित्य नहीं, जनता के हृदय की भावनाएँ हैं। और गोवर्धनाचार्य जब संस्कृत में आर्या सप्तशती लिखने लगे, तब उन्हें अनभुव हुआ, मानों, वे नीचे बहनेवाले जल को नल के द्वारा ऊपर चढ़ा रहे हों।

और जो हाल संस्कृत का हुआ, वही हाल हिन्दी का रहा है। हिन्दी में कविताएँ अत्यन्त उच्चकोटि की लिखी जाती हैं, मगर असली गीत हिन्दी या उर्दू में नहीं लिखा जा सकता। यहाँ तक कि सिनेमा ने भी यह साबित कर दिया है कि उपभाषाओं अथवा जनपदीय भाषाओं का सहारा लिये

बिना सच्चे गीत लिखे ही नहीं जा सकते और चूँकि सिनेमा वाले लोग उर्दू-परस्त हैं, इसलिए जनपदीय भाषाओं से रस लेना वे नहीं जानते। जैसे संस्कृत, प्राकृत से आगे बढ़े जाने के कारण गीतों की भाषा नहीं रही, वैसे ही गीतों की भाषा हिन्दी-क्षेत्रों में भी हिन्दी नहीं, डोगरी, पंजाबी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, मैथिली और अंगिका रह गयी हैं।

और डोगरी के गीत कितने विलक्षण होते हैं, यह देखकर आजकल मैं दंग हूँ। डोगरी की सहज कवयित्री श्रीमता पद्मा सचदेव का मैं बड़ा ही उपकार मानता हूँ कि उन्होंने मेरे घर आकर मुझे उस अद्‌भुत आध्यात्मिक सम्पत्ति का ज्ञान कराया जो डोगरी भाषा में बिखरी पड़ी है।

कविता में आजकल ज्ञान का युग चल रहा है। यानी कविता मर गयी है, उसकी लाश पर बड़े-बड़े पंडित कलाकार करीगरी और नक्काशी करके नोबुल-पुरस्कार पाते हैं और हम जब उनकी शुहरत से खिचकर उनकी कविताएँ पढ़ने लगते हैं, तब हमारा मोह-भंग हो जाता है।

पद्माजी ने डोगरी के लोकगीतों के सिवा कुछ अपनी कविताएँ भी मुझे सुनायी और उन्हें सुनकर मुझे लगा, मैं अपनी कलम फेंक दूँ, वही अच्छा है। क्योंकि जो बात पद्मा कहती है, वही असली कविता है और हममें हर कवि उस कविता से दूर, बहुत दूर हो गया है:–

यहाँ सरसों फूली हुई है,
मालूम नहीं, किसके भुलावे में आ गयी।
दूर तक खिलखिला रही है,
मानो, ब्रह्मा की अंजलि से बिखर गयी हो।
मालूम नहीं, किसके वियोग में
यह गोरी-पीली हो गयी है।
इसके बीज बिखरे हैं
चंबे, जम्मू और अखनूर में,
जी करता है, सारी की सारी बांध लूँ।
केसर और कँटीली झाड़ियाँ समेट लूँ।

गाथा को आर्या बनाने में जो मुसीबत गोवर्धन को झेलनी पड़ी थी, डोगरी को हिन्दी में ढालनेवालों की मुसीबत उससे जरा भी कम नहीं है। फिर भी जी करता है कि पद्मा के गीतों या कविताओं के कुछ और अनुवाद पाठकों के सामने बानगी की तौर पर जरूर परोस दूँ:–

क्या ये राजाओं के महल आपके हैं?
मेरा घर मुझ से छूट चुका है,
मैं राह भूल गयी हूँ।
बरसों पहले मेरी आँखों की ज्योति
मुझ से छिन चुकी है।
यह ज्योति छीन जिन्होंने
मुझे अन्धी बनाकर फेंक दिया है
मेरे बाग का पौधा जिन्होंने उखाड़ लिया है।
(उस पौधे पर अभी कोंपलें भी नहीं आयी थीं)
मेरा साजन तब तक ज्यादा दूर भी नहीं गया होगा,
तभी जिन्होंने मेरी काँपती टहनियाँ काट लीं,
क्या वे दरातियाँ आपकी हैं?

मेरा चाँद बेर के दरख्त के पीछे चढ़ा है।
यह दरख्त कटवा दो जिससे मेरा चाँद मुँह खोलकर बोले।

टसू वृक्ष के ये लाल फूल,
लगता है, विधाता ने अपने हाथ से छुए हैं।

पहाड़ के पीछे से चाँद हँसते-हँसते
ऐसे धीरे-धीरे आता है
जैसे नयी दुलहन मुँह दिखाने को
धीरे-धीरे घूँघट उठा रही हो।
यह बासन्ती चाँद!
इसका अंग-अंग पीला है।
किसी के वियोग में सूख कर काँटा हो गया है।
या हो सकता है कि तपेदिक ने इसका
यह हाल किया है।

कवयित्री पद्मा को तपेदिक हुआ था वे तीन वर्षों तक जिन्दगी और मौत के बीच झूलती रही थीं। अपनी एक कविता में अपनी बीमारी का हाल भी उन्होंने लिखा है, मानों किसी को वे चिट्ठी लिख रही हों:–

मैं बहुत दिनों से बीमार थी
चारपाई से लगी हुई थी।
षुप्प अँधेरे में सोते-सोते
सुधबुध खो बैठी थी।

असली कविता शायद कोरी घटनाएँ मात्र हैं। मगर, धन्य है वह आदमी जो घटनाओं का रस, इतिहास का सत जुगा सकता है। सच्ची कविता शायद नारियों के लिए

अधिक स्वाभाविक है क्योंकि वे चुपचाप अन्याय सह कर इतिहास के सत का रक्षण करती हैं।

इस राह में इतनी सुनसान है
कि कोई पत्ता भी नहीं हिलता।
कहार जब तेजी से कदम उठाते हैं
तो मेरो मन काँप उठता है।
हाय, इस अन्धेरे में मैं
वह वस्तु ढूँढ रही हूँ
जो फेरों के समय मेरे हाथ में थी।
वे शब्द ढूँढ रही हूँ जो
आहुतियों के संग बोले गये थे।

पद्मा की जीवन दु:ख से भीगा हुआ जीवन है। मृत्यु की सीमा पर वह तीन साल सोयी रही थी। जो दु:खी होता है, उसे गुजरे हुए सुखों की याद कुछ ज्यादा सताती है:–

सखि! वे दिन कैसे थे?
वह वक्त कैसा था?
कड़वी बात जब किसी को न तो कही थी,
न किसी से सुनी थी।
वे दिन कितने मीठे थे,
जब सब कुछ सुन्दर दिखायी देता था।
जख्म कभी होता न था,
जो होता तो तुरन्त भर जाता था।
अब कैसे जख्म लगे हैं?
इनकी मरहम नहीं मिलती,
इनका रिसना बन्द नहीं होता,
इनका दर्द खाये जाता है।

यह बीमारी केवल पद्माजी की नहीं है। हर आदमी जिसका बचपन बीत गया, जो बच्चे की तरह सीधी बात बोलने में शर्म महसूस करता है, उसका यही हाल है। मेरा ख्याल है, पूरी सभ्यता का ही बचपन समाप्त हो गया है और वह इसी व्यस्कता की बीमारी से बीमार है।

डोगरी धन्य है। न जाने, इस भाषा के भीतर कैसे-कैसे रत्न छिपे हुए हैं। डोगरी के लोकगीतों के अनुवाद हिन्दी में अवश्य आने चाहिए और हिन्दी को उन सभी कवियों और लेखकों से परिचित कराना चाहिए जो इस पहाड़ की तरह खूबसूरत भाषा में लिख रहे हैं।

रामधारी सिंह दिनकर

डॉ॰ कृष्णबिहारी मिश्र के प्रति

५, सफदरजंग लेन, नई दिल्ली
१-८-१९६८

प्रियवर,

स्वर्गीय पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी बड़े ही समर्थ आलोचक और साहित्य के गम्भीर विद्वान थे। छायावाद के अनुकूल आलोचकों में उनका अन्यतम स्थान था। निराला-काव्य के वे विशेषज्ञ थे। निरालाजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी थी जो निराला-काव्य के विद्यार्थियों द्वारा विशेष रूप से पढ़ने योग्य है।

वाजपेयीजी जब विश्वविद्यालय के छात्र भी थे, तभी वे साहित्य-संसार में आलोचक के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे।

उनका स्वभाव मृदुल था। उनका व्यक्तित्व सुगंभीर था और वे मितभाषी थे।

उनके पढ़ाए हुए असंख्य नौजवान आज हिन्दी-साहित्य की सेवा में लगे हुए हैं।

मैं उनकी स्मृति को श्रद्धा-समेत प्रणाम करता हूँ।

आपका
रामधारी सिंह दिनकर

पौत्री रीता के प्रति

नई दिल्ली
९-१-७४

प्रिय रीता,

एक पत्र कल लिख चुका हूँ। मिला होगा। तार दो कि १६ को किस ट्रेन से आ रही हो। इटावा से चिट्ठी आयी है कि लड़की की ब्लाउज, अंगूठी और चूड़ी का नाप भेजिये।

दस सेर चूड़ा जरूर लाना। केदार और कल्पना को अनुरोध किया जाना चाहिए।

तार तुरन्त भेजो:–

DINKAR

AB 2, Pandara Road, New Delhi.

केदार के पास तीन गिन्नियाँ हैं, मैंने केदार से कह दिया था। गिन्नियाँ साथ लाना।

सभी कलमें, सभी घड़ियाँ और उपहार की चीजें साथ लाना।

तुम्हारा
रामधारी

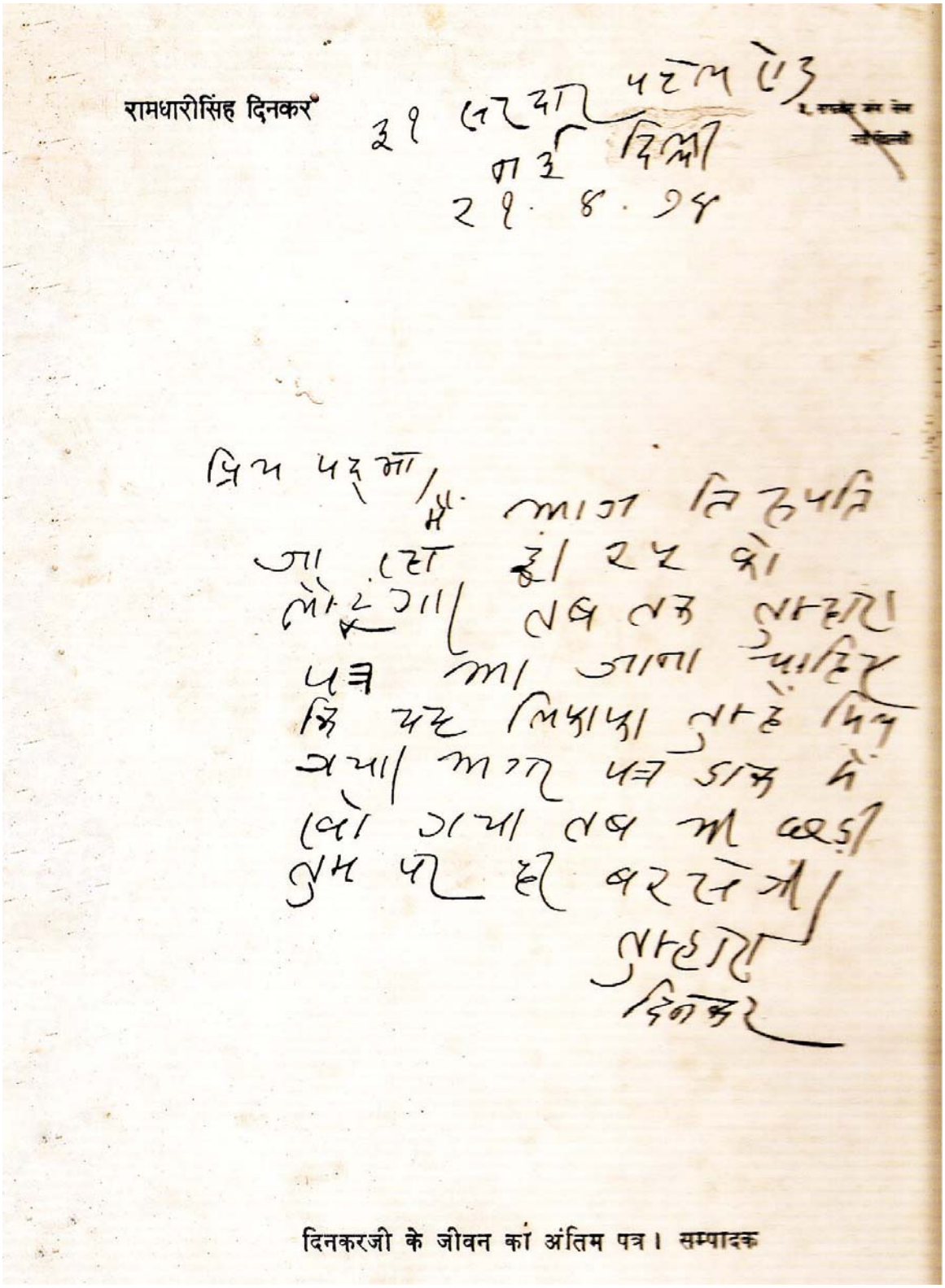

रामधारीसिंह दिनकर

दिनकरजी के जीवन का अंतिम पत्र। सम्पादक

सम्पादक : धर्मयुग के प्रति

नवम्बर, १९७२

धर्मयुग के २२ अक्तूबर, १९७२ वाले अंक में अपने बारे में आदरणीय पंडित पद्मकांतजी का कठोर पत्र मैंने पढ़ा। 'रिसि अति बड़ि लघु चूक हमारी।' सरकारी कृपा चाहनेवाले व्यक्ति पद्मकांतजी ही थे, यह मंतव्य मेरा नहीं था, लेकिन डायरी में मैंने काट-कूट तो की है, जोड़ा कुछ भी नहीं है। मैं मानता हूँ कि डायरी के उस अंश से जो ध्वनि निकलती है, उससे पद्मकांतजी का रुष्ट होना अस्वाभाविक नहीं है। मैं उनसे क्षमा माँगता हूँ। मेरा अभिप्राय उन लोगों से था, जो दिल्ली में ही रहते थे।

इससे भी अधिक ग्लानि मुझे इस बात की है कि पद्मकांत जी मेरे दरवाजे से अप्रसन्न लौटे। उस समय की परिस्थिति का स्मरण मुझे नहीं है, न मैं यही याद कर पाता हूँ कि उस दिन मैं किस उजलत में था। यह तो मुझे याद है कि पद्मकांत ने मुझे कोई कविता भेजी थी, लेकिन स्वर्गीय श्री गंगाप्रसाद पांडेय से मेरी क्या बात हुई थी, इसका भी स्मरण मुझे बिल्कुल नहीं है।

शेक्सपियर ने तीन तरह के बड़ों का उल्लेख किया है। एक वह जो बड़ा पैदा होता है, दूसरा वह जो बड़प्पन हासिल करता है और तीसरा वह जिस पर बड़प्पन थोप दिया जाता है। एक चौथा व्यक्ति भी हो सकता है जो बड़े वंश का होने के कारण या साधन-सम्पन्न होने के कारण बड़प्पन को दबोच लेता है। अपने जानते मैं इनमें से किसी भी कोटि में नहीं आता हूँ। असल में मैं महान्-टहान हूँ ही नहीं। मैं तो मामूली गृहस्थ हूँ, जो नौकरियाँ करके अपना और अपने परिवार का पेट पालता रहा है और वंश में जनमी कन्याओं का विवाह रचवाता रहा है। 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' की रचना मेरी असली उपलिब्ध नहीं है। मेरी वास्तविक उपलब्धि यह है कि परिवार के शकट को हाँफ-हाँफ कर खींचते हुए मैंने ९ लड़कियों के ब्याह रचवाये हैं। अगर यह मेरी महत्ता है तो उसे मैं स्वीकार करता हूँ।

मगर ये सब फालतू बातें हैं। मुख्य विषय यह है कि हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ होना चाहिए या नहीं। पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय जी के चरणों तक पहुँचने का सुयोग मुझे नहीं मिला था। किन्तु पूजनीय टंडन जी की संगति थोड़ी मुझे भी मिली थी। टंडन जी आसान हिन्दी के पक्षपाती थे। मैं भी आसान हिन्दी चाहता हूँ और मानता हूँ कि यह आदर्श हिन्दी अमृतलाल नागर लिख रहे हैं, कमलेश्वर लिख रहे हैं, हरिशंकर परसोई लिख रहे हैं और सबसे बढ़कर अमृतराय लिख रहे हैं।

किन्तु हुआ क्या? संसदीय कार्यों के लिए जब हिन्दी-शब्दों की जरूरत पड़ी, स्पीकर महोदय ने विद्वानों की एक बड़ी समिति का निर्माण किया और पूज्य टंडन जी को उसका अध्यक्ष बना दिया। इस समिति में भारत की सभी भाषाओं के विद्वान रखे गये थे और समिति की कोशिश यह थी कि शब्द जहाँ तक संभव हो, आसान रखे जायें। किन्तु हिन्दी के प्रतिनिधियों की उस समिति में चली नहीं। अहिन्दी-भाषी विद्वान, कदम-कदम पर अड़ते रहे कि शब्द, संस्कृत के ही होने चाहिए नहीं तो उन्हें सार्वदेशिक स्वीकृति नहीं मिलेगी और अन्नत: समिति ने जो शब्द-कोश तैयार किया, उसमें बहुलता संस्कृत-शब्दों की ही रही।

जब कानून की शब्दावली बनने लगी तब भी यही हाल हुआ। 'मुद्दई' और 'मुद्दालेह' शब्द हिन्दी से इसलिए निकाल दिये गये कि अहिन्दी-भाषी विद्वान वादी और 'प्रतिवादी' रखना चाहते थे। 'चोट' शब्द इसलिए निकाल दिया गया कि मराठी में उसका अर्थ अश्लील होता है। और 'चूक' शब्द इसलिए हटा दिया गया कि ओड़िया में उसका अर्थ अश्लील होता है।

एक पुनरीक्षण समिति का अध्यक्ष मैं भी था। समिति की बैठकों में मैं हिन्दी के प्रतिनिधियों को राजी कर लेता था कि वे फारसी या अरबी के शब्द स्वीकार कर लें। लेकिन तब कोई कन्नड़ या मलमालमभाषी विद्वान, कोश लेकर खड़ा हो जाता था और कहता था कि संस्कृत-शब्द ही उसे स्वीकार्य है।

इतने दिनों का मेरा अनुभव यह बतलाता है कि या तो हिन्दी राजभाषा के रूप में सफल ही नहीं होगी या होगी तो संस्कृतनिष्ठ होकर ही होगी। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि यदि १४ सितम्बर १९४९ तक गांधी जी जीवित रहते तो काँग्रेस पार्टी में बहुमत हिन्दुस्तानी को ही मिलता। लेकिन जब उसे सार्वदेशिक बनाने की कोशिश की जाती तब हिन्दुस्तानी को भी उसी रास्ते पर जाना पड़ता जिस पर हिन्दी को जाना पड़ रहा है। गांधी जी के समय में हमारी कल्पनी यह थी कि हिन्दी और उर्दू की समस्या निबट जाये तो भाषा की सारी समस्याएँ खत्म हो जायेंगी। मगर स्वराज्य के बाद से देश की प्रत्येक भाषा हिन्दी पर प्रभाव डालने लगी है। उर्दू, जो हिन्दी की असली सहेली थी, वह उसकी पन्द्रह बहनों में से एक रह गयी है। इतिहास के इस प्रवाह को रोकना वांछनीय है या नहीं, इस विषय में मतभेद हो सकता है, लेकिन यह कार्य कठिन है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

सन् १९६२ में हम लोगों ने जिस भाषा का विरोध किया था, वह हिन्दी और उर्दू, दोनों का विकृत रूप थी। उर्दू, उर्दू रखी जा रही थी, मगर हिन्दी को बिगाड़ा जा रहा था। वह हिन्दी की प्रकृति के साथ मनमाना अत्याचार था।

सन् १९६२ ई॰ में बुलेटिनों की विकृत भाषा को मैंने जो समीक्षा तैयार की थी, उसकी एक प्रति मैं आपको भेज रहा हूँ। आप अगर इसे छाप दें तो मैं भी पद्मकांतजी को वही शेर सुना दूँगा, जो शेर उन्होंने मुझे सुनाया है–

यारब, न वो समझे हैं, न समझेंगे मेरी बात,
दे और दिल उनको जो न दे मुझको जुबाँ और।

रामधारी सिंह दिनकर

धर्मयुग से साभार। –सम्पादक

डॉ॰ हरिवंशराय बच्चन के प्रति

११४, मालचामार्ग,
चाणक्य पुरी, नई दिल्ली
२४-३-७४

प्रिय भाई,

आनन्ददायी कार्ड मिला। तुम्हें बाबा बनने पर बधाई, तेजी जी को दादी बनने पर बधाई। बच्ची को आशीर्वाद। उसके माता पिता को आशीर्वाद।

मेरी पोती का विवाह २८ जनवरी को हो गया। आशीर्वाद दो कि वर और वधू सुखी रहें। मेरा छोटा बेटा मुझसे बेतरह नाराज है। विवाह के बाद जब पटना गया, मैंने रामसेवक (स्वर्गीय पुत्र) के परिवार को तथा अपने पुस्तकालय को उसी आर्यकुमार रोड वाले घर में पहुँचा दिया। मैं तो मई १९७३ से अनिकेतन घूम रहा हूँ। देखें, पिता श्री रामचन्द्र कहीं स्थापित भी करेंगे या यों ही घुमाते रहेंगे। लॉजिक गलत। पुरुषार्थ झूठा। केवल राम की इच्छा ठीक।

तुम्हारा
दिनकर

दिनकर जी की मृत्यु के एक मास पूर्व बच्चनजी के नाम लिखा हुआ यह अन्तिम पत्र है।

'धर्मयुग' से साभार। –सम्पादक

युग-धर्म का हुंकार

केशरी कुमार मिश्र

परम् सुभक्त जो न होते प्रहलाद जी तो,
खम्भ से प्रगट भगवान को कराता कौन?
परम् पराक्रमी न होते हनुमान जी तो,
सीता का संदेश राम के समीप लाता कौन?
परम् नीतिज्ञ नेता होते जो न गांधी जी तो,
देश में स्वाधीनता की ज्योति को जलाता कौन?
परम् न ओजयुक्त होते दिनकर जी तो,
अमर युग-धर्म का हुंकार कहलाता कौन?

कवि कुटीर, घाघूघार, अमेठी, सुलतानपुर (उ.प्र.)

श्री कन्हैयालाल फूलफगर के प्रति

राजेन्द्रनगर, पटना-१६

११-१२-७३

प्रियवर,

आपका ८ का पत्र आज मिला। मैं १५ के भोर 12 Down से पहुँच रहा हूँ। शान्तिप्रसादजी के यहाँ ठहरूँगा। आप वहाँ तुरन्त खबर दे दें कि गाड़ी आवे। आपका आदमी भी मौजूद रहे।

१६ तारीख का टिकट करवा लिया सो ठीक है। लेकिन पटने से मैं १९ के भोर ही चलूँगा, २० के भोर मुझे दिल्ली पहुँच जाना है। इस गलती को हर कोशिश करके सुधारिये।

मैंने दिल्ली से आपको दो पत्र भेजे हैं। क्या आपको वे मिले नहीं? लगता है, इस बार मैं विपद में फँसा हूँ। प्रभुदयालजी को 'हाँ' कह देने का यह दण्ड है।

१७ और १८ पटना रहकर मुझे १९ के भोर ११ UP से चल देना है, इसका प्रबन्ध जैसे भी हो, करें। नहीं तो कलकत्ता पहुँचकर भी मैं सभा में नहीं आऊँगा।

आज Mitraparisad के पते पर आपको एक्सप्रेस तार भी भेजा है।

Please be quick.

आपका

दिनकर

संगीत-निदेशक श्री जयदेव के प्रति

३१, सरदार पटेल रोड, नई दिल्ली

४-३-७४

प्रिय जयदेव जी,

श्री बालकवि बैरागी ने एक पत्र लिखा है कि आपने मेरी उर्वशी कविता को स्वर दिया है और आप उसे रेकार्ड करवाना चाहते हैं। यह सुख का विषय है। रेकार्ड करने वाली कम्पनी मेरे पास अपना प्रस्ताव भेजे। आप जिस शर्त पर अनुमति देने को कहेंगे, मैं अनुमति दे दूँगा। केवल कैसेट सुनकर यह समझना चाहता हूँ कि चीज उतरी कैसी है। बम्बई में मेरे एक मित्र हैं:-

श्री सुरेन्द्रसिंह, टेलीफोन ३६९५८३

I-B-1, गिरिराज, अल्टा माउन्ट रोड

बम्बई-२६

सुरेन्द्र खुद गवैया भी हैं। मैं उन्हें लिख रहा हूँ। वे आपसे सम्पर्क करेंगे। शेष कुशल है।

आपका

रामधारी सिंह दिनकर

प्रोफेसर के॰ दोइ (जापान) के प्रति

Aryakumar Road,
Patna-4
The 6th July, 1957

Dear Shri Doi,

Thank you very much for your kind letter of the 18th June, 1957. I am very glad to know that my book "Sanskriti Ke Char Adhyay" has attracted your notice and you want to translate it into Japanese. I give you permission for the same on the terms and conditions mentioned in your letter. I also agree with you that the translation should appear in two parts, the later two chapters appearing first. If you want the preface, written by Pandit Nehru, to accompany the transplation, please write to me so that I may send the original English version of the preface to you. Panditji had written the preface originally in English.

No, I have not received the book-review, written by Prof. WATANABE. I should be glad to receive a copy of the same from you.

By the way, could you send me about two dozens of modern Japanese poems, rendered faithfully into Hindi prose from which translations into Hindi verse could be prepared? I want to do the job myself.

I had the good fortune of meeting your poet NOGUCHI when he had visited our country in 1935. At that time some of Prof. NOGUCHI's poems were rendered into Hindi and received well by the people. Since then, no modern Japanese poems have been translated here.

With kind regards,

Yours sincerely,
R.D. SINHA

पुत्र रामसेवक के प्रति

कलकत्ता-२७
११-५-५७

प्रिय नुनू,

विनता को फोन पर कह दिया था आशा है, कल शाम तक भोला या शिवकुमार आ जायेंगे।

अयुतानन्दजी ने दिन २० मई बताया था, लेकिन, विष्णुकान्तजी ने २२ मई बढ़िया कहा था। विष्णुकान्तजी से पूछकर कर varify कर लो। मैं भी आज पंडित से varify करूँगा और २२ के बारे में मुझे भ्रम नहीं है तो वही दिन पक्का करके निमंत्रण भेजूँगा यहीं से।

तिलक किस दिन आयेगा? मैं १३ को न चला तो १४ को तो अवश्य चल दूँगा। मुझे पटना आना है या सिमरिया, सो तार से बताओगे। घर के लोगों को सिमरिया जाना है।

कपड़े बनवाने हैं:-

१. आदित्य की शेरवानी, पैजामा, टोपी, जूता।

२. बाकी लोगों के लिए कुरते, नरेश वगैरह को पैजामे आदि।

घर पर सवारी, बाजा, पुन्ना वगैरह तैयार है या नहीं? जो पूछना हो फोन पर पूछ लो। भोला के आने पर मैं रात में फोन करूँगा। कागज पैन्सिल लेकर फोन पर रहना।

तुम्हारा
रामधारी

आर्यकुमार रोड, पटना-४
१९ सितम्बर १९५७

प्रिय भाई दोइ साहब,

कुछ दिन पूर्व आपका दूसरा पत्र मिला जिसमें तारीख आपने नहीं दी है। उत्तर में बहुत विलम्ब हो गया। कृपया क्षमा करेंगे।

यदि आप 'संस्कृत के चार अध्याय' का अनुवाद खण्डों में निकालना चाहते हैं तो सुगम योजना इस प्रकार बनेगी:-

(१) प्राचीन भारतीय संस्कृति: इस खण्ड में प्रथम और द्वितीय अध्याय लिये जायेंगे। बल्कि, दूसरे अध्याय में भी पेज १९१ (द्वितीय संस्करण) तक का ही मैटर पहले खण्ड में लीजिये।

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति: इसका आरम्भ "क्रान्ति की गंगा में शैवाल" नामक प्रकरण से करना चाहिए जो द्वितीय संस्करण में पेज १९२ से शुरू होता है। इस खण्ड में पेज ३९८ तक का मैटर यानी पूरा तृतीय अध्याय आ जायेगा।

(३) अर्वाचीन भारतीय संस्कृति: इसमें पूरा चतुर्थ अध्याय आ जायेगा।

मेरा यह भी सुझाव है कि आप पहले तीसरी, फिर दूसरी और बाद में पहली जिल्द प्रकाशित करें।

नेहरूजी-लिखित प्रस्तावना को अंग्रेजी-मूल मेरे पास सुरक्षित है। वह सभी खण्डों की प्रस्तावना बन सकती है। मैं उसकी एक प्रति यथासमय आपको भेज दूँगा।

शंकाओं का समाधान इस प्रकार है:-

(१) 'संस्कृति-भाषा' गलत छपा है। शुद्ध रूप संस्कृत भाषा ही है।

(२) 'सुगबुगाता रहा है।' सुगबुगाना क्रिया है। अर्थ होता है धीरे-धीरे हिलना। सुगबुगाना जिन्दगी की निशानी है। मुर्दा सुगबुगाता है यानी मुर्दे में धीरे-धीरे जान महसूस होती है।

(३) 'इससे भी एक बड़ी वस्तु' (पेज ८) मेरा तात्पर्य इस बात से है कि भारत में अनेक नस्लों और अनेक धर्मों के लोग हैं और उनकी भाषाएँ भी अलग-अलग हैं। फिर भी, वे एक महाजाति के रूप में एक होकर जीते आये हैं। विश्व की एकता को भी सबसे बड़ी बाधा यही है कि संसार में अनेक नस्लों, अनेक धर्मों और अनेक विचारों के लोग हैं तथा उनकी भाषाएँ भी अलग-अलग हैं। अतएव, विश्व की एकता की समस्या भारतीय एकता की समस्या से मेल खाती है। किन्तु, अहिंसा के जिस साधन को अपनाकर भारत ने अपनी एकता का निर्माण किया (प्रथम अध्याय की ओर संकेत है) उसी साधन को अपनाकर हम सारे विश्व में एकता स्थापित कर सकते हैं।

(४) राह-दान का अर्थ है राह चलने की अनुमति देना, राह चलने में सहयोग देना, यात्रा के लिए सुविधाएँ देना।

(५) 'महमूद गोरी' गलत छपा है। मुहम्मद गोरी ही होना चाहिए।

(६) दिक्काल=दिक्+काल=देश और काल=टाइम एण्ड स्पेस TIME AND SPACE.

(७) मानवात्मा=HUMAN SOUL

सम्भावना यह है कि अक्तूबर के अन्त तक मैं चीन जाऊँ। वहाँ से लौटते समय दो-चार दिन जापान रुकने का भी विचार है। उस समय आपसे मुलाकात हो जाये तो बहुत अच्छा हो।

शेष कुशल है।

मेरे दो पते हैं:-

(१) जब पार्लमेंट का सेसन चलता रहता है, मैं दिल्ली में रहता हूँ।
पता: 52, SOUTH AVENUE, NEW DELHI,

(२) जब पार्लमेंट का सेसन नहीं रहता, मैं पटने में रहता हूँ।
पता: ARYAKUMAR ROAD, PATNA-4.

आपका
रामधारी सिंह दिनकर

कानटून

१७-११-५७

प्रिय नुनू,

आज चीन-प्रवास का अन्तिम दिन है। कल प्रात:काल इस शहर से ट्रेन से चलूँगा ७:११ बजे भोर में, और हांगकांग पहुँचूँगा ११ बजे। १८, १९, २० ये रातें हांगकांग में बीतेंगी। २१ को बैंकाक जाऊँगा। २१, २२ ये रातें बैंकाक में। श्री आनन्दमोहन सहाय Ambassador मेरे मित्र हैं। अगर छुट्टी पर नहीं गये हों तो उनसे भेंट होगी। २३ को रंगून पहुँचूँगा। २४ को रंगून में बर्मादेशीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जलसा है। उसका उद्घाटन करूँगा और २५ को अवश्य-अवश्य कलकत्ता पहुँच जाने का विचार है। कामेश्वर को लिख दिया है कि २६ की रात में दिल्ली-एक्सप्रेस से मेरी सीट रिजर्व करवा रखे कि मैं २७ के प्रात:काल आठ बजे पटने पहुँच जाऊँ। २८ या २९ को दिल्ली चला जाऊँगा। अगर सम्मेलन का मुँगेर-अधिवेशन हो रहा है तो मुझे दिल्ली से फौरन वापस होना होगा। २६ के प्रात:काल कलकत्ते से फोन भी करके तुमसे बतियाने का विचार है सुबह ९ बजे तक। यह समाचार तुम ब्रजशंकरजी को दे दोगे।

यात्रा अच्छी रही या नहीं, ठीक नहीं कह सकता। पीकिंग और शंघाई-रेडियो से वार्त्ताएँ दीं, वे ब्रजशंकरजी को भेज चुका हूँ। अंग्रेजी विश्वविद्यालय शंघाई-विश्वविद्यालय और कानटून-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी जानने वाले छात्रों और प्राध्यापकों के समक्ष भाषण दिये, बातें कीं। विषय भारतीय संस्कृति, साहित्य, कला और राजनीति। प्राइम-मिनिस्टर से मिला, ढेर साहित्यिकों से मिला, प्राचीन चीन के अवशेष देखे, नये चीन की उमंग देखी, और सबसे बढ़कर चीन के दर्पण में भारत की कमजोरियाँ देखीं। मन पर भारी प्रभाव पड़ा है और इसके कारण मेरी प्रवृत्ति में परिवर्तन होंगे, ऐसा लगता है।

एक शिक्षा देश के लिए ला रहा हूँ। युवक कस कर व्यायाम करें, औरतें निकम्मी न रहकर घूमें-फिरे और अपने आपको सँभालना शुरू कर दें, नौकर को पुत्र और भाई की तरह रखो, केवल भाव से ही नहीं, धन और मन से भी, हलवाहों को घर का सदस्य समझो, धन जुगाना लोग छोड़ दें, किफायतसारी से काल लो, हर आदमी manual work भी करे, घर को बाहर और भीतर से फूलों से सजा दो। वैयक्तिक सम्पत्ति रहने वाली नहीं है, भारत में भी नहीं। कम-से-कम, भारत विनोबा पर आकर ठहरेगा अर्थात् जरूरत से फाजिल किसी के पास नहीं रहेगा। अपरिग्रह, निवृत्ति और अहंकार–विसर्जन के बिना नया समाज नहीं लाया जा सकता। अभी भारत में जो समाज चल रहा है उसे चलने देना प्रत्यक्ष अन्याय है। समाजवादी ढाँचे का समाज क्या है, इसे काँग्रेस के नेताओं को स्पष्ट करना होगा। गोल-मटोल ढंग से हम कब तक चलते रहेंगे? Our ideology must he clarified and the country must know the goal for which it is asked to work.

भोजन पसन्द का कहीं नहीं मिला। अर्धोपवास में भी चीनी चलती रही। पता नहीं क्यों इन्सुलीन खराब हो गई? शांघाई में दूसरी ली और अनभ्यास के कारण ठीक से काम नहीं करती है। कल शाम को मन अचानक बहुत उदास हो गया। आज ठीक है। पत्र जो पटने से भेजा वह कल यहाँ मिल गया। यह पत्र हांगकांग पहुँचकर छोड़ूँगा कल।

तुम्हारा

रामधारी

प्रो॰ रामखेलावन राय के प्रति

५, सफदरजंग लेन, दिल्ली

३१-१-७०

प्रिय रामखेलावन,

तुम्हारा कल का पत्र मिला, हाल जाना। पता लगाता हूँ कि हाथ डालने का कोई रास्ता है या नहीं। सब कुछ भगवान की कृपा से होता है।

तुम्हारा

दिनकर

३१, सरदार पटेल रोड, नई दिल्ली

४-३-७४

प्रियवर,

तुम्हारी याद रोज आती है। तुम, रजनीकान्त और योगेन्द्र गाढ़े वक्त मेरे काम आये। भगवान तुम्हें सपरिवार सुखी रखें। तुम्हारे घर में जो टेलीफोन है उसका नम्बर भेज दो। आते-जाते कभी अरविन्द, रीता आदि से मिल लिया करो।

तुम्हारा

दिनकर

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के प्रति

पटना

४-५-५०

मान्यवर, प्रणाम।

बेनीपुरी और मैं ७ ता॰ रविवार के प्रातःकाल पंजाब मेल से प्रस्थान करेंगे। आशा है आप बनारस में साथ हो जायेंगे। अब सिर्फ पूरियों से भी काम चल जायगा। और साधु तो अन-बिलोवा भी खा सकता है। चेक मेरे ही साथ चला आया है। उसे अलग भेज दूँगा।

शेष कुशल है।

आपका

दिनकर

राष्ट्रकवि दिनकर की पाठ-परिधि

डॉ. लक्ष्मण प्रसाद

बिहार ने राष्ट्र के नाम पर जिन महान विभूतियों को समर्पित किया है उनमें रामधारी सिंह दिनकर का अपना विशिष्ट स्थान है। उनकी वाणी में लोक की वेदना, राष्ट्र की पुकार और अन्तरराष्ट्रीय समरसता के संवाद के साथ जीवन की कोमलता का संचार भी मिलता है। उनकी वेदना अपने विस्फोटक रूप में आक्रोश बनकर फूटती है और हृदय की घनीभूत शीतलता साँसों से पिघलकर व्यष्टि से समष्टि तक को आप्लावित करती है। उनका तेजोदिप्त व्यक्तित्व उस सागर की तरह है, जिसमें बड़वाग्नि और शीतलता का सामंजस्य मिलता है। यह कोई नयी बात नहीं है, अखिल सृष्टि विपरीतों का सामंजस्य है और यही सामंजस्य उसे पूर्णता प्रदान करता है। प्रकृति की विपरीतता ही सृष्टि का द्वन्द्व है। जब यह द्वन्द्व अपना सामंजस्य खो देता है तो प्रतिरोधात्मक संघर्ष को आमंत्रित करता है। दिनकर का रचना संसार अपनी प्रकृति में द्वन्द्वात्मक दिखायी पड़ता है, इसीलिए वे आलोचकों में उतने सम्मानित नहीं रहे, जितने उनके समकालीनों को मिलता रहा। हिन्दी के परंपरावादी आलोचकों में उनका वह पाठ उतर ही नहीं पाया, जिसमें उनकी उद्घोषणा हुई थी कि "जाति-जाति रटते जिनकी पूँजी केवल पाखंड।" 'रश्मिरथी' काव्य आलोचकों की जातीय अनुवांशिकता की मनोवैज्ञानिक पहचान बना हुआ है। दूसरी ओर चीनी आक्रमण के समय 'परशुराम की प्रतीक्षा' की रचना कर वामपंथी प्रगतिवादी आलोचकों के निशाने पर आ गये। लेकिन राष्ट्र की आम जनता के हृदय पर एकक्षत्र राज अगर किसी ने किया या कर रहा है तो उसी का नाम है रामधारी सिंह दिनकर।

आलोचकों से यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि वे पाठ को रचना-संदर्भ के साथ जोड़कर पढ़ें अन्यथा उनका अपना वाद-विवाद ऊपर आ जायेगा और रचना-प्रक्रिया से प्राप्त दृष्टि ओझल हो जायेगी। दूसरी बात यह कि अगर रचना संदर्भ पकड़ भी पाये तो कोई आवश्यक नहीं कि रचनाकार की तात्कालिक संवेदना हाथ आ ही जाय। रचनाकार की तात्कालिक संवेदना उसकी अन्तर्वाह्य निर्मिति से बनती है, जिसमें आनुवंशिकता और अन्वेषण दोनों का हाथ रहता है। रचनाकार के अन्वेषक मन को स्वच्छंद (स्वतंत्र) होना चाहिए। इसी को आचार्यों ने 'कविर्मनीषि' की संज्ञा दी है। वह 'अयंनिजंपरोवेति' से जितना मुक्त होगा उसकी रचना में उतनी ही लोक व्यापी अर्थ-व्यंजना का समाहार मिलेगा अन्यथा आनुवंशिकता का बंधन उसकी बहिर्मुखता के मार्ग में बाधा डालेगा। अन्वेषक की जातीय, वर्गीय या पंथीय प्रतिबद्धता उसके लोक-व्यापी चिंतन को प्रभावित करती है। तभी तो तुलसीदास की लोक-व्यापकता वर्णाश्रम से बाहर नहीं जा सकी। अगर आलोचना भी रचना है तो आलोचक इसका अपवाद नहीं। यही कारण है कि लोक-व्यापी कबीर सब कुछ होकर भी आचार्य शुक्ल की दृष्टि में 'कवि नहीं' हो सके और हिन्दु की सामाजिक संरचना में वर्णवाद के पोषक तुलसीदास सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिनाये गये। कहा जा सकता है कि तब के कबीर और आज के दिनकर दोनों पर वादग्रस्त आलोचकों की वक्र दृष्टि रही।

आलोचकों की पैठ रचनाकार की मूल स्थापना तक होनी चाहिए। रचनाकार अपनी स्थापना तक पहुँचने की प्रक्रिया में बहुआयामी बना रहता है। अपनी रचना-प्रक्रिया में वह द्वन्द्वात्मक बिंदुओं से होते हुए संपूर्णता में स्थापित होने का प्रयास करता है। जिन आलोचकों में संपूर्णता की द्वन्द्वात्मक स्थितियों की जितनी अधिक समझ होगी, रचनाकार की रचनात्मक मनोभूमि तक पहुँचने में वह उतना ही सफल होगा अन्यथा रचना के साथ न्याय नहीं कर पाएगा, रचनाकार के साथ तो एकदम ही नहीं। अब देखिए कि दिनकर की कविता 'किसको नमन करूँ' की आलोचना करते समय खगेन्द्र ठाकुर ने कहा कि 'देह या मन में फर्क समझने की दुविधा है कवि के मन में।' जबकि इन पंक्तियों में कवि का दृष्टिकोण एकदम स्पष्ट है-

"जहाँ कहीं एकता अखंडित जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में खड़ा वहाँ भारत जीवित, भास्वर है।

.....

जहाँ त्याग माधुर्यपूर्ण हो, जहाँ भोग निष्काम,
समरस हो कामना, वहीं भारत को करो प्रणाम।

जो कविता अपनी स्थापना में राष्ट्रीयता को अन्तरराष्ट्रीय पहचान दिला रही हो, उसके साथ ऐसा न्याय? इसी को आलोचक की प्रतिबद्धता और आनुवंशिकता का प्रभाव कहा जाता है। इतना ही नहीं, इस कविता की एक पंक्ति है- "देह या मन को नमन करूँ" महोदय ने रचना-संदर्भ की धज्जियाँ उड़ाते हुए इसे 'उर्वशी' की देह के आलोक में देखने का प्रयास किया।"

किसी भी रचनाकार का दृष्टिकोण जानना हो तो उसकी सम्पूर्णता से जाना जा सकता है। एकाध रचना को आधे-अधूरा पढ़कर उसका दृष्टिकोण निर्धारित करना रचनाकार से अधिक आलोचना के साथ अन्याय करना है। रचनाकार दृष्टा और भोक्ता के साथ-साथ समय-संदर्भ का प्रवक्ता भी होता है। समय-संदर्भ की व्यापक चेतना उसे राष्ट्र-प्रवक्ता घोषित करती है। भोक्ता होकर रचनाकार समय-संदर्भ का आस्वादन और अन्वेषण करता है। तत्पश्चात अपना पक्ष निर्धारित करता है। इसलिए एक समर्थ रचनाकार में यथार्थ-चित्रण के साथ उसकी आलोचना भी मिलती है। लेकिन वह केवल आलोचक नहीं है। वह व्यवस्थागत तमाम विसंगतियों के विरुद्ध आक्रोशित होकर विद्रोह करता है और इसमें शामिल होने के लिए जनता को ललकारता है। वह जानता है कि जन-आक्रोश की क्रान्ति के सामने व्यवस्था पस्त होगी। उसके बाद एक नये समाज की रचना होगी। इसलिए वह लोक के सामने उस नये समाज का प्रारूप भी रखता है। यही उसका समाज-दर्शन कहलाता है। दिनकर की रचनात्मक व्यापकता में ये सारी बातें देखी जा सकती है।

दिनकर का समय-संदर्भ ऐसा है जिसमें एक ओर राजनीतिक पराधीनता से बुद्धिजीवी और उच्च वर्गीय सम्पन्न लोग खिन्न थे, तो दूसरी ओर सामाजिक विषमता से पूरा लोक-समाज त्रस्त था। कहीं धर्म, कहीं वर्ण, तो कहीं जाति और इन सबसे बच गये, तो सम्प्रदायवाद का बोलबाला था। कृषक-समाज अकाल और अनाज की दूरियाँ पाटने में परेशान था, तो धर्म की ध्वजा चढ़ावा और चादर में किसी तरह की कटौती करने के लिए तैयार नहीं थी। ऐसे में दिनकर ने अपने गाँव को देखा, गाँव से जोड़कर देश को देखा, तो पाया कि जन-समाज त्रासदी के दौर से गुजर रहा है। इसीलिए कहा गया है कि उनकी रचनाओं की 'प्रेरणा के बीज सिमरिया की शोषित, पीड़ित निर्धन जनता के प्रति उनकी प्रतिक्रिया में विद्यमान है।' मन्मथनाथ गुप्त के शब्दों में "हिमालय, नई दिल्ली, ताण्डव, दिगम्बरी, हाहाकार, विपथगा और अनल किरीट- ये कविताएँ अपने समय में जनता को बेतरह झकझोरती थी। यही नहीं बल्कि उन्हें सुनकर बड़े-बड़े राष्ट्रीय नेता सभाओं में फूटफूटकर रोने लगते थे और बूढ़े सभाओं में खड़े हो जाते थे।" 'हाहाकार' शीर्षक कविता के संबंध में कहा जाता है कि निम्नांकित पंक्तियाँ सुनकर राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की आँखें भर आयी थीं-

जेठ हो कि पूस,
हमारे कृषकों को आराम नहीं है,
छुटे बैल का संग कभी,
जीवन में ऐसा याम नहीं है,
मुख में जीभ, शक्ति भुज में,
जीवन में सुख का नाम नहीं है, वसन कहाँ?
सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।

कहा जाता है कि भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। इसकी आत्मा गाँवों में निवास करती है। अस्सी प्रतिशत लोग गाँव में रहते हैं और कृषि ही उनकी जीविका का अधिकृत साधन है। यह कोई आधुनिक दृष्टि नहीं है। वैदिक काल से यही परंपरा चली आ रही है। लेकिन गौर करने वाली बात यह है कि इसी देश में किसानों को भर पेट भोजन प्रश्न बनकर खड़ा रहा है। रात-दिन मेहनत करने वाले की त्रासदी यह है कि उसे सूखी रोटी भी उपलब्ध नहीं होती है। दिनकर का यह सच आज और भी त्रासद रूप के साथ उपस्थित है। कृषि-प्रधान देश की विडंबना यह है कि हजारों-हजार किसान आत्महत्या कर चुके हैं और सिलसिला रुकने का नाम नहीं ले रहा है। ठीक इसके विपरीत देशी-विदेशी पूँजीपतियों के लिए किसानों के घर-खेत पानी के मोल पर चढ़े हुए हैं। 'सेज' और औद्योगिक प्रतिष्ठान सहित सारी सुख-सुविधाओं के लिए व्यवस्था किसानों को बली का बकरा बनाये हुए हैं। ऐसे में दिनकर का यह कथन तब भी सही था और आज तो और तल्ख होकर सामने आया है-

आहें उठीं दीन कृषकों की मजदूरों की तड़प पुकारें!
अरी! गरीबी के लोहू पर खड़ी अई तेरी दीवारें।
अथवा
'दूध-दूध!' ओ वत्स! मंदिरों में बहरे पाषाण यहाँ है,
'दूध-दूध!'तारे, बोलो, इन बच्चों के भगवान कहाँ है?

तब आम आदमी पस्त था और आज त्रस्त है; जबकि व्यवस्था उसकी त्रासदी की खिल्ली उड़ाती हुई पूँजीपतियों का पक्षधर बनकर उसे नये-नये अवसर प्रदान कर रही है। उसकी यह पक्षधरता, तब भी थी और आज भी है। किसानों के सामने त्रासदी अपने रूप बदलकर आती रही है। सामंती और धार्मिक व्यवस्था पूँजीवादी और सम्प्रदायवादी चोला पहनकर उपस्थित है और किसान विस्थापन और बेकारी का दंश झेल

रहा है। दिनकर का यह यथार्थ आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कल था-

श्वानों को मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण।

जागरूक रचनाकार न केवल यथार्थ का चित्रण ही करता है बल्कि उस पर अपनी आलोचनात्मक दृष्टि भी डालता है। उन्होंने सामाजिक विषमता का केवल दृश्यावलोकन ही नहीं करवाया है, बल्कि उस यथार्थ के प्रति आक्रोश पैदा करने के लिए उसकी आलोचना भी की है।

व्यवस्था सामाजिक संरचना पर निर्भर करती है। यही सामाजिक संरचना उसकी राजनीतिक और आर्थिक संरचना को आधार प्रदान करती है। मार्क्स ने इस सामाजिक संरचना की व्याख्या ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर किया है, जबकि हमारे भारतवर्ष में वर्ग-निर्माण का आधार अर्थ नहीं, वर्ण रहा है। वर्ण विभाजन ने जातियों-उपजातियों का सृजन कर अर्थाधिकार के नियम बनाये और नियामकों ने अपनी सुरक्षा की खातिर आस्था को मजबूती प्रदान की। साथ ही उस आस्था के रक्षार्थ सत्ताधारी को ईश्वर का दूत बताकर उसे धार्मिक हस्तक्षेप के अधिकार से रहित करते हुए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र का एकाधिकार प्रदान किया। फिर श्रम और अर्थ शोषण का सिलसिला आरंभ हुआ जो आज तक थमने का नाम नहीं ले रहा है। इस तरह देखा जाय तो भारत में द्वन्द्वात्मक या ऐतिहासिक भौतिकवाद के विकास से वर्ग का निर्माण न होकर सामाजिक संरचना के द्वारा निर्धारित किया गया। दिनकर जैसे ऐतिहासिक दृष्टि सम्पन्न सचेत रचनाकार ने इस यथार्थ की तह तक जाने का प्रयास किया है। इसीलिए उन्हें भक्त नहीं, संत प्रिय हैं, जिन्होंने इस वर्णवादी-जातिवादी संरचना के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद की। एक दीक्षांत समारोह में दिनकर ने कहा था, "जब से विज्ञान का उद्‌भव हुआ, संसार के प्रायः सभी देशों में अतीत और वर्तमान के बीच संघर्ष शुरू हो गया और प्रायः प्रत्येक देश में जीत वर्तमान की हुई और अतीत हार गया। केवल भारत वह देश है, जहाँ अतीत आज भी जोरों से संघर्ष कर रहा है। विज्ञान और टेक्नोलॉजी के विशेषज्ञ अब भारत में पैदा हो रहे हैं और उन्हें काफी तादाद में पैदा होना भी चाहिए, किन्तु भारत के जीनियस के वे सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। हमारी जीनियस के सच्चे प्रतिनिधि हमारे सन्त हैं।"

यही संत-प्रियता उन्हें विषमतामूलक सामाजिक संरचना के विरुद्ध व्यापक लोक-दृष्टि प्रदान करती है, जिसकी अभिव्यक्ति 'जला रही निज सिंह पौर पर, दलित दीन की अस्थि मशालें' सहित उनकी अन्य रचनाओं में देखी जा सकती है। इसी का ओजस्वी स्वर उनके 'रश्मिरथी' काव्य में सामने आया है, जहाँ वे कहते हैं-

जाति-जाति रटते, जिनकी पूँजी केवल पाखंड,
ऊपर सिर पर कनक क्षत्र भीतर काले-के-काले,
शरमाते हैं नहीं जगत में जाति पूछनेवाले।

दिनकर मार्क्सवाद का समर्थन करते हैं, लेकिन भारतीय सामाजिक संरचना की आलोचना करते हुए वे राष्ट्रीय पृष्ठभूमि को बताना नहीं भूलते हैं। 'दिल्ली और मास्को' शीर्षक कविता में मार्क्सवाद की प्रशंसा करते हुए क्रांति का स्वागत करना चाहते हैं। संयोग यह कि इस कविता की रचना-शैली 'नई दिल्ली' शीर्षक कविता से मिलती है-

जय विधायके अमर क्रांति की, अरुण देश की रानी!
जयकुसुम-धारणी, जगतारिणी, जय नव शिवे! भवानी!
अरुण विश्व की काली जय हो,
लाल सितारों वाली जय हो,
दलित, वुभुक्षु, विषण्ण मनुज की
शिखा रूद्र, मतवाली जय हो।

दिनकर सम्पूर्ण रूप से राष्ट्रीय प्रवक्ता कलाकार है। इसलिए वे किसी पंथ या विचारधारा का अंधसमर्थक या प्रतिबद्ध कार्यकर्त्ता नहीं हो सके। उनकी प्रतिबद्धता भारतीय जन-समाज के प्रति है। यही कारण है कि इसी कविता में सन् बयालिस की क्रांति का संकेत देते हुए साम्यवादियों पर पैनी निगाह भी डालते हैं और चीनी आक्रमण के समय अपनी मुखर राष्ट्रीयता का परिचय देते हुए 'परशुराम की प्रतीक्षा' जैसी कालजयी कविता की रचना भी करते हैं।

यथार्थ ने दिनकर में जो संवेदना जगायी उससे उनकी त्योरियों में बल पड़ गया। फलतः उस जड़ व्यवस्था की आलोचना करना स्वाभाविक था। लेकिन हमें जानना चाहिए कि आलोचना की सार्थक परिणति उससे उत्पन्न आक्रोश, विद्रोह और जागरण गान में होती है। दिनकर की रचनादृष्टि में ये बातें देखी जा सकती हैं।

परिवेश और समय-संदर्भ की विसंगतियों से उत्पन्न जन-आक्रोश की परिणति विद्रोह में होती है। प्रतिरोध जब तक मानस को मथता तब तक वह आक्रोश रहता है और जब वह

विस्फोट कर बाहर आता है तब विद्रोह का रूप ले लेता है। आक्रोश को विद्रोही बनाने में ओज की अहं भूमिका होती है। दिनकर के विद्रोह में एक ओर आक्रोश तो दूसरी ओर ललकार है। उनके काव्य में निहित आक्रोश और विद्रोह का जो स्वरूप उभरता है वह क्रांति का रूप ग्रहण करता है। उनकी क्रांति चेतना में एक ओर सामाजिक विषमता, वर्णवादी-जातिवादी अहंकार, अंधविश्वास, अनाचार और अन्याय के प्रति विद्रोह मिलता है तो दूसरी ओर राष्ट्रीय मर्यादा और स्वाभिमान के सवाल पर वे विकराल-काल-कराल का फुफकार छोड़ने लगते हैं।

हमारी सामाजिक संरचना में व्याप्त वर्णवादी-जातिवादी विसंगतियाँ ऐसी है कि किसी भी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न जनोन्मुख कलाकार को विद्रोही बना देंगी। हमारे सामाजिक वैषम्य का कटु यथार्थ सर्वाधिक रूप से गाँव-देहातों में देखा जाता है, जहाँ कुलाभिमान का अहंकार सिर चढ़कर बोलता है। दिनकर के लालन-पालन से लेकर बहुत दिनों तक कार्य-कलाप भी इसी परिवेश से जुड़ा रहा है। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें अनुभूति की सच्चाई है। उनके किशोरकालीन विद्रोह का विकास 'रश्मिरथी' काव्य में होता है, जहाँ कर्ण को आधार बनाकर दिनकर कुलाभिमान, वर्णवाद और जातिवाद के विरूद्ध मुखर होकर दो-दो हाथ करते दिखायी पड़ते हैं। कर्ण के इस व्यंग्यात्मक प्रश्न से कि, "कुल की पोशाक पहन करके, सिर उठा चलूँ कुछ तन करके?" कुलाभिमान ध्वस्त हो रहा है और बाकी कुछ रह जाता है तो बेधड़क फटकार कि, "शरमाते हैं नहीं जगत में जाति पूछने वाले" से पूरा हो जाता है। वे जानते हैं कि इस तरह के अहंकार से विभेद ही बढ़ता है, अलावा "इस झूठ-मूठ में रस क्या है? केशव! यह सुयश-सुयश क्या है?"

दिनकर ने देखा कि कहीं जाति के आधार पर तो कहीं धर्म के आधार पर और बाकी कुछ रहा तो भाग्य और पुनर्जन्म का नाम देकर, परत-दर-परत शोषण की शृंखलायें जुड़ी हुई है। व्यवस्था के शीर्ष पर बैठा हुआ राजनीति का आदमी इसका लाभ उठाकर जनता की रोटी के साथ खिलवाड़ कर रहा है। इसकी अभिव्यक्ति 'रेशमी शहर' और 'दिल्ली' शीर्षक कविता में हुई है। सामाजिक-आर्थिक असमानता इस कदर कि एक ओर बच्चे दूध के बिना बेहाल हैं और दूसरी ओर कुत्तों के आगे दूध बह रहा है। शोषण पर आधारित इस विषमता के विरुद्ध उनका विद्रोही व्यक्तित्व शंखनाद कर उठता है और तब-

हटो व्योम के मेघ! पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
दूध-दूध! ...ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम आते हैं।

सामाजिक संरचना को धार्मिक आवरण देकर उसे सांस्कृतिक मान्यता प्रदान कर जन-समाज को जितने ही खंडों में विभाजित किया गया, वे सारे खंड-उपखंड भारतीय एकता के बाधक रहे हैं। विभाजित जन-समाज के आपसी अलगाव से राष्ट्रीय शक्ति संगठित नहीं हो सकी और इसका लाभ उठाकर बाहरी शक्तियाँ हमारे ऊपर शासन करने में सफलता पाती रही। इसलिए दिनकर ने एक ओर भारत के आंतरिक विघटनकारी तत्वों को फटकारा तो दूसरी ओर सुषुप्ति आत्मा को ललकारा भी है। 'सामधेनी' 'हुंकार' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' से लेकर 'कुरुक्षेत्र' तक को देखा जाय तो इन सब में दिनकर मानवीय और राष्ट्रीय अस्मिता के सवाल से टकराते नजर आएँगे। अस्मिता के सवाल पर तो वे पाप-पुण्य तक को परिभाषित करने लगते हैं-

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले, यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

दिनकर उन रचनाकारों की तरह नहीं हैं जो 'एक शाम सर्वहारा के नाम' पर आयोजित समारोह में शेखी बघारते हैं और गहराती रात में नामी-गिरामी होटलों, रेस्टोरेंटों की मदहोश कर देने वाले रंगीन व्यवसाय में शामिल हो जाते हैं। वे तो अवसर मिलते ही अपनी सृजन प्रतिभा को ललकारने में लग जाते हैं। उनकी साँस में क्रांति की ज्वाला धधकती है और शब्दों में शंखनाद निनादित होता है। निम्न पंक्तियाँ उन्हीं क्षणों की प्रामाणिकता पेश करती है-

क्रांति-धात्रि कविते! अम्बर में आग लगा दे,
पतन पाप पाखंड जले, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।

सत्य तो यह है कि इतिहास से ऊर्जा और वर्तमान से ओज ग्रहण कर ही भविष्य का लेख लिखा जा सकता है। इस संबंध में इतिहास के अध्येता दिनकर की ऐतिहासिक दृष्टि पुख्ता और पुरअसर है। भारत की सांस्कृतिक विरासत अहिंसा और करुणा को स्वीकार करते हुए वे मानते हैं कि ये सारी चीजें मानव के आत्मिक आभूषण हैं, परंतु "पाशविकता खड्ग जब लेती उठा, आत्मबल का एक वश चलता नहीं।' इसलिए वे पौरुष-प्रधान व्यक्तित्व के कायल और आग्रही हो जाते हैं। स्वाधीनता आंदोलन की बात हो या चीनी आक्रमण का प्रश्न, वे सदा ही ओजस्वी कवि की भूमिका में खड़े होकर पुकार उठते हैं,' "टेरो, टेरो, चाणक्य, चन्द्रगुप्तों को, ...राणा प्रताप, गोविन्द, शिवा को।" यही पुकार 'हिमालय' में आकर ललकार बन जाती है-

रे रोक युद्धिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीर?
पर फिरा हमें गाण्डीव गदा, लौटा दे अर्जुन भीम वीर।

शिव के ताण्डव, बोधिसत्व की सामाजिक क्रांति और स्वाधीनता संग्राम में सुधारवादी दृष्टिकोण के समर्थक दिनकर द्वितीय विश्वयुद्ध में नर-संहार का रक्तपात देखते हैं तो विज्ञान के संहारक पक्ष का हमेशा विरोध मिलता है। इससे कुछ आलोचक को यह दिशाभ्रम हो जाता है कि उन्होंने विज्ञान का विरोध किया है।

'किसको नमन करूँ' शीर्षक कविता से यह जाहिर होता है कि दिनकर की देशभक्ति विश्व-मानवता को स्पर्श करती है। इसी तरह उनकी क्रांति चेतना राष्ट्रीयता से आरंभ होकर अन्तरराष्ट्रीयता तक जाती है। तभी तो वे क्रांति को 'भूषण की भाव-रंगिणी,' और 'लेनिन के दिल की चिनगारी' से संबोधित किया है। इसका विकास हमें इन पंक्तियों में मिलता है-

दुनिया के नीरो! सावधान! दुनिया के पापी जार! सजग,
जाने किस दिन फुंकार उठे पद-दलित काल-सर्पों के फन।

दिनकर ने न केवल पौरुष का सिद्धांत दिया बल्कि उसे सच करके दिखाया भी है। गाँव के एक सामान्य किसान का बेटा अपनी कर्तव्यनिष्ठा, ओज और ऊर्जा से दिल्ली तक पहुँच जाता है। उसके व्यक्तित्व से पौरुष-शासित ओज और निर्भयता-शासित दृढ़ता का नूर टपकता रहता था। उनके इस प्रभापूर्ण व्यक्तित्व का विस्तार 'रश्मिरथी' के कर्ण, 'उर्वशी' के पुरूरवा और 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म में हुआ है। 'स्वयं युगधर्म की हुंकार हूँ मैं' की घोषणा करनेवाला कवि ही ऐसे चरित्रों को गढ़ सकता है। ओजस्वी कर्ण के सामने स्वर्ग एक भिखारी बनकर खड़ा है, वह भी ब्राह्मण के वेश में। उसी तरह 'उर्वशी' काव्य इस बात का प्रमाण है कि स्वर्ग की सौंदर्य-मूर्ति अपनी रक्षा के लिए धरती-पुत्र पुरूरवा को पुकारती है और स्वयं के देवताओं को तृणवत समझती है।

दिनकर के विचार दर्शन में भाग्यवाद और परलोक-कल्पना के लिए जगह नहीं है। ये दोनों मानव की जागृत प्रतिभा, साहस और सामर्थ्य की अपेक्षा करते हैं। दिनकर पौरुष के अभिलाषी रहे हैं। पुरुषार्थ बल से आदमी अपना इतिहास स्वयं लिखता है। तभी तो 'रश्मिरथी' का कर्ण कहता है-

विधि ने था क्या लिखा भाग्य में, खूब जानता हूँ मैं,
बाहों को, पर कहीं भाग्य से बली मानता हूँ मैं।

अथवा 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म के इस कथन को देखिए-

नर-समाज का भाग्य एक है, वह श्रम, वह भुज-बल है,
जिसके सम्मुख झुकी हुई पृथ्वी, विनीत नभ-तल है।

'उर्वशी' में तो परलोकवाद को पूरी तरह से खारिज कर दिया गया है। इस तरह 'रश्मिरथी', 'कुरुक्षेत्र' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' दिनकर के पौरुषवादी दर्शन के प्रमाणित दस्तावेज हैं। उन्होंने स्वर्गवादी कल्पना को धाराशायी करना चाहा है, जिसकी पराकाष्ठा गंगा-पुत्र भीष्म के इस कथन में मिलती है-

ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में,
धर्मराज! जो कुछ है, वह है मिट्टी में, जीवन में।

दिनकर के समतामूलक चिंतन पर विचार किया जाए तो उसमें 'सर्वे भवन्तु सुखनः सर्वे सन्तु निरामया...' के भारतीय चिंतन के साथ मार्क्स के साम्यवादी विचार भी समा जाते हैं। असमानता और प्रतिरोध दोनों एक-दूसरे के साथ-साथ चलते हैं। व्यवस्था के आतंक से स्थापित शान्ति के भीतर क्रांति का लावा पिघलते रहता है। यही लावा अपराधी व्यवस्था के नाश का कारण बनता है। मार्क्स का कथन है कि 'पूँजीवाद अपने नाश का बीज स्वयं बोता है।' दिनकर की अनुभूति में भी इसे देखा जा सकता है- 'वैभव की मुस्कानों में छिपी प्रलय की रेखा।'

सुख-भाग का असमान विभाजन ही प्रतिरोधी ताकत को ललकारता है। इसलिए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जब तक समाज में समानता नहीं होगी तब तक शान्ति की कल्पना करना ही बेइमानी है-

शान्ति नहीं तब तक, जब तक
सुख-भाग न नर का सम हो।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो।

मार्क्स ने जिस वर्गहीन समाज की बात कही है उसे दिनकर की इन पंक्तियों में साफ-साफ देख सकते हैं। दिनकर का अंतिम लक्ष्य इसी समरस समाज का रहा है। इसका मतलब यह नहीं कि वे शुष्क राजनीतिक चिंतन को सामाजिक जीवन की मानवीय चेतना पर उतारना चाहते हैं। उनके सामने ओज और अंगार जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही भावुक हृदय की कोमलता। उनके रचना-संसार को मथकर देखा जाय तो उससे जो कुछ निकलेगा, उसमें हृदय और मस्तिष्क, भावना और वृद्धि का समन्वित नवनीत मिलेगा। उनकी रचनाओं को विभाजित किया जाए तो नंदकिशोर नवल के शब्दों में, "उनकी भी दो धाराएँ है- एक धारा 'हुंकार' और सामधेनी' की कठोर क्रांतिकारी कविताओं की है और दूसरी 'रसवंती' और 'द्वन्द्वगीत' की कोमल प्रेम और शृंगारपरक

कविताओं की। जैसे उनकी पहली काव्यधारा 'कुरुक्षेत्र' में शीर्ष पर पहुँचती है, वैसे ही उनकी दूसरी काव्यधारा 'उर्वशी' में।" वैसे देखा जाय तो 'कुरुक्षेत्र' का षष्ठ सर्ग उनकी सम्पूर्ण रचना-दृष्टि का वैचारिक केन्द्र है, जिसमें कला और विज्ञान का समन्वय हुआ है। यही समन्वय जब मूर्त्त रूप धारण करता है तो 'मुख में वेद पीठ पर तरकस' वाले परशुराम बनकर खड़ा होता है। दिनकर परशुराम के इस व्यक्तित्व से प्रभावित तो थे लेकिन उनकी एकांगिकता का सीधा विरोध करते हैं।

दिनकर ने समय को झकझोरा, निचोड़ा और नहीं हुआ तो तोड़-मरोड़ कर राष्ट्रीय संदर्भ के अनुकूल बनाया और उसका मार्ग-निर्देशन कर 'अपना इतिहास गढ़ने का' सार्थक और सफल प्रयास किया। उन्होंने देखा कि भारत में वर्ण-शत्रुता की समस्या वर्ग-विरोध के प्रश्न से बड़ी है। कभी 'गीता' की रचना हुई थी, आज दिनकर रचित आधुनिक गीता 'कुरुक्षेत्र' हमारे हाथ में है। लेकिन सावधान! दिनकर केवल युद्ध-दर्शन के प्रवक्ता नहीं हैं, प्रेम-दर्शन के प्रणेता भी हैं, जिनके एक हाथ में "कुरुक्षेत्र" हैं तो दूसरे में "उर्वशी"। इन दोनों को मिलाकर देखें तो उनकी रचना-दृष्टि में वैज्ञानिक विश्वास मिलेगा, आस्था का अधकार और कल्पना का आदर्शवाद नहीं। संपूर्ण ब्रह्माण्ड इन्हीं दो विपरीतों के सामंजस्य से चालित होता है। उष्णता और शीतलता के संयोग से ही ऊर्जा पैदा होती है। इसी वैज्ञानिक प्रक्रिया के तहत प्राणी ओज और शृंगार के साहचर्य से जीवनी-शक्ति ग्रहण पौरुष प्राप्त करता है। दिनकर पुरुष के नहीं, पौरुष के कवि हैं, व्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व के गायक हैं, राजनीति नहीं, नीति के प्रणेता, राष्ट्र नहीं, राष्ट्रीयता के प्रवक्ता हैं। यह हुंकार किसी और की नहीं, स्वयं दिनकर की है कि- "मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं, उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।" दिनकर की सम्पूर्ण रचना-चेतना को देख जाइए तो वह और कुछ नहीं, सामाजिक संरचना आधरित शोषण, अन्याय, अनाचार, अपमान से लेकर राष्ट्रीय विसंगतियों के प्रति जन-आक्रोश शब्द-रूप ग्रहण कर विस्फोट पैदा करता है।

कमरा न. 3/शिक्षक आवास, जमशेदपुर
को-ऑपरेटिव कॉलेज, जमशेदपुर (झारखंड)-831001

काव्य और प्रेरणा

अजय कुमार दूबे

धन्य बिहार की पावन भूमि
दिनकर का अवतार हुआ।
यौवन ओज के संगम से
साहित्याकाश करतार हुआ।
प्रथम कृति वारदोली विजय
जो छात्र सहोदर में आई।
प्रणभंग थी दूसरी कृति
तीसरी रेणुका सबको भाई।
शृंगी का निनाद यहाँ है
अलि का गुनगुन छाया है।
उत्कंठा है छायावाद की
प्रगतिवाद की माया है।
चौथी रचना हुंकार उठी
जो हिन्दुस्तान का हुंकार है
सर्वस्व त्याग हो राष्ट्रहित में
बलि का उठता ज्वार है।
पाँचवीं रसवन्ती कल्पना-रानी
नव-वधू-सी सजती जाती है।
सौन्दर्य-प्रेम को गले लगाकर
मधु घट-घट छलकाती है।
मानस द्वन्द्व की झाँकी देखें
षष्ठम् कविता द्वन्द्वगीत में।
प्रेम और कर्तव्य के झूले
दीख रहे हैं गायक में।
सातवीं बालोपयोगी रचना
धूप-छाँह सुख्यात हुई।
आठवीं रचना कुरुक्षेत्र तो
अग-जग में विख्यात हुई।
सामधेनी, बापू, इतिहास के आँसू
रश्मिरथी, धूप और धुआँ।
नील-कुसुम, दिल्ली दिनकर की
नए सुभाषित गहरे कुँआ।
दाह और शृंगार उर्वशी में
परशुराम की प्रतीक्षा उन्नीसवीं।
कोयला और कवित्व, आत्मा की आँखें
मृत्ति-तिलक है बाइसवीं।
सूर्य शूर तू काव्यमयी है
राष्ट्रकवि पद पाया है।
अपराजिता प्रेरणा तेरी
जन-गण-मन ही गाया है।

डी.पी.एस. पटना, चाँदमारी, शाहपुर, दानापुर कैंट, पटना

सामाजिक चेतना के जननायक महाकवि दिनकर

डॉ. परमानंद राय

राष्ट्रकवि दिनकर की जन्मशती के अवसर पर उनकी निर्भीक साहित्य साधना का स्मरण करना राष्ट्रीय जागरूकता का भी परिचायक है। सन् 2007 भारत के इतिहास में एक अनोखा वर्ष है। इसी वर्ष हिन्दुस्तान की आजादी की 60वीं वर्षगाँठ है, तो प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं सालगिरह भी है। सत्याग्रह का शताब्दी वर्ष भी इसी वर्ष मनाया जा रहा है। वर्षगाँठों के कुंभवर्ष के रूप में 2007 ई. का अवतरण हुआ है। इसी वर्ष भारतीय राष्ट्रीय चेतना के अमर उद्‌गाता प्रणेता दिनकर की जन्मशती को मनाया जाना एक अद्‌भुत सुखद संयोग है।

कोई भी रचनाकार अपनी रचना का आधार अपनी आबोहवा से ही ग्रहण करता है किन्तु अभिव्यक्ति उसकी निजी हुआ करती है। जो साहित्यकार/रचनाकार अपनी अभिव्यक्ति में जितना समष्टिगत होता है उसे उसी अनुपात में सामाजिक स्वीकृति भी मिलती है। इतिहास साक्षी है कि संक्रांति काल में बुद्धिजीवियों की भूमिका अहम् और महान रही है। सोई और दिशाहीन जनता को दिशा और नेतृत्व प्रदान कर बुद्धिजीवी वर्ग ने आदर्श मिशाल पेश किया है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई और सन् 1974 के जे.पी. आंदोलन के दौरान दिनकर के ओजस्वी और निर्भीक उद्‌गारों ने जवाँ दिलों में बहादुरी, साहस और त्याग के चिराग रोशन किए।

15 अगस्त 1947 के प्रथम स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर आकाशवाणी से दो कविताएँ प्रसारित हुई थीं। उनमें दिनकर की एक कविता 'अरुणोदय' में दिनकर ने आजादी का गर्मजोशी से स्वागत करते हुए लिखा था कि, *"दुनिया की महफिल में भारत स्वाधीन बैठने जाता है"* किन्तु उनका स्वर मात्र समारोही नहीं था। उनकी चिन्ताकुल किन्तु चिन्तनशील लेखनी में भविष्य की चुनौतियाँ भी कौंध जाती हैं-

'आजादी नहीं, चुनौती है,
है कोई वीर जवान यहाँ?
हो बचा हुआ जिसमें
अब तक मर मिटने का अरमान यहाँ?

है कौन, हवा में जो उड़ते
इन सपनों को साकार करे?
है कौन, उद्‌यामीनार, जो
इस खंडहर का जीर्णोद्धार करे?

आजादी के स्वप्निल हिंडोले पर तैरना किसको अच्छा नहीं लगता किन्तु मिट्टी से जुड़ा व्यक्ति, कवि या नेता मात्र सपनों की सतरंगिनी दुनिया का बसेरा नहीं हो सकता। यही कारण है कि 'रेशमी नगर' के पथिक की दृष्टि में उसका गाँव और समाज हमेशा कौंधता रहता है। इस कारण कवि चुनौती-ललकार के साथ-साथ सत्ता-प्रतिष्ठानों से जुड़े लोगों को उनके कर्त्तव्य बोध के प्रति वह जागरूक भी करता रहता है।

देश विभाजन के कारण बढ़ती हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने देश की एकता और सौहार्द को काफी अशान्त और कमजोर कर दिया था, जिससे हमारी अस्मिता को गहरा खतरा पैदा हो गया था। देश का समझदार और शांतिकामी वर्ग इससे आंदोलित हो उठा था। यही कारण था कि जनता में सौहार्दपूर्ण संबंध की पुनर्स्थापना हेतु दिनकर का कवि मचल उठता है और चुनौतीपूर्ण आह्वान करने के लिए प्रेरित होता है।

दिनकर की ललकार अभी समीचीन नहीं है क्या? देश की चट्टानी एकता क्या हमारी धार्मिक, साम्प्रदायिक सहिष्णुता पर आधारित नहीं? धार्मिक उन्माद ने जहाँ दिनकर को चिन्ताकुल कर दिया था, वहीं गांधी की हत्या ने उन्हें मर्माहत कर दिया था। उनकी हृदयविदारक वेदना उनकी कविता 'वज्रपात' में चू जाती है-

'यह भी न पूछ सकते बापू,
क्यों हमें छोड़ तुम चले गये?'

देश आजादी के जोश में, उल्लास उमंग और समारोह में डूबा-खोया मस्त था। देश के नेतागण जनता के सपनों की खेती कर रहे थे। सत्ताधारी वर्ग आँकड़ों के सब्जबाग दिखा रहा था किन्तु निर्भीक संवेदनाशील वर्ग अपनी ईमानदारी के प्रति सजग और सचेष्ट था। वे जमीनी सत्य के प्रति

जागरूक थे और जागरण की अलख जगाने में लगे हुए थे। देश की तकदीर मात्र चुनावी जीत-हार से नहीं बदली जा सकती है। इसके लिए जनता को जन-प्रतिनिधियों और शासकों को अपने उसूल और चरित्र पर कड़ी नजर रखने की जरूरत है। इसी परिप्रेक्ष्य को अपनी दृष्टि में रखकर दुखी किन्तु जागरूक कवि दिनकर ने आजादी की पहली सालगिरह के ही अवसर पर अपनी 'पहली वर्षगाँठ' नाम कविता में सरकारी तंत्र में जन्मे भ्रष्टाचार रूपी पौधे की ओर बड़ी बेवाकी और निर्भीकतापूर्वक संकेत किया है-

'टोपी कहती है, मैं, थैली बन सकती हूँ
कुरता कहता है, मुझे बोरिया ही कर लो
ईमान बेचकर कहती हैं, आँखें सबकी
बिकने को हूँ तैयार, खुशी से जो दे दो।'

हमारा सार्वजनिक जीवन तेजी के साथ अविश्वसनीय बनता जा रहा है और लोकतांत्रिक व्यवस्था हास्यास्पद। क्योंकि आज शिष्टाचार के दायरे में ही भ्रष्टाचार समाया लगता है। कवि की सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टि में सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजें दृष्टिगोचर हो जाती हैं। ऐतिहासिक प्रसंग की परिधि से बाहर इस प्रसंग में दिनकर के 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' की इस आह्वान और शंखनाद की समीचीनता-समसामयिकता कितना जीवन्त, प्राणवंत और ज्वलंत हो उठता है। दिनकर की कविता की सबसे बड़ी विशेषता है उसका वक्त की नजाकत और उसकी चाल में चलने की क्षमता और योग्यता। यही कारण है कि उनकी कविता में आम जनता अपनी आवाज और अपनी तस्वीर को महसूस करती है। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में दिनकर की कविताएँ बहुतेरे सेनानियों का कंठहार हो गई थीं। उनकी कविताओं का गायन वातावरण में ताजगी, उत्साह और नयी स्फूर्ति और थिरकन पैदा किया करता था जो बदस्तूर आज भी जारी है। उनकी कविताओं के गायन से वातावरण में मानो नयी ऊर्जा का विस्फोट होता चलता है जो मरियल से मरियल व्यक्तियों को भी उल्लास और साहस से भरकर ऊर्जस्वित करता रहता है। इस अजस्र ऊर्जा का स्रोत कवि मिट्टी से लयात्मक और रागात्मक जुड़ाव में ही सन्निहित है।

दिनकर ने पंत, प्रसाद, महादेवी और निराला से अलग राह खोजने की ठानी और अज्ञात रूप से तिलक की मृत्यु (1920) पर 'एक भारतीय आत्मा' द्वारा लिखित कविता ने उन्हें मदद की। उन्हीं की स्वीकारोक्ति में "साहित्य में अगर कोई मेरा गुरु हो सकता है, तो वे माखनलाल जी ही हैं।"

दिनकर के गंभीर अध्येता रूप का परिचय छात्रों को उस समय मिलता था जब हिन्दी कविता की गंभीर और ज्ञानोदय व्याख्या के क्रम में वे अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की सौ-सौ पंक्तियों को एक स्वर में सुना देते थे। यही नहीं, इस बीच दिनकर का राष्ट्रभक्त जागृत होकर बंगला के कवीन्द्र रवीन्द्र और नजरूल इस्लाम तथा उर्दू के इकबाल की अनेकानेक कविताओं को अबाधगति से सुनाकर अपनी विलक्षण प्रतिभा और ज्ञान का उत्सर्जन किया करते थे।

दिनकर और हरिवंश राय 'बच्चन' दोनों को अपने सहयोगियों से इर्ष्या और द्वेष झेलना पड़ा किन्तु जीवट के व्यक्ति इससे परास्त नहीं होते। वे दूना उत्साह और परिश्रम से उसका जवाब दिया करते हैं। प्रोफेसरी काल में ही 'रश्मिरथी' की रचना शुरू हो गई थी। इस काल में अपने सहयोगियों के हाथों जो कुछ खट्टा-तीता भोग रहे थे उसकी अभिव्यक्ति वे कर्ण को सामने रखकर कर रहे थे। उनकी स्वीकारोक्ति में *"उनका सारा आक्रोश रश्मिरथी खंड काव्य में मूर्त रूप धारण करता रहा।"* द्रष्टव्य है कि दिनकर ने अपनी वैयक्तिक भावना और प्रतिक्रियाओं को बुद्धिपरक आवेशित तार्किक परिणति देकर अपने रचनात्मक कौशल और प्रतिभा का परिचय दिया।

कर्ण चरित के माध्यम से गुण से अधिक जाति-गोत्र को महत्ता प्रदान करने वाले समाज के द्रोणाचार्यों को बेनकाब करते हुए दिनकर की लेखनी टंकार करती रहती है-

'किसी वृंत पर खिले विपिन में, पर, नमस्य है फूल,
सुधी खोजते नहीं गुणों का आदि, शक्ति का मूल।'

गुणग्राही लोग ही सुधीजन कहला सकते हैं। कर्ण के शौर्य, उनकी महान दानशीलता और मित्रता की अटूट निष्ठा के सामने उसकी जन्म-कथा को नकारना दिनकर की नई मानवता का जयगान-जयघोष ही है। जातिवादी चिंतन और जातीय अंकगणित और समीकरण के आधार पर राजनीतिक दलों द्वारा टिकट बाँटना क्या लोकतंत्र के प्रति सच्चे समर्पित राजनीतिक कार्यकर्ता रूपी कर्णों का दमन-शोषण और उत्पीड़न नहीं?

'ऊपर सिर पर कनक-छत्र, भीतर काले-के-काले,
शरमाते हैं नहीं जगत् में जाति पूछने वाले।'

सुयोधन के माध्यम से दिनकर लोकतांत्रिक मर्यादा की प्रतिष्ठापना करते हुए हुंकार लगाते हैं-

'बड़े वंश से क्या होता है, खोटे हों यदि काम?
नर का गुण उज्ज्वल चरित्र है, नहीं वंश-धन-धाम?

टी.एस. इलियट का मानना है कि कविता में व्यवहृत कुछ मुहावरे, बिम्ब या कोई पंक्ति हमारे मानस में यदि स्वतः अनायास ही उभरते हैं, कौंधते हैं तो वह सर्वोत्तम कविताओं की कोटि का अधिकारी है। इस मान्यता के आधार पर देखा जाय, तो आंदोलन और संक्रांति काल में दिनकर की कविताएँ हवा में तैरने लगती हैं। यह उनकी भाषा की सहजता,

सरलता और उसमें कवि की ऊर्जस्वित शब्द-समूहों जनित ताजगी और स्फूर्ति के कारण संभव होता है। दिनकर तुलसी की लोकप्रियता का राज उनकी सरल भाषा को ही मानते हैं और उन्हीं को आदर्श मानकर अपनी भाषा को वे सरल से सरल बनाते रहे। सांसद होने के बाद भी दिनकर की नजरों में गाँवों की भूखी-नंगी तस्वीर कौंधती रहती थी। इससे उनका मन अशांत, उद्वेलित और उत्तेजित हो जाया करता था। इसी को ध्यान में रखकर दिनकर ने 1952 में ही 'हक की पुकार' शीर्षक नामक कविता की रचना की थी। गांधी का मानना था कि भारत की आत्मा गाँवों में बसती है। क्या हमारा ग्रामीण जीवन भूख, भय, अशिक्षा, शोषण और उपेक्षा से अभी भी मुक्त हो सका है? यदि नहीं तो दिनकर की कविता की समीचीनता और प्रासंगिकता क्या अभी शेष नहीं है? इसी प्रसंग में दिल्ली वालों (सत्ताधिकारियों) को संबोधित ये पंक्तियाँ क्या प्रसंगानुकूल नहीं हैं-

'मन की उमंग पर जंजीरें,
तन ऊपर एक लंगोटी है,
आँखे गड्ढे में धँसी हुई,
हाथों में सूखी रोटी है'
'ओ जश्न-मौज वालों, मन में,
कुछ डूब भेद गुनते जाओ
आजादी का है पर्व अगर,
हक की पुकार सुनते जाओ'
यह वह मनुष्य, जिसकी ज्वाला,
को ढाल बना तुम लड़ते थे
क्या हुआ कि इस भूखी प्रतिमा,
को देख आज भय लगता है?
भर गयी कौन-सी नस जिससे,
वह दर्द नहीं अब जगता है?

सुख-सुविधा जनित संवेदनहीनता, संवेदन शून्यता पर प्रहार करती लेखनी, जनता के साथ अपने आत्मीय लगाव-जुड़ाव के कारण ही आज भी दिनकर अपनी कविताओं में आम जनता की धड़कन और आवाज बन कर उभरते हैं। उर्वशीकार की उर्वशी ड्राइंग रूम में भले ही स्वान्तः सुखाय का पर्याय हो सकती है किन्तु जंगे-मैदान में दिनकर अपनी 'हुंकार', 'रश्मिरथी' और 'कुरुक्षेत्र' के उद्गाता, उद्घोषक और प्रणेता के रूप में ही प्रतिष्ठापित और नमन्य हैं।

मुरारका कॉलेज, सुलतानगंज, भागलपुर (बिहार)

जो आग नहीं बन सकते

डॉ. हरीश अरोड़ा

वह सूर्य भला कैसा जिसमें अग्नि का संसार नहीं
वह गीत भला कैसा जिसके शब्दों में राष्ट्र का प्यार नहीं।

जो नहीं सत्य का पथ देती वह धरा नहीं है हिन्द देश,
है भरा स्नेह माधुर्य जहाँ वह मरा नहीं है हिन्द देश।
वह जीवित है अब भी यौवन की आँखों में जा कर देखो,
फिर कैसी शक्ति, कैसा बल, जो झुका सके यह हिन्द देश।
हम हिम शिखरों से ऊँचे हैं किन्तु अभिमान न छू पाया,
हम सागर की भाँति जीते, पर नफरत की जलधार नहीं।

यह हिन्द देश है जहाँ पूज्य हैं नर और' पशु समान सदा,
यह हिन्द देश है जिसके भू पर गूँजे गौरव गान सदा।
यह हिन्द देश है जहाँ तिमिर भी झुकता रवि के चरणों पर,
यह हिन्द देश है जहाँ सत्य का होता है सम्मान सदा।
है जब तक भरा अंधेरे का सागर मनुष्य की आँखों में,
तब तक ही सम्पूर्ण धरा पर प्रेम-भरा सत्कार नहीं।

यह गीता ज्ञान की भूमि है, यह कर्म-पंथ भारत माता,
यह दिव्य लोग आदर्श धरा, पुण्य-पुनीत भारत माता।
यह पराधीन जन का सपना, यह नारी का शक्ति सम्बल,
यह विश्व-चेतना की अग्नि, यह ज्योति-किरण भारत माता।
यह अनुरागी, यह भावमयी, यह विश्व तीर्थ मंगलकारी,
यह आदर्शों की भूमि है, खण्डित जिसके संस्कार नहीं।

किन्तु जब अपने हाथों में जीवन उल्लास नहीं होगा
और ज्ञान कर्म की भूमि पर, सत्य-विश्वास नहीं होगा।
तब श्रमजीवी की श्रम बूँदें इतिहास नया लिख डालेंगी
और वीरों की इस भूमि पर कायर-इतिहास नहीं होगा।
उठो, चीरकर हृदय उठा लो शंख क्रांति का हाथों में,
यदि मातृचरण में शीश चढ़ें, तो कोई भी उपकार नहीं।

जब शब्द करें विद्रोह, इधर अंगार उगलते जायेंगे,
जब चीर दिशाओं का सीना, तूफान मचलते जायेंगे।
जब मृत्यु सदा झुक जाती है, सम्मुख भारत के वीरों के,
फिर जयचंदों के चरण भारती पर कैसे रह पायेंगे।
है वीर वही जिसके भुजदण्डों में बारूद भरा है,
जो आग नहीं बन सकते, उनको यौवन का अधिकार नहीं।

हिन्दी विभाग, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
नेहरू नगर, नई दिल्ली-110065

संस्कृति के चार अध्याय: यात्रा गंगोत्री की

पंकज सुबीर

भारतवर्ष के इतिहास को लेकर रहस्यों के जो कुहासे हैं, वे इतने गहन हैं कि इतिहासकार भी इस भूलभुलैया में भटककर रह जाते हैं। तिस पर ये कि यह एक सभ्यता, एक संस्कृति या एक जाति का इतिहास नहीं है। यह तो सदियों से भारतभूमि पर आनेवाली घुमन्तू जातियों का इतिहास है। जातियाँ, जो स्वभाव से तो घुमन्तू थीं, यायावर थीं, किन्तु जब उन्होंने भारत की भूमि पर कदम रखा तो अपना सारा यायावरपन भुला बैठीं। सदियों से भारत की भूमि आकर्षित करती रही है, विश्व की तमाम सभ्यताओं और संस्कृतियों को। इस्लाम के संस्थापक हज़रत मुहम्मद ने स्वयं कहा था कि मुझे भारत की दिशा से ठंडी हवा के झोंके आते हैं। इसी आकर्षण का परिणाम था कि एक के बाद एक जातियाँ आती रहीं और तीन महासागरों से घिरे संस्कृतियों के इस महासागर में विलीन होती रहीं। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारत की भूमि ने भटकाव को ठहराव दिया। वे जातियाँ, जो जन्म से बंजारा थीं, भारत की भूमि ने उनको ठहरकर जीना सिखाया और इसी का परिणाम रहा कि भारत में आने वाली जातियाँ अपने साथ जो सभ्यता जो संस्कृति लाईं, वो सभ्यता, वो संस्कृति भी अपना कुछ न कुछ अंश छाप के रूप में यहाँ के जनजीवन पर छोड़ती रहीं। भारत के बारे में कहा जाता रहा कि ये शान्ति का द्वीप है, यहाँ आने वाला यहाँ से जाने के बारे में सहज ही नहीं सोच पाता है। शान्ति का द्वीप यदि भारत को कहा जाता है, तो वो भी, वैसे ही नहीं कहा जाता है, उसके पीछे भी बाकायदा कारण हैं, बुद्ध, महावीर से लेकर नानक और गांधी तक शान्ति के कितने दूतों को तो जन्म दे चुकी हैं ये भूमि।

इसी भारत की जड़ों की तलाश करने का एक प्रयास है, रामधारी सिंह दिनकर का अद्‌भुत ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय'। अद्‌भुत इस मायने में कि गंगा और यमुना के संगम के पश्चात कुछ दूर पर ही जब ये पहचानना मुश्किल हो जाता है कि कौन-सा पानी गंगा का है और कौन-सा यमुना का, तो यहाँ तो कई-कई सभ्यताओं, कई-कई संस्कृतियों के संगम की महागाथा है। एक ऐसा इतिहास है जो कहीं लिखा नहीं गया है, केवल श्रुतियाँ हैं, कुछ महाकाव्य हैं और कुछ पुरातात्विक अवशेष हैं। इनके सहारे भारत की कहानी लिखना एक ऐसा दुरूह कार्य है, जिसे दिनकर जी ने इतनी कुशलता के साथ पूर्ण किया है कि इस बात का एहसास ही नहीं होता कि लेखक तो मूलतः साहित्य का अध्यापक है, इतिहास का नहीं। किन्तु जहाँ इतिहास मौन हो जाता है, वहाँ साहित्य संकेत देना प्रारम्भ करता है। ग्रन्थ की भूमिका में स्वयं दिनकर जी लिखते हैं कि साहित्य की सामासिक पृष्ठभूमि को समझने के क्रम में मुझे इतिहास की पुस्तकें पलटनी पड़ीं और धीरे-धीरे मैं इतिहास की गहराई में उतरने लगा। भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण इतिहास की तलाश ने इस अद्‌भुत अंश को जन्म दिया।

दिनकर जी ने भारत की भूमि पर हुई चार बड़ी सांस्कृतिक क्रान्तियों पर ये चार अध्याय रचे हैं। वे स्वयं कहते हैं कि भारत की संस्कृति का इतिहास इन्हीं चार संस्कृतियों का इतिहास है। दिनकर जी ने 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग काफी सोच-समझकर किया है। वस्तुतः क्रान्ति शब्द परिवर्तन का द्योतक है। जड़ता जब बढ़ती है तब क्रान्ति होती है। जड़ता वैचारिक हो, सामाजिक हो, सांस्कृतिक हो या किसी भी रूप में हो, जड़ता को तोड़ने के लिए ही क्रान्ति होती है। दिनकर जी ने सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रयोग इसलिए किया है क्योंकि भारतीय संस्कृति पर इनके चलते एक स्पष्ट परिवर्तन दिखाई दिया। संस्कृति के चार अध्याय को हम गंगोत्री की खोज कर, वहाँ से गंगा सागर तक की यात्रा कह सकते हैं। उसमें भी गंगोत्री को खोज अर्थात भारतीय जनता की रचना के सूत्र तलाशने वाले अध्याय में दिनकर जी ने तथ्यों और तर्कों का अनूठा सम्मिश्रण किया है। पहली सांस्कृतिक क्रान्ति, जिसे दिनकर जी ने आर्यों का आगमन माना है, इस क्रान्ति ने आर्यों अथवा हिन्दुओं के बुनियादी समाज की स्थापना की। दिनकर जी के अनुसार आर्य तथा आर्येत्तर संस्कृतियों के मिलन से, जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वही भारत की बुनियादी संस्कृति है अर्थात उसे हम गंगोत्री की संज्ञा दे सकते हैं।

'संस्कृति के चार अध्याय' की एक और विशेषता इसका शिल्प और इसकी भाषा है। इतिहास की बात तो है किन्तु न तो शिल्प और न ही भाषा, दोनों ही इतिहास की नहीं है, दोनों ही साहित्य के हैं। 'संस्कृति के चार अध्याय' ने एक बात और बताई, वह यह कि इतिहास को किस भाषा में लिखा जाए कि वह रोचक हो जाए। साहित्यकार के द्वारा इतिहास लिखने में और इतिहासकार के इतिहास लिखने में क्या फर्क होता है यह जानना हो तो 'संस्कृति के चार अध्याय' के पन्ने पलटने होंगे। इसीलिए इस ग्रन्थ को जहाँ हम ज्ञानवर्द्धक कहेंगे तो उसके साथ एक और शब्द लगाना होगा, रोचक और ज्ञानवर्द्धक। अकसर ऐसा होता है कि जो रोचक होता है वो तथ्यों की नींव पर नहीं होता है, किन्तु ये भ्रम भी इस ग्रन्थ से दूर होता है। शुरुआत में ही दिनकर जी बात करते हैं जन विज्ञान की और सम्भवतः यही वो सूत्र है जो 'संस्कृति के चार अध्याय' को रचने का प्रेरणा-सूत्र है। दिनकर जी ने जन विज्ञान की चर्चा करते हुए लिखा है कि जन विज्ञान ने संसार की सभी जातियों को मुख्यतः तीन नस्लों में बाँट रखा है। गोरे काकेशियन, पीले मंगोल और काले इथियोपियन। रंग की दृष्टि से संसार में तीन प्रकार के लोग हैं- गोरे, काले और पीले। यहीं से सूत्र निकालते हुए दिनकर जी लिखते हैं कि भारतीय जनता में इन तीनों रंगों के प्रतिनिधि मौजूद हैं अतः भारतीय मानवता विश्व मानवता की अद्‌भुत प्रतीक मानी जा सकती है। भारत को विविधताओं का देश कहा जाता है, किसी भी अन्य देश में जाने पर आप त्वचा के रंग के आधार पर ही ज्ञात कर सकते हैं कि यहाँ का स्थानीय नागरिक कौन है और कौन विदेशी है। किन्तु भारत के सन्दर्भ में यदि कहें तो यह इतना आसान नहीं है। केवल त्वचा के रंग और शारीरिक संगठन से अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। दिनकर जी इसी एक सूत्र को पकड़कर एक महान ग्रन्थ की रचना कर डालते हैं। एक ऐसा ग्रन्थ जो अब समय की धरोहर है।

हिन्दू संस्कृति के उद्‌गम स्थल की खोज करते हुए दिनकर जी लिखते हैं कि इस देश में ईसाइयों और मुसलमानों के पूर्व, एक के बाद एक, कम-से-कम ग्यारह जातियों के आगमन और समागम के प्रमाण मिलते हैं। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण, मंगोल और तुर्क इन सभी जातियों के लोग कई झुंडों में इस देश में आये और हिन्दू समाज में शामिल होकर सब के सब उसका अंग हो गए। दिनकर जी कहते हैं कि असल में हम जिसे हिन्दू संस्कृति कहते हैं, वह किसी एक जाति की देन नहीं है, बल्कि इन सभी जातियों की संस्कृतियों के सम्मिश्रण का परिणाम है। गौरतलब बात ये है कि दिनकर जी बात करते हैं, उन ग्यारह जातियों की, जो इस्लाम और ईसाई धर्म के पूर्व भारत में आईं। क्योंकि ये ग्यारह जातियाँ थीं, धर्म नहीं थे, और चूँकि ये धर्म नहीं थे, इसलिए ये जातियाँ, आर्य संस्कृति या हिन्दू धर्म में विलीन होती चलीं गईं। हिन्दू धर्म का सूक्ष्म अध्ययन करने पर इसमें जो शाखाएँ, जो बहुदेववाद, जो रीति-रिवाज़ों की भिन्नताएँ नजर आती हैं, वे दिनकर जी की इस बात की पुष्टि करती हैं कि हिन्दू धर्म, जातियों की संस्कृतियों के मिश्रण का परिणाम है। इस्लाम और ईसाइयत का आगमन धर्म के रूप में हुआ, जाति के रूप में नहीं, इसीलिए भारत की आर्य संस्कृति इनको अपने में समाहित नहीं कर पाई और ये धर्म अपने मूल स्वरूप में ही भारत में रहे और आज भी रह रहे हैं। शायद इसीलिए दिनकर जी उन ग्यारह जातियों की बात करते हैं जो आती गईं और आर्य संस्कृति का हिस्सा बनतीं गईं, अपनी संस्कृति की कुछ छाप आर्य संस्कृति पर छोड़ते हुए और आर्य संस्कृति की धारा में समाहित होते हुए।

दिनकर जी कहते हैं कि हज़रत ईसा ने जैसे ईसाइयत को और हज़रत मुहम्मद ने इस्लाम को जन्म दिया, हिन्दू धर्म ठीक उसी प्रकार किसी एक पुरुष की रचना नहीं है। हिन्दू धर्म किसी एक विश्वास पर आधारित नहीं है, वह अनेक विश्वासों का समुदाय है। भारतीय जनता की रचना उन अनेक जातियों को लेकर हुई, जो समय समय पर इस देश में आती रहीं, उसी प्रकार हिन्दुत्व भी इन विभिन्न जातियों के धार्मिक विश्वासों के योग से ही बना है। भारतीय संस्कृति की गंगोत्री की तलाश में दिनकर ठीक वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ बिखरे हुए से कुछ चिह्न हैं। दिनकर जी के अनुसार, आर्य जब यहाँ आए, उसके पूर्व ही, यहाँ सभ्यता का विकास हो चुका था और धर्म तथा संस्कृति के अनेक अंग-रूप ग्रहण कर चुके थे। आर्यों ने इन सबको लेकर आर्य धर्म का संगठन किया। इसके बाद आनेवाली जातियों ने इस धर्म को कुछ न कुछ दिया, कभी पोशाक में, कभी रहन-सहन में, कभी खान-पान में। दिनकर जी यहीं पर एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं कि हिन्दू संस्कृति ने अपने को कूपमण्डूक नहीं बनाया और इसे जहाँ से भी कोई अच्छी चीज मिलनेवाली थी, उसे इसने आगे बढ़कर स्वीकार कर लिया। यही कारण है कि हम हिन्दू धर्म में विश्व के सभी धर्मों के असली तत्त्वों का निचोड़ पाते हैं। यहाँ पर असली तत्त्वों का प्रयोग बहुत सोच-समझकर किया गया है, और ये प्रयोग हिन्दुत्व की अवधारणा को स्पष्ट कर देता है।

हिन्दू शब्द की उत्पत्ति की खोज करते हुए दिनकर जी कहते हैं कि ईरानी लोग 'स' को 'ह' कहते थे अतएव सिन्धू को उन्होंने हिन्धू कहा, इसी विकृति के चलते

आगे चलकर हिन्दू और हिन्दुस्तान दोनों शब्दों का प्रादुर्भाव हुआ। दिनकर जी कहते हैं कि हिन्दू शब्द मुसलमानों द्वारा दिया हुआ नहीं है, यह तो इस्लाम के जन्म से भी डेढ़ हजार साल पहले का शब्द है। दिनकर जी की बात का समर्थन राजस्थान की कुछ बंजारा तथा लोहाकुटेरी जातियाँ करती हैं, जो आज भी 'स' को 'ह' ही उच्चारित करती हैं। मसलन सबेरे को हबेरे, साथ को हाथ आदि। सिन्धु नदी के पार की सभ्यता अर्थात सिन्धु या हिन्धु सभ्यता। उधर यूनानी 'ह' को 'अ' उच्चारित करते थे, तो वह सिन्धु जो ईरान में हिन्धु हुआ वही यूनान में जाकर इन्धु बन गया और इसी दूसरी विकृति से जन्म हुआ इंडिया का। दिनकर जी कहते हैं कि भारत के बाहर के लोग भारत को या भारतवासियों को हिन्दू या इंडो कहते थे इसके प्रमाण मिलते हैं। जबकि भारत में ही प्राचीन संस्कृत तथा पालि ग्रन्थों में हिन्दू नाम तक नहीं मिलता है। इसका सीधा अर्थ है कि हिन्दू या हिन्दुस्तान या इंडिया, ये नाम सिन्धु पार के लोगों ने दिए, इस पार के लोगों को, क्योंकि उस पार के शिलालेखों में ये नाम हैं, पर इस पार नहीं है।

जो दिनकर जी का मत है, उसका अर्थ ये है कि भारतीय संस्कृति ने ग्रहण करने में विश्वास किया, आत्मसात करने में विश्वास किया। दिनकर जी भारतीयों के लिए आर्य शब्द का प्रयोग ठीक नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि भारतवासियों में अनेक प्रजातियों के लोग हैं। विवाह सम्बन्धों के द्वारा सभी जातियों के लोग जब परस्पर मिश्रित हो गए तो वे आर्य से हिन्दू हो गए। इसी प्रकार आर्यावर्त का अर्थ भारतवर्ष नहीं है, आर्यावर्त तो विन्ध्याचल पर समाप्त हो जाता था, पर भारतवर्ष तो कन्याकुमारी तक फैला है। आर्य, आर्यावर्त, आर्य-स्थान जैसे शब्दों को खंडित करने का आधार दिनकर जी इस बिन्दु पर तलाशते हैं कि आर्य सम्पूर्ण भारतवर्ष या भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते। आर्य तो एक प्रजाति है, जो अन्य जातियों की तरह भारत में आई और यहाँ की संस्कृति का हिस्सा बनी। दिनकर जी कहते हैं कि हिन्दू नाम, बहुत व्यापक अर्थों वाला है, जबकि आर्य नाम संकीर्ण है। हिन्दू नाम शेष दुनिया ने, उस महान सभ्यता या संस्कृति को दिया, जो सिन्धु के पार बसती थी। दिनकर जी की ही बात का सूत्र पकड़कर चलें तो आर्य तो वास्तव में एक जाति का नाम है, अतः संकीर्ण अर्थ तो होना ही है। दिनकर जी दृढ़तापूर्वक इस बात को स्थापित करते हुए कहते हैं कि आर्य, द्रविड़, कोल, किरात ये नाम इतिहास के प्रांगण में पड़ी क्षीण रेखाओं के नाम हैं। असल में भारत के निवासी हिन्दू हैं और उनका देश आर्य स्थान नहीं हिन्दुस्तान है।

दिनकर जी इस बात का भी बलपूर्वक खंडन करते हैं कि हिन्दू नाम मुसलमानों द्वारा दिया गया है। वे कहते हैं कि भारतवासी अपना हिन्दू नाम उस समय भी जानते थे जबकि मुसलमान इस देश में नहीं आए थे। वे यह अवश्य कहते हैं कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में हिन्दू शब्द का उल्लेख कहीं नहीं होना इस बात की पुष्टि अवश्य करता है कि इस्लाम के उदय के वर्षों पूर्व हिन्दू नाम ईरानियों के उच्चारण दोष से उत्पन्न हुआ है। बाद में यही नाम भारतीय संस्कृति का परिचायक हो गया क्योंकि यह आर्य की तरह जाति बोधक न होकर स्थान बोधक या संस्कृति बोधक था। इस बात की पुष्टि करते हुए एक बहुत मजेदार बात दिनकर जी लिखते हैं, वे कहते हैं कि जब मुसलमान इस देश में आए, तब नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, यूनानी, यूची शक, आभीर, हूण, मंगोल और तुर्क इनका कहीं कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा था। ये सब के सब हिन्दू समाज के चार वर्णों में बँटकर भलीभाँति पच खप चुके थे। कई प्रकार की औषधियों को कड़ाहे में डालकर जब काढ़ा बनाते हैं, तो उस काढ़े का स्वाद हर एक औषधि के अलग-अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न होता है। असल में उस काढ़े का स्वाद सभी औषधियों के स्वादों के मिश्रण का परिणाम होता है। चूँकि यहाँ पर काढ़ा औंटने का काम आर्यों ने किया, इसलिए भारतीय संस्कृति पर आर्यों के नाम का बौद्धिक लेबल साफ पढ़ा जा सकता है। लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि औषधियाँ आर्यों ने अनेक जातियों से लीं और उनका परिपाक करके हिन्दू संस्कृति को तैयार किया।

हम कौन हैं, हम कहाँ से आए, ये प्रश्न हर शिक्षित मानव को मथता रहा है। क्योंकि भारत की भूमि पर पग-पग पर भाषा, भोजन, वस्त्र सब कुछ बदलता नजर आता है ऐसे में यह रहस्य और गहराता जाता है कि यदि हम सबके पूर्वज एक ही थे, तो ये विभिन्नताएँ क्यों? संस्कृति के उद्‌गम की यात्रा है 'संस्कृति के चार अध्याय'। गंगोत्री की ये यात्रा इतनी सुखद है तो केवल इसलिए क्योंकि दिनकर जी कोई भी प्रश्न अनुत्तरित नहीं छोड़ते, वे उत्तर भी देते हैं और प्रमाण में तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। भारत को जानना हो तो 'संस्कृति के चार अध्याय' को पढ़ना होगा क्योंकि दिनकर जी स्वयं रोमां रोला को उद्धृत करते हुए कहते हैं, "अगर इस धरती पर कोई ऐसी जगह है, जहाँ सभ्यता के आरम्भिक दिनों से ही मनुष्य के सारे अपने आश्रय और पनाह पाते रहे हैं तो वह जगह हिन्दुस्तान ही है।"

पी.सी. लैब, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट
बस स्टैंड के सामने, सीहोर मध्य प्रदेश-466001

वर्गीय चेतना के प्रखर प्रणेता

डॉ. राहुल

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के काव्य का प्रमुख स्वर राष्ट्रीय तत्वों और भाव-धारा से अभिसिक्त है, परंतु वर्ग संघर्ष कवि को उत्तेजित करता है। शोषण के दृश्य उसके लिए यथार्थ के नये धरातल खोलते हैं। शोषण के प्रति चेतना की कई दृष्टियाँ दिनकर के काव्य में मिलती हैं। सामाजिक जीवन पद्धति और जीवन मूल्यों के प्रति वे सदैव सचेत थे। नये युग में सामन्तवादी सोच और दृष्टि, व्यवस्था के प्रति जर्जरित नीतियों और परंपराओं को तोड़कर वे एक नये समाज की रचना करना चाहते थे। यद्यपि नये समाज के निर्माण के प्रति हमारे राजनेताओं ने भी बड़े रंगीन सपने दिखाए थे। वे समाज पर पड़ने वाली सामंतवादी परछाइयों और इनके आकाओं को मिटाकर नये युग का सूत्रपात करना चाहते थे। इसके लिए वे निरंतर संघर्षरत रहते हुए कलम की धार तेज करते रहे। वे कभी अतीत का हवाला देते, तो कभी वर्तमान की बैचेनी और छटपटाहट के कारणों की कलई खोलते थे, क्योंकि समाज का यह पूँजीवादी वर्ग बौद्धिक चेतना को क्षीण कर देना चाहता था।

नवीन सृष्टि की दृष्टि में समाज का पुरातन तत्व तादात्म्य करता है, जिसके चलते सामाजिक परिणति और नवजीवन की प्रतिष्ठा की संभावना समाप्त हो जाती है। छायावादी कवियों ने पुरातन के परिवर्तन के प्रति कुछ इस प्रकार अपने दीप जलाए-

पुरातन का निर्वीक
सहन करती न प्रकृति पल एक।

प्रसाद जी की उपरोक्त पक्तियों के परिप्रेक्ष्य में पंत जी की पंक्तियाँ याद आती हैं- *'द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र।'* निराला की वाणी 'वीणावादिनी' में इसी परिवर्तन और नवीनता का वरदान माँगा गया था। परिवर्तन (विनाश) के बाद ही निर्माण किया जा सकता है। *गिरिजा कुमार माथुर* का काव्य- *'नाश का निर्माण फिर'* इसी ओर संकेत करता है, तो हम दिनकर की 'हुंकार' को कैसे भूल सकते हैं। 'हुंकार' में विनाश के समय की प्रतीति कवि को होती है, उनकी 'सामधेनी' हो या 'नील कुसुम' दोनों में विनाश का उद्देश्य श्रेष्ठतर भविष्य के पथ को प्रशस्त करना है। इसके लिए समाज में उन विगलित तत्वों-अंगों को समाप्त कर देना है-

गीतों से फिर चट्टान तोड़ता हूँ साथी,
झुरमुटें काट आगे की राह बनाता हूँ।
है जहाँ-जहाँ तमोतम सिमटकर छिपा हुआ
चुन-चुनकर उन कुंजों में आग लगाता हूँ।

दिनकर जी समाजचेता कवि थे। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। सत्ता-सियासत की क्रूर-कूट चाल-साजिशों को वे बखूबी समझते थे। जनता की जुबान में जनता की बात करने वाले कवि को उन लोगों की चिंता थी, जो भूखे, पीड़ित, उपेक्षित, दलित हैं, जो जी-तोड़ मेहनत-मजदूरी करके भी दो जून की रोटी नहीं जुटा पाते, जिनका जीवन जर्जरित है, जो दर-दर की ठोकरें खाने के लिए मजबूर हैं, जो अर्धनग्न हैं, अभागे और आर्थिक तंगी से बेहाल-बेसहारा हैं। ऐसे लोगों के प्रति यद्यपि प्रगतिवादी कवियों और जनवादी-मानववादी विचारधारा के सर्जकों ने बहुतेरी उत्तेजक-उत्प्रेरक रचनाएँ लिखीं, मगर जैसी ऊर्ध्व ध्वनि-धारा दिनकर-काव्य में प्रस्फुटित हुई हैं, अन्यत्र नहीं। फ्रांसीसी क्रांति के 'लिबर्टी' 'इक्वलिटी' और 'फ्रेटर्निटी' के नारों ने दिनकर को नई दृष्टि दिशा दी। किन्तु उनकी जनवादी सोच के पीछे उनकी पृष्ठभूमि की भी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है, जिसका बड़ा गहरा प्रभाव उनके मन-मस्तिष्क पर पड़ा और उन्हें परिवर्तित किया। उनमें वह संकल्प जगा कि वह ऐसे समाज की नींव रखकर रहेंगे जो धर्म, जाति, वर्ण, वर्ग और लिंग के आधार पर ऊँच-नीच का भेद-भाव न रखेगा और समाज में फैली-प्रचलित अव्यवस्था, अंधविश्वास, अत्याचार, अंधेर, शोषण, दमन समाप्त हो जाएगा।

निम्न-मध्यवर्ग की दयनीय स्थितियों के चित्रण में दिनकर की प्रतिभा-क्षमता का कोई मेल नहीं है। कोई सानी नहीं है, उनकी जनधर्मी चेतना का। उनमें ऊर्जा के विस्फोटक कण थे। मजदूरों, कृषिकों के प्रति जो वर्गीय चेतना प्रेमचंद, 'रेणु', निराला में मिलती है, उसका विस्फोटक नाद दिनकर-काव्य में सुनाई देता है। एक यथार्थ बिम्ब देखिए-

मुख में जीभ, शक्ति भुज में,
जीवन में सुख का नाम नहीं,
वसन कहाँ? सूखी रोटी भी,
मिलती दोनों शाम नहीं।
विभव स्वप्न से दूर, भूमि पर
यह दुःखमय संसार कुमारी,
खलिहानों में जहाँ
मचा करता है हा-हाकार कुमारी।

.....

पर शिशु का क्या हाल,
सीख पाया न अभी जो आँसू पीना?
चूम-चूम सूखा स्तन माँ का
सो जाता रो-बिलप नगीना,
विवश देखती माँ, अंचल से
नन्हीं जान तड़प उड़ जाती,
अपना रक्त पिला देती यदि
फटती आज वज्र की छाती।

वर्तमान यथार्थ, विषमता की पीड़ा और वर्गों की सामाजिक स्थिति में मिलने वाली ऊँचाई-नीचाई बढ़ती जाती है और विषमता का मूल्य सिमटता जाता है। समानता की सीमा कहाँ से तय हो? इसका कोई मानदंड निर्धारित नहीं है, लेकिन निम्न वर्ग को उच्च बनाने से यह अंतर मिट सकता है। यह एक रचनाकार की सोच हो सकती है, एक कवि की कल्पना कही जा सकती है, किन्तु उन खून चुस्सुओं (जोंकों) को कौन रोके, जो रात-दिन अपनी पूँजी बढ़ाने में लगे हैं। हड़प रहे हैं आम आदमी का हक, निगल रहे हैं मनुजता को, मिटा रहे हैं मानवीय मूल्यों को और स्वार्थ में डूबे देख रहे हैं सिर्फ अपनी तोंद की चौड़ाई। दिनकर की आवाज उन दीन-हीन के प्रति गुंजित है-

गमलों में हैं जो खड़े सुरम्य-सुदल हैं
मिट्टी पर के ही पेड़ दीन-दुर्बल हैं।
वे इस विषमता को पाटने की बात करते हैं-
सबसे पहले यह दुरित-मूल काटो रे,
समतल पीटो, खाइयाँ पाटो रे।
बहुपाद वटों की शिरा, सौर छाँटो रे,
जो मिले अमृत, सबको समान बाँटो रे।

गरीबी को कवि ने नजदीक से देखा। दुखित-पीड़ित-उपेक्षित के दर्द को सुना। टीस की चीख में अपनी आत्मा की आवाज लगी। धनाढ्य-वर्ग, अमीरों की शोषण-वृत्ति के विरुद्ध वे उबल पड़े। ओज तमतमा उठा। आग बबूला हो उठा, जब धिक्कार और प्रतिकार ने यह दृश्य देखा-

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बच्चे अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक-ठिठुर जाड़े की रात बिताते हैं।

इस पूँजीवादी भवन की नींव में इन्हीं दीन-हीन, असहायों की हड्डियाँ हैं। इन्हीं के खून-पसीने के गारे से चुनी गई हैं, इनकी दीवारें। इसलिए जब ये हिलते हैं, तो पूँजीवादियों के महल हिल उठते हैं। इनकी आवाज से काँप जाते हैं ये। कवि इस राज को जानता है, तभी तो वह घोषित करता है-

जानते हो यह अनोखा राज क्या है?
वज्र की दीवार यह क्यों काँपती है?
और गूँगी ईंट की आवाज क्या है?
तोड़ दो इसको महल की पस्त ओ बरबाद कर दो
नींव की ईंटें हटाओ,
दब गये हैं जो अभी तक जी रहे हैं
जीवितों को इस महल के बोझ से आजाद कर दो।

कवि को विश्वास है कि शोषक-व्यवस्था की दीवारें चाहे वज्र की ही बनी हों, एक दिन टूटकर ही रहेंगी। वज्र की दीवारें एक दिन फट जायेंगी। लपलपाती आग या सात्विक प्रलय का रूप धारक/नींव की आवाज बाहर आएगी। दिनकर जी के काव्य में निम्न वर्गीय क्रांति के स्वर मुखरित हुए हैं। इस स्वर के साथ पूँजीवादी व्यवस्था की विषम-विद्रूप तस्वीर भी उभरती है-

हैं दुखी मेष, क्यों लहू शेर चखते हैं
नाहक इतने क्यों दाँत तेज रखते हैं
पर, शेर द्रवित हो दशन तोड़ क्यों लेंगे?
मेषों के हित व्याघ्रता छोड़ क्यों देंगे?
एक ही पन्थ, तुम भी आघात हनो रे !
मेषत्व छोड़ मेषो! तुम व्याघ्र बनो रे!

उक्त पंक्तियों में 'मेष' और 'व्याघ्र' शोषित और शोषक के प्रतीक हैं। समाज में धन-पिशाच की अस्थायी विजय भी होती रही है, लेकिन यह तय और सच है कि इस धनाढ्य वर्ग का नैतिक आधार कुछ भी नहीं है। जिसका नैतिक आधार नहीं होता, उसका पतन निश्चित है। नैतिकता जीवन की कसौटी है। निर्धन के पास कुछ भी नहीं, पर उसका चरित्र है। चरित्र सभी सम्पत्तियों से उत्तम सम्पत्ति है। विचार परिवर्तित होते हैं, पर चरित्र परिवर्तित नहीं होता, चरित्र विकसित होता है। दिनकर जी इसी चरित्र का विकास करना चाहते हैं, इसके विकास से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी का विकास होता है।

वर्ग वैषम्य का एक प्रमुख आधार अभिजात भावनाएँ हैं। जाति और धर्म, वर्ण और वर्ग का वैशिष्ट्य उच्च और निम्न के बीच भेद पैदा करता है। जिस प्रकार नियतिवाद व्यक्ति को अकर्मण्य बना देता है, जातीय-वर्गीय भावना उससे भी अधिक घातक और विनाशक है। जातीय श्रेष्ठता को लेकर

नाजी शक्तियाँ संसार में विनाश की ओर प्रवृत्त हुई थीं। इस अभिजात भावना ने समाज में अस्पृश्यता को जन्म दिया। आज भी छुआ-छूत की भावना आन्तरिक तौर पर कम नहीं हुई है। गँवई समाज में इसके विविध विषम, विकट-रूप देखे जा सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि कभी गांधी जी अफ्रीका में गोरे-काले के भेद का शिकार हुए थे। गोरे-काले का संघर्ष भी दुनिया में चला। भारत में जातीय-वर्गीय संघर्ष का भी इसी प्रकार का रूप देखने में आता है। जिसने हजारों वर्ष से इस देश को विघटित किया। आज भी इसका क्रूर-खूनी खेल जारी है। कवि कहता है-

माना दीपक हो, बड़े दिव्य, ऊँचे कुल के,
लेकिन मस्ती में अकड़-अकड़ कर क्या जलना?
सब हैं परेड में खड़े, जरा तुम भी तन कर,
सिलसिला बाँध हो पाए, खड़े कतारों में।

'विपथगा' में जन-शक्ति का उग्र चित्रण है। शक्ति की यह प्रगति समाज में व्याप्त अमावस्या को समाप्त करके रहेगी। आततायियों और शोषक वर्गों को कवि ने सावधान किया है। जनता की शक्ति एक बड़ी शक्ति मानी जाती है। इसमें परिवर्तन की आग छिपी रहती है।

दिनकर काव्य में वर्ग-संघर्ष का जो पारिभाषिक रूप सामने आता है, वह समाज का है। यथार्थ में जीवन-जगत का सत्य समाहित रहता है। इसे समाज द्वारा रचनाकार ही प्रस्तुत कर सकता है। दिनकर जी की भावना उन सभी के प्रति है, जो शोषण और अत्याचार के शिकार हुए हैं।

जहाँ वर्ग संघर्ष में यथार्थ का प्रश्न है, दिनकर ने इसका स्पष्ट चित्रण किया है। आस्तिकता एक प्रकार का जड़वाद है। पूँजीवादी वर्ग को इसी आस्तिकता का स्थूल प्रतीक कहा जा सकता है। उखड़ी हुई आस्तिकता का स्वर 'रेणुका' में गुंजायमान है-

धन-पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति असंध्य हुई,
दौड़ो बोधिसत्व! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई।

.....

"दूध, दूध!" ओ वत्स! मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं;
"दूध, दूध!" तारे, बोलो, इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं?

पूँजीवादी व्यवस्था में आस्तिकता भी इन स्वार्थी अभिजातों की रक्षा करती है। इसीलिए दिनकर-काव्य में कहीं-कहीं नास्तिकता के भाव भी व्यक्त हुए हैं। पर समग्रता में देखें तो वर्ग-वैषम्य की चेतना की अभिव्यक्ति अधिक हुई है। 'दिनकर ने निम्न वर्ग की दलित दयनीय अवस्था के अनेक क्रांतिकुंजर चित्र दिए हैं। व्यंजना से ऐसी दुर्दशा का उत्तरदायित्व उच्च वर्ग के अनेक शोषण के ऊपर दिखलाते हुए करुणा की यह भावना उत्पन्न हुई है, जो आँसुओं से नहीं, रक्तकणों में व्यक्त होती है।'

साहित्य कुटीर, साईट-2/44, विकासपुरी, दिल्ली-18

सिमरिया का रामधारी भारत का दिनकर

राजेन्द्र राजन

'सिमरिया' गंगा किनारे का एक गाँव है। सिमरिया घाट में प्रतिदिन प्रातः गंगा स्नानार्थियों की भारी भीड़ होती है। यहाँ कार्तिक माह में हजारों की संख्या में लोग एक मास तक सपरिवार अस्थायी कल्पवास करते हैं। सदियों से यह परम्परा चली आ रही है। इसी सिमरिया के एक मध्यवर्गीय किसान परिवार में रामधारी का जन्म हुआ था।

दिनकर के निर्माण और उत्कर्ष को हम इसी परिवेशगत परिस्थिति में देखते हैं। स्वयं उन्होंने चक्रवाल की भूमिका में लिखा है- "कवि जिन संस्कारों में पलकर युवा होता है, जिस वातावरण में साँस लेकर बढ़ता है, वह वातावरण और वे संस्कार उसके भावों और संदेशों का आप से आप निश्चयन कर देते हैं। प्रत्येक कवि अपनी भाव-दिशा और संदेश को पूर्व निर्धारित पाता है और वह प्रयास करने पर भी उनसे भाग नहीं सकता।"

यह सच है कि दिनकर का साहित्यकार देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप हमेशा ईमानदार रहा है। वह इस सम्बन्ध में लिखते भी हैं- 'मुझ जैसे लोग राष्ट्रीयता एवं क्रांतिकारी भावनाओं के प्रवाह में बह गए। मेरी वैयक्तिक अनुभूतियाँ धरी रह गईं और मेरा सारा अस्तित्व समाज और राष्ट्र की अनुभूतियों के अधीन हो गया।' आज़ादी के चार साल बाद ही 1950 में 'जनतंत्र का जन्म' कविता में हम इसे स्पष्ट रूप में देखते हैं। कुछ पंक्तियों पर ध्यान दें-

'सदियों की ठण्डी-बुझी, राख सुगबुगा उठी,
मिट्टी सोने का ताज पहन, इठलाती है,
दो राह, समय के रथ का, घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि, जनता आती है।'

दिनकर खुलकर अपनी बातें कहने में विश्वास रखते थे। उन्होंने स्वीकार भी किया है- 'मैं सौन्दर्य से अधिक सुस्पष्टता का प्रेमी हूँ' वर्तमान दिनकर की नजर से ओझल नहीं हो पाता है। भविष्य के गर्भ को वह वर्तमान के लिए ही खंगालते हैं। वे लिखते हैं-

"जब भी अतीत में जाता हूँ, मुरदों को नहीं जिलाता हूँ
पीछे हटकर फेंकता बाण, जिसमें कंपित हो वर्तमान।"

सुचितायन, चाणक्य नगर, बेगूसराय-851 129

युगद्रष्टा दिनकर

डॉ. शचीकान्त

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।

सचमुच हिंदी साहित्याकाश के सूर्य थे महाकवि रामधारी सिंह 'दिनकर'। अपने युग के अग्रदूत थे। अपने समय एवं समाज का स्पन्दन थे। उनका काव्य नवरस से लबरेज एवं समाज के सभी वर्गों के लिए था। न्याय के लिए ही हमेशा उनकी लेखनी उठी। भाषा और भाव- दोनों स्तरों पर उनकी कविता का कोई सानी नहीं। आज भी उनकी कविताएँ जनमानस के ओठों पर सुरक्षित हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी रहेंगी। उनकी कविताएँ समय की रेत पर यथार्थ और आदर्श का हस्ताक्षर हैं। यद्यपि वीर रस की चाशनी से उनकी कविताएँ सराबोर है किन्तु इसमें रंच मात्र भी संदेह नहीं कि शृंगार रस में भी उनकी गहरी पैठ थी जैसा कि 'उर्वशी' में देखने को मिलता है। सामाजिक न्याय की भावधारा भी सतत उनके काव्य में प्रवाहित है। यह सत्य है कि कविवर दिनकर का सही मूल्यांकन तत्कालीन हिंदी काव्य के सिंहावलोकन के परिप्रेक्ष्य में ही संभव है, किंतु इस बात से उनके आलोचक भी सहमत हैं कि जहाँ तक कविता के पाठकों के मस्तिष्क पर गहरे प्रभाव का प्रश्न है, बातों को दो टूक कहने की कला में निपुणता का सवाल है, दिनकर निःसंदेह अद्वितीय थे। जिन लोगों ने कवि सम्मेलनों में महाकवि दिनकर का सस्वर काव्य-पाठ सुना है, वे दिनकर को कबीर की भाँति 'भाषा का डिक्टेटर' मानने में तिल भर भी संदेह नहीं रखते। एक ऐसा डिक्टेटर जिसने क्रांति का बिगुल बजाते हुए भारतीय साहित्य को अपने समय में नेतृत्व प्रदान किया। दिनकर जी की प्रत्येक रचना, चाहे वह 'रश्मिरथी' हो या 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी' हो या 'परशुराम की प्रतीक्षा', आज के हिंदी साहित्य के उच्च पथ पर जड़ा हुआ मील का पत्थर है।

दिनकर शहरों को ताक पर रखकर भारत की आत्मा को खोजने गाँवों की ओर निकल पड़े- *आज यह राजवाटिका छोड़, चलो कवि! वन फूलों की ओर* ग्रामवासियों में महामारी की तरह व्याप्त गरीबी का अंदाजा उन्हें था-

शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी।

पर वे उनकी गरीबी का मज़ाक नहीं उड़ाते, बल्कि उनकी शालीनता को अक्षुण्ण रखते हैं-

अर्द्धनग्न दम्पति के घर में मैं झोंका बन जाऊँगी,
लज्जित हों न अतिथि सम्मुख वे, दीपक तुरंत बुझाऊँगी

प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा के काल में हिंदी साहित्याकाश में दिनकर का उदय उस समय हुआ जब हिंदी कविता एक रंगीन रूमानी दुनिया में खोई हुई थी-

हाँ सखि! आओ बाँह खोल, हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जावें द्रुत अन्तर्धान।

लेकिन क्रांति का बिगुल फूँक दिनकर जी ने तत्कालीन भारत, जो कि आज़ादी के तुरंत बाद उथल-पुथल के दौर से गुज़र रहा था, के हिन्दी काव्य की दिशा ही मोड़ दी। आकाश से उतर कर वे उसे कठोर धरातल पर लाने की बात करते हैं-

व्योम-कुंजों की परी अयि कल्पने
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं
रुक न सकती मृत्तिका आकाश में
शक्ति है तो आ, बसा अलका यहीं।

दिनकर जी धुन के पक्के थे-

नींद कहाँ उनकी आँखों में, जो धुन के मतवाले हैं,
गति की तृष्णा और बढ़ती, पड़ते जब पद में छाले हैं।

दिनकर जी की पहली कृति "बारदोली विजय" (संभवतः इसका नाम उन्होंने विजय संदेश रखा था) 1928 में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। यद्यपि दिनकर जी को भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार 'उर्वशी' के लिए मिला किन्तु स्वयं दिनकर 'कुरुक्षेत्र' को ही अपनी पसंदीदा कृति मानते थे। युद्ध और शान्ति पर लिखा हुआ उनका यह खंडकाव्य, भाव और चिन्तन से आलोड़ित एक महासागर है। कुरुक्षेत्र को 'आज की गीता' भी कहा गया है। उस समय तक दिनकर जी राष्ट्रीय कवि हो चुके थे। अपना दिल स्वाधीनता आन्दोलन को दे चुके थे, पर गंभीर पारिवारिक दायित्वों के कारण नौकरी नहीं छोड़ने की लाचारी के चलते वे 'अधम चाकरी' से नहीं बच पा रहे थे। ब्रिटिश सरकार की

नौकरी करने के बावजूद वे विद्रोह का झंडा ऊँचा उठाये हुए चल रहे थे। अपने इसी विद्रोही स्वर के कारण सरकार से कई बार उनकी भिड़ंत हुई, सवाल-जवाब भी हुए। उनकी हालत किसी सर्कस के उस शेर की तरह थी, जो अपने 'रिंगमास्टर' को दाँत दिखा रहा था, उस पर गुर्रा भी रहा था, पर साथ ही वह उसके कोड़े पर आदेश पालन करने को मजबूर भी था। उन्हें उपनिवेशवादी द्वितीय विश्वयुद्ध का वैचारिक विरोध करते हुए भी उसी युद्ध में उपनिवेशवादियों की भाषा भी बोलनी पड़ रही थी। दिनकर जैसे बारूद के गोले को, उस संवेदनशील, उग्र और आग उगलने वाली मानसिकता को किस अन्तर्द्वन्द्व से गुजरना पड़ा होगा, कहने की जरूरत नहीं। आत्मग्लानि के उन भयंकर दिनों में (1945) सुहृद संघ के वार्षिकोत्सव पर सभापति के पद से बोलते हुए माखनलाल चतुर्वेदी ने दिनकर को, एक प्रकार से कनपटी पर तमंचा सटाकर, सीधा कहा कि हमारे राष्ट्रीय कवि जब चाँदी के टुकड़ों पर बिकते हैं, तब हम साहित्य में राष्ट्रीयता की बात कैसे करें। अब दिनकर के लिए निर्णय की घड़ी थी। शीघ्र ही उन्होंने युद्ध प्रचार विभाग से त्यागपत्र दे दिया-

धर्म, स्नेह दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था,
अतः एक को देह, दूसरे को दे दिया हृदय था
धर्म पराजित हुआ, स्नेह का डंका बजा विजय का,
मिली देह भी उसे, दान था जिसको मिला हृदय का।

युद्ध और शान्ति जैसी गंभीर समस्या पर लिखे गये 'कुरुक्षेत्र' में विचारों की अग्नि जल रही है, विशेषकर सप्तम अध्याय में, जो अपनी उपदेशात्मकता के बावजूद देश और काल की सीमा लांघकर आनेवाली सन्ततियों को सदा के लिए अनुप्राणित करती रहेगी। बावजूद इसके कि युद्ध और शान्ति जैसी युगीन और शाश्वत समस्या पर भविष्य में कोई लेखक दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' को भी बौना ठहरा दे (जो कि लगभग असंभव है), फिर भी 'कुरुक्षेत्र' की सत्ता और महत्ता सदैव बनी ही रहेगी। यही वह रचना थी जिसने, द्वितीय महायुद्ध के पश्चात (प्रकाशन-1946), जब भारत आज़ादी की दहलीज़ पर खड़ा था, दिनकर को उत्तर छायावाद काल के सर्वोत्कृष्ट कवि के रूप में स्थापित कर दिया। पर यह काल दिनकर के भीतर घुमड़ रहे तूफानी अन्तर्द्वन्द्व का भी काल था। अन्याय की पृष्ठभूमि में लड़े जाने वाले उपनिवेशवादी युद्ध का अपने काव्य में पुरजोर विरोध करने वाले व्यक्ति को युद्ध प्रचार विभाग में ही नौकरी करने के कारण विभागीय तौर पर सरकार के युद्ध उपक्रम में सहयोग करना पड़ रहा था।

'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने युद्ध होने के कारणों का विवेचन (युधिष्ठिर और भीष्म पितामह के वार्तालाप द्वारा) करने के क्रम में पुस्तक की प्रस्तावना में ही स्पष्ट कर दिया है- युद्ध एक निन्दित एवं क्रूर कर्म है। किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है? या उस पर, जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने को आतुर है। दिनकर जी उपनिवेशवादी देशों पर सीधे निशाना साधते हैं-

पर जिनकी अस्थियाँ चबाकर शोणित पीकर तन का
जीती है यह शांति, दाह समझो कुछ उसके मन का।
स्वत्व माँगने से न मिलें, संघात पाप हो जाएँ,
बोलो धर्मराज शोषित ये जिएँ या कि मिट जाएँ।

.....

कौन है बुलाता युद्ध? जाल जो बनाता?
या जो जाल तोड़ने को क्रुद्ध काल-सा निकलता।

महाकवि की आस्था 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' में है। स्वत्व की रक्षा के लिए अन्याय का विरोध करने में दिनकर की दृष्टि गांधी जी से हटकर और लोकमान्य तिलक से सटकर है जो कि तत्कालीन परिस्थिति में समुचित प्रतीत होता है-

न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिले तो लड़ के
तेजस्वी छीनते समर में जीत या कि खुद मर के।

कहते हैं धरा जब-जब विकल होती, मुसीबत का समय आता, किसी भी रूप में कोई महामानव चला आता है। शायद तत्कालीन भारत की हीन मानसिकता को झकझोरने के लिए ही विधाता ने दिनकर जी को भेजा था-

मैं विभापुत्र, जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

स्वतंत्र भारत पर जब सन् 1962 में चीनी आक्रमण हुआ तो दिनकर का कलेजा मानो पसीज गया। उनके स्वदेश गौरव और स्वाभिमान को भयंकर ठेस लगी। शान्ति और अहिंसा की गांधीवादी भावधारा को लात मारकर वे परशुराम की मानसिकता में प्रवेश कर गये और जन-जन में व्याप्त क्रोध को युद्ध का आह्वान करते हुए गर्जना का रूप देने में लग गए-

है जहाँ कहीं भी तेज हमें पाना है,
रण में समग्र भारत को ले जाना है।

यद्यपि 'कुरुक्षेत्र' 'उर्वशी' 'परशुराम की प्रतीक्षा' जैसी कृतियाँ रामधारी सिंह 'दिनकर' को एक महाकवि का कद प्रदान करती हैं लेकिन जहाँ तक लोकप्रियता का प्रश्न है, वह सबसे अधिक उन्हें 'रश्मिरथी' से मिली। दिनकर 'रश्मिरथी' में अपने मन का गुबार विभिन्न कथा-संवादों के रूप में वर्णनात्मक एवं प्रवाहपूर्ण शैली में निकालते हैं। ये वे मार्मिक प्रसंग हैं, जिन्हें पात्रों के मनोभावों के सुगढ़ अंकन के द्वारा दिनकर जी ने जीवंत और जाज्वल्यमान बना दिया है। यह बेहिचक कहा जा सकता है कि रश्मिरथी के कतिपय कथा-संवाद (कर्ण-परशुराम, कर्ण-कृष्ण, कर्ण-इन्द्र, कर्ण-कुन्ती आदि) विश्व साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। रश्मिरथी की रचना से स्वयं दिनकर जी को भी असीम तृप्ति मिली थी,

तभी तो इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा, "मुझे इस बात का संतोष है कि अपने अध्ययन और मनन से मैं कर्ण के चरित्र को जैसा समझ सका हूँ, वह इस काव्य में ठीक से उतर आया है और उनके वर्णन के बहाने मैं अपने समय और समाज के विषय में जो कुछ कहना चाहता था, उसके अवसर भी मुझे यथास्थान मिल गये हैं।" जात-पात पर आधारित जर्जर होती तत्कालीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में योग्य और कर्मठ व्यक्तियों की उपेक्षा से दिनकर विदग्ध थे। रश्मिरथी में दिनकर का कर्ण चिंघाड़ता हुआ अर्जुन को चुनौती देता है और द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारता है-

पूछो मेरी जाति, शक्ति हो तो, मेरे भुजबल से
रवि समान दीपित ललाट से, और कवच कुंडल से।
पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझमें तेज प्रकाश
मेरे रोम-रोम में अंकित है मेरा इतिहास।

दिनकर की रश्मिरथी तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों एवं विषमताओं पर एक भारी हथौड़े की करारी चोट है।

पर हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि दिनकर ओज के साथ-साथ शृंगार के भी रसिक थे। उनकी उर्वशी में बीसवीं सदी की हिन्दी कविता की 'क्लासिक' होने की सुगंध है। तत्कालीन मार्क्सवादियों में भी उर्वशी के मूल्यांकन को लेकर फूट पड़ गई। जहाँ एक ओर मुक्तिबोध ने इसे आलोचना में लताड़ा, वहीं दूसरी ओर रामविलास शर्मा ने इसे सराहा। निस्संदेह दिनकर यदि केवल क्रांति के कवि होते तो उर्वशी को नहीं गढ़ पाते। शृंगार, सौन्दर्य-प्रेम, प्रकृति, अध्यात्म एवं दर्शन का लहू निश्चित रूप से उनकी क्रांति की धमनियों में दौड़ रहा था, उनकी आँखों से टपक रहा था-

पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदंतर चिंतन भी
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है, तब वायव्य गगन भी।

उर्वशी में दिनकर मानव के जैविक भाव काम के विभिन्न आयामों पर गंभीरतापूर्वक चिंतन करते हुए योग और अध्यात्म की राह पर एक दार्शनिक की भाँति अग्रसर हैं-

जिसे खोजता फिरता है तू, वह अरूप, अनिकेतन
किसी व्योम पर कहीं देह धर बैठा नहीं मिलेगा।
वह तो स्वयं रहा बह अपनी ही लीला-धारा में
कर्दम कहीं, कहीं पंकज बन, कहीं स्वच्छ जल बनकर।

कविता लिखने के साथ-साथ दिनकर ने गद्य में भी काफी कुछ लिखा। कवि होने के साथ-साथ गद्य लेखन में भी उन्होंने अपनी मेधा, क्षमता, दक्षता और मौलिकता का परिचय दिया। दिनकर के गद्य में तर्क का मायाजाल नहीं बल्कि एक प्रकार का खुलापन एवं वह चित्रात्मकता है जो अपनी अलग पहचान रखता है। 'मिट्टी की ओर' उनकी पहली गद्य रचना थी जिसमें वे गद्य और आलोचना के द्वन्द्व से गुजरे हैं- "मुझे पूरी आशंका है कि पुस्तक आलोचना की कोटि में गिन ली जाएगी और आलोचक बनकर प्रकट होने की न तो मुझे योग्यता है और न हिम्मत।" लेकिन यह द्वन्द्व अर्द्धनारीश्वर में समाप्त हो जाता है जो कि विशुद्ध रचनात्मक गद्य है। दिनकर जी के काव्यग्रंथों की भूमिकाएँ भी उनके गद्यकार को पाठकों के सामने परोसती हैं।

शुद्ध कविता की खोज में हम दिनकर को एक आलोचक के रूप में पाते हैं जिसमें उन्होंने अद्यतन देशी एवं पाश्चात्य साहित्यिक वादों का विवेचन प्रस्तुत किया है। लेकिन यहाँ दिनकर आलोचक से अधिक एक तटस्थ व्याख्याकार के रूप में सामने आते हैं। वस्तुतः हिन्दी पाठकों को पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में लाने हेतु दिनकर शुद्ध कविता की खोज में एक सेतु का कार्य करते हैं।

'संस्कृति के चार अध्याय' में एक राष्ट्रवादी इतिहासकार की भूमिका में दिनकर पाठकों के सामने पेश होते हैं। जो कार्य इतिहास-लेखन के क्षेत्र में रमेशचन्द्र दत्त एवं सर यदुनाथ सरकार जैसे माने हुए राष्ट्रवादी इतिहासकार कर रहे थे, वही कार्य दिनकर भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के क्षेत्र में कर रहे थे। भारतीय संस्कृति की रचना के क्षेत्र में, उसके नैरन्तर्य एवं विकास का निरूपण करने के क्रम में भारत के इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए दिनकर मानते हैं कि आज की भारतीय संस्कृति पर आर्यों की छाप गहरी अवश्य है किन्तु निचोड़ रूप में वह विभिन्न कालों में भारत में आने वाली बाहरी संस्कृतियों के योग से विकसित हुई एक परिणति है। भारतीय संस्कृति का 'विश्वकोष' कहे जाने वाले इस ग्रंथ में रामधारी सिंह 'दिनकर' भारतीय संस्कृति की विशेषता को एक रूपक द्वारा प्रस्तुत करते हैं-

"भारत में समन्वय की प्रक्रिया चींटियों की प्रक्रिया नहीं, मक्खियों की प्रक्रिया रही है। चींटियाँ अनाज के कणों को एकत्र तो कर देती हैं, किन्तु उनका एक दूसरे में विलय नहीं कर पातीं। किन्तु, मधुमक्खियाँ अनेक फूलों से रस जमा कर उसे ऐसा रूप दे देती हैं कि कोई एक फूल वहाँ सबसे ऊपर नहीं बोलता। भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों के योग से बना हुआ मधु है और यद्यपि उसके ऊपर आर्यों का लेबल बहुत स्पष्ट है, किन्तु आर्यों का महत्व उतना ही है, जितना मधु निर्माण में मधुमक्खियों का।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि *चार अध्याय संस्कृति के पढ़े सो पंडित होय।* भारत की तत्कालीन अधोगति को स्वीकार करते हुए दिनकर लिखते हैं- "नवीन भारत नवीन विश्व को कुछ भी देने योग्य नहीं रहा। नवीन विश्व को भी यदि कुछ पाना है, तो वह प्राचीन भारत से ही प्राप्त कर सकता है।"

स्पष्ट है कि राष्ट्रवादी इतिहासकार होते हुए भी वे नवीन भारत में आई गिरावट को छिपाने का प्रयास नहीं करते,

फटे हुए को वैसा ही दिखला देते हैं, बिना रफू किए।

यह बात भी गौरतलब है कि दिनकर ने बाल साहित्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा-कुछ मौलिक और कुछ दूसरी भाषाओं से अनुदित। उनकी धूप-छाँह, चित्तौड़ का साका, मिर्च का मजा, सूरज का ब्याह आदि रचनाएँ छोटी हैं पर हैं बड़ी रोचक, मजेदार और ज्ञानवर्धक, हास्य एवं व्यंग्य से लबालब। कवि सुबह देर तक सपनों में खोए रहने की इजाजत देता है बच्चों को-

सुबह नींद की खास घड़ी है अलसायी, मतवाली,
वही वक्त है जबकि नींद पर जमती है कुछ छाली।

किन्तु महाकवि नन्हे-मुन्हे बच्चों को भी आग पीने के लिए प्रेरित करता है-

सिर का मोल दिया करते हैं जहाँ चतुर नर ज्ञानी
वहाँ नहीं गर्दन चढ़ती है वहाँ नहीं कुरबानी।

महाकवि के विचारों को जानने में दिनकर की डायरी एवं मेरी यात्राएँ भी काफी मदद करते हैं। भाषा, काव्य-प्रेरणा, रचना-प्रक्रिया आदि पर व्यक्त उनके विचार पाठकों के मानसपटल का विस्तार करने वाले हैं।

अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में वे लिखते हैं:
"मगर कविता पर मेरा इतना बस तो नहीं कि उसे जिधर चाहूँ मोड़ सकूँ। कविता जिधर जाना चाहती है, उसे उधर ही जाने देता हूँ।"

दिनकर साहित्य का सांगोपांग अध्ययन करने पर आधुनिक हिन्दी साहित्य जगत में कलम का कोई दूसरा जादूगर इनके आस-पास खड़ा दिखाई नहीं देता- न इनके पहले, न इनके बाद। *'सुनूँ क्या सिन्धु मैं गर्जन तुम्हारा? स्वयं युग धर्म का हुंकार हूँ मैं'* कहने वाला कवि 24 अप्रैल, 1974 को समुद्र तट पर स्थित शहर मद्रास के एक नर्सिंग होम में भर्ती होते-होते स्वर्ग सिधार गया- कोई ग्यारह, साढ़े ग्यारह बजे रात्रि में, वह दिन था बुधवार। इसे संयोग ही कह लीजिए कि इनका जन्म भी बुधवार की रात्रि (23 सितंबर, 1908) में ही हुआ था। कुल साढ़े पैंसठ साल की आयु लाए थे रामधारी सिंह अपने हिस्से में, जिनमें से पैंतालीस वर्ष उन्होंने हिन्दी की कांत-कामिनी को दिनकर के रूप में समर्पित कर दिये। राष्ट्रकवि दिनकर अमर हों से निनादित वातावरण में पटना के बाँसघाट पर उनकी अन्त्येष्टि सम्पन्न हुई। भारी संख्या में उपस्थित साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों, राजनेताओं, पत्रकारों, पदाधिकारियों, छात्रों और आम जनता के सामने उनकी चिता धू-धू कर जल उठी। उस मार्मिक विदाई के क्षण में भी दिनकर की ही कविता लोगों को सांत्वना भी दे रही थी-

रोने की क्या बात?
जन्म का यहीं कहीं उद्गम है-
पर्वत का वह मूल,
जहाँ से सभी स्रोत चलते हैं-
आखिर को हम पहुँच गये ही वहाँ,
जहाँ से शुरू किया था।
कफन और पोशाक छठी की,
दोनों एक वसन हैं।

फ्लैट संख्या - 604, एम.एस. - 4
केन्द्रीय विहार, सेक्टर - 56, गुड़गाँव (हरियाणा)

दिनकरः दिव्य दिवाकर

अंजुलता सिंह

ओजस्वी वक्ता थे 'दिनकर'
प्रतिभा-पुंज कवि थे,
शौर्य, वीरता के प्रेरक वे
अनुपम दिव्य छवि थे।

'कुरुक्षेत्र' में युद्ध-समीक्षा
करते दिख जाते हैं,
निष्काम कर्म करने का
प्रण वे दोहराते हैं।

'रश्मिरथी' भी कर्ण-कथा को
रखती जग के आगे,
भाई-भाई अन्तर्मन को
बारीकी से बाँचे।

'उर्वशी' प्रेम की कृति मधुरतम
मन को हर लेती है।
नारी का शृंगार पुरुष है
सन्देशा देती है।

भावी पीढ़ी को प्रेरित करती
सारी रचनाएँ,
कविवर के अनुपम प्रदाय के
यश को जो फैलाएँ।

केन्द्रीय विद्यालय, पुष्प विहार, दिल्ली

दिनकर : पौरुष की हुंकार

कविता नन्दन 'अमित'

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं।
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।

'प्रत्येक कविता पर कवि की वैयक्तिकता की छाप होनी चाहिए। कवि कहलाने का अधिकार उसे प्राप्त होता है, जो प्राचीन और समकालीन, सभी कवियों से भिन्न है, जिसने अपने लिए कोई ऐसा रास्ता निकाला है जो सभी रास्तों से कुछ न कुछ अलग है, जिसकी आवाज दूसरों की आवाजों में मिलकर लुप्त नहीं हो सकती।'

दिनकर की काव्य यात्रा छायावादी युग से होती हुई अपने भीतर निहित प्रसाद गुण, ओजस्विता, संवादों में नाटकीयता और यथार्थवादी दृष्टिकोण लिए एक विशिष्ट पहचान बनाकर छायावाद से अलग होती है। उनकी रचनाओं में परम्परा और आधुनिकता का समन्वय तथा उनकी अन्वेषणात्मक पद्धति जो किसी भी कथानक से अपने लिए विषय चुन लेती है, उन्हें सबसे पृथक खड़ा करती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में काव्य खण्ड के तृतीय उत्थान में विभिन्न आंदोलनों को साहित्य के परिप्रेक्ष्य में ध्वनित करने वाले कवियों में दिनकर का नाम सबसे पहले लिया है। शुक्ल जी के इतिहास लिखे जाने तक दिनकर की तीन कृतियाँ ही प्रकाशित हुई थीं- 'प्रणभंग', 'रेणुका' और 'हुंकार', जिनका जिक्र आगे शुक्ल जी ने अपने इतिहास में किया है। निश्चित रूप से इन तीनों कृतियों ने मर्मज्ञ आलोचक शुक्ल जी को प्रभावित किया होगा।

1929 में प्रकाशित 'प्रणभंग' उस दौर की रचना है, जब देश में महात्मा गांधी का आंदोलन अपने उत्कर्ष की ओर उन्मुख था। दिनकर भी आंदोलन से प्रभावित थे, राष्ट्रीय आंदोलन के लिए 'प्रणभंग' का कथानक महाभारत से लिया और क्रुद्ध मनोदशा वाले पात्रों का चयन किया। 'प्रणभंग' में भीम के इस संवाद के माध्यम से दिनकर दरअसल, क्रुद्ध भारत की मनोदशा को ही व्यक्त करते हैं-

"जब रंग सकूंगा द्रौपदी
के बाल शोणित धार से
जब मुक्त कर दूंगा धरा को
पापियों के भार से,
कढ़ आएगी कुरुक्षेत्र में
ज्वालामुखी जब क्रांति की
झाँकी तनिक-सी आएगी
हृदय में तब शांति की।"

कथानक महाभारत का अवश्य है, किंतु प्रासंगिकता, सामयिकता के ज्वालामुखी की भाँति भड़क रही है। अर्थगर्भित शब्दों का चयन, सटीक उपमाओं से युक्त दिनकर की काव्य कला प्रत्येक पंक्ति के शब्द चित्रों को अद्भुत ढंग से सजीव कर देती है। दिनकर के पाठक उनकी इसी विशिष्टता के कायल हैं।

दिनकर हिन्दी साहित्य में अकेले ऐसे कवि हैं, जिन्होंने संपूर्ण राष्ट्रीय काव्य परम्परा को भाव और भाषा की दृष्टि से सरलता, सुबोधता, सरसता और सुस्पष्टता के साथ ओजपूर्ण तेजस्विता प्रदान की है। दिनकर की पहचान हिन्दी साहित्य जगत में राष्ट्रीय चेतना के कवि के रूप में होती है; एक ऐसे कवि के रूप में, जिसकी ललकार युद्ध-काल में देशवासियों, सिपाहियों के हृदय में पौरुष का संचार कर राष्ट्र को नई उत्तेजना से संपुष्ट करती है। 1962 में चीन के भारत पर आक्रमण से विक्षुब्ध 'युगधर्मा' दिनकर परशुराम का आह्वान करते हैं-

"विक्रमी रूप नूतन अर्जुन-जेता का
आ रहा स्वयं यह पर शुराम त्रेता का
यह उत्तेजित, साकार, क्रुद्ध भारत है
यह और नहीं कोई विशुद्ध भारत है।"

दिनकर और उनकी कृतियों पर समय-समय पर आलोचकों ने प्रश्न खड़े किए। कभी उनके वैचारिक द्वंद्व और कभी कथानक की समस्या और समाधान पर प्रश्न उठते रहे। गांधीवादी अहिंसा और मार्क्सवादी हिंसा के सिद्धांत के प्रभाव में रहे दिनकर आलोचकों के लिए आलोच्य रहे।

साहित्य समाज के सापेक्ष चलता है। सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य और 'साहित्यकार' के 'मूड' को प्रभावित करती हैं। गांधी जी जीवन भर दिनकर के श्रद्धेय रहे, लेकिन उनकी अहिंसा की नीति जब विफल होने लगी तो दिनकर मार्क्सवाद के निकट आ गए। दिनकर ने युद्ध के समय 'आपद्धर्म' के लिए हिंसा के औचित्य को स्वीकार किया।

दिनकर सामाजिक चेतना के प्रखर कवि हैं। वे उन प्रश्नों को तलाशते हैं जो सामाजिक विकास और राष्ट्र की उन्नति में बाधक बनते हैं। दिनकर अपनी रचनाओं के लिए कथानक या तो प्राचीन संस्कृति से लेते हैं (चाहे वे पौराणिक हों या ऐतिहासिक) या फिर सामयिक घटनाक्रमों एवं परिस्थितियों से। जहाँ उनके समकालीन छायावादी कवि कल्पना के वायवीय जगत में उड़ानें भरते हैं, वहीं दिनकर की कृतियों में उनके भीतर की छटपटाहट और पीड़ा अंकित होती है। इसीलिए उनकी राष्ट्रीयता को सुधारवादी आंदोलन तो कत्तई नहीं समझा जाना चाहिए। इसी वैचारिक अकुलाहट ने राष्ट्रकवि के भीतर आक्रोश का रूप ले लिया, जिसने उनके संपूर्ण साहित्य को प्रभावित किया है। समस्याओं से जूझते हुए समाधान की खोज उनके लिए सदैव लक्षित रही। जब कभी उन्हें 'आपद्धर्म' से फुर्सत मिली, वे समाज की मूल समस्याओं के समाधान में जुट गए। 'रश्मिरथी' ऐसी ही सामाजिक समस्या के समाधान के अनुसंधान का प्रयास है, जहाँ कर्ण शोषितों, दलितों और उपेक्षितों का प्रतिनिधित्व करता है-

"मस्तक ऊँचा किये, जाति का नाम लिए चलते हो
पर, अधर्ममय शोषण के बल से सुख में पलते हो।"

सही और गलत, समस्या और समाधान के बीच का संघर्ष ही दिनकर का द्वंद्व है। वे स्वयं भी अपना अवलोकन करते हुए कहते हैं कि 'उजले को लाल रंग से गुणा करने पर जो रंग बनता है, वही रंग मेरी कविता का रंग है।' दिनकर का अंतः पक्ष सुकोमल भावनाओं के अधीन है, जिसे हम 'रसवन्ती' में देखते हैं, वहीं बौद्धिक पक्ष जागरूक है, जिसने उनकी रचनाओं की प्रबल संवेदना को आक्रोश से संपृक्त कर दिया है। दिनकर अपनी युवावस्था से गांधी और उनके आंदोलन से जुड़े थे और बाद में मार्क्सवादी प्रभाव ने उनकी रचना धर्मिता को युद्ध के समय क्रांति और युद्धोपरांत शांति के लिए समर्पित कर दिया। दिनकर की वैचारिक सीमाओं के ये दो छोर आपस में परस्पर विरोधी हैं। दिनकर ने अपनी कृतियों में इन परस्पर विरोधी छोरों में तो संतुलन बनाए रखा, किन्तु उनके आलोचकों और समकालीन कवियों का संतुलन दिनकर के संदर्भ में बिगड़ता गया।

मनःस्थितियाँ परिवेश प्रदत्त होती हैं। समस्या के समाधान के लिए दिनकर में द्वंद्व अवश्य है, किन्तु द्विधाग्रस्त समझकर या कहकर उनकी सार्थकता पर प्रश्न खड़ा करना सर्वथा अनुचित है। दिनकर की यह विशिष्ट दृष्टि की सार्थकता, जो सर्वथा प्रगतिगामी रही, अन्य रचनाकारों में आसानी से नहीं मिलेगी। शायद इसी सार्थकता ने उन्हें आलोच्य बनाया। दिनकर ने अन्य साहित्यकारों की भाँति किसी वाद से चिपकने का प्रयास नहीं किया। वैचारिक स्वच्छन्दता उनके व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है। दिनकर की ये पंक्तियाँ उनके इसी वैशिष्ट्य का 'परिचय' देती हैं-

"सुनूँ क्या सिंधु! मैं गर्जन तुम्हारा?
स्वयं युगधर्म का हुंकार हूँ मैं।"

...हुंकार हूँ मैं

कविता नन्दन 'अमित'

तुम्हारी भाव, भाषा, भंगिमा से,
कोई शापित हुआ उद्धार हूँ मैं।

धरा से जो मिटा देगा अनय को
वहीं आयुध वहीं तलवार हूँ मैं।

तुम्हारे पथ का मैं कोई पथिक हूँ
नए युग में तेरा अवतार हूँ मैं।

जिसे हिम-खण्ड शीतल कर न पाए
विचारों का वही अंगार हूँ मैं।

मशालें जल उठीं, बजने लगा फिर से बिगुल है
चला निर्द्वंद्व ले हथियार हूँ मैं।

तुम्हारा तेज पाकर, हैं दिशाएँ जगमगाईं
नया जयघोष हूँ मैं, नया 'हुंकार हूँ मैं।'

131, पेरियार हॉस्टल, जे.एन.यू.
नई दिल्ली-67

यादें...

INDIA RADIO HOUSE

जब *हिमालय* और *हुंकार* के कवि ने इस दुनिया को अलविदा कहा, तो देशवासियों की आँखें नम हो गई थीं। साहित्य-संसार में एक गहरी उदासी छा गई थी। दिनकर की कमी का अहसास जगत को आज भी है। आज भी रह-रहकर उनके न होने की कसक लोगों में जाग उठा करती है। लेकिन क्या कभी दिनकर अस्त हो सकते हैं! वे तो अपने समय के सूर्य हैं। साहित्य पर तो उनकी अपनी अमिट छाप है ही, जनता के मन में भी उनकी अनेक सुन्दर और सुकोमल स्मृतियाँ हैं। इन कालजयी स्मृतियों में दिनकर हमेशा हैं, हर जगह हैं और हर तरह से हैं: सलिल-कण के रूप में, पारावार के रूप में; धूलि-कण के रूप में, शून्य की झंकार के रूप में; रंगीले स्वप्न के संसार और युग-धर्म की हुंकार के रूप में। आज जब हम आजादी की इकसठवीं वर्षगाँठ और वर्ष 1857 की हीरक जयंती मना रहे हैं तब दिनकरजी और भी अधिक प्रासंगिक हो जाते हैं। पूरे संसार को एक विशेष संस्कृति और एक विशेष भाषा के रंग में रंगने का जो प्रयास चल रहा है, उसे देखते हुए यह कहना जरूरी हो जाता है कि आज भी दिनकर जैसे हिन्दी-प्रेमियों की जरूरत लगातार बनी हुई है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार और उसकी उचित महत्ता की स्थापना के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है...

हम दिनकरजी से जुड़ी कुछ अच्छी रचनाओं की तलाश लगातार करते रहे ताकि *'...हुंकार हूँ मैं'* के लिए उनका उपयोग किया जा सके। संसाधनों और समय की कमी के बावजूद रात-दिन न्यास परिवार के सहयोगीगण कुछ न कुछ पढ़ते रहे, ढूँढ़ते रहे; जुहाते, जुटाते और सँजोते रहे। इस क्रम में हमारे अनेक साहित्यप्रेमी, पत्रकार, आलोचक, कवि, लेखक और समाजसेवी मित्रों ने हमारा सहयोग किया है। हम इन सबके आभारी हैं। खासतौर से, मैं श्री शिवकुमार गोयल का ऋणी हूँ, जिन्होंने करीब चौंतीस साल पुरानी एक पत्रिका 'लोकराज' उपलब्ध कराई। 1974 में श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी के संपादकत्व में प्रकाशित 'लोकराज' का 'दिनकर अंक' वास्तव में हमारे लिए अमूल्य निधि साबित हुआ है। इस अंक में अनेक ख्यातिलब्ध साहित्यकारों और विद्वानों के विचार संग्रहीत हैं। इसमें से कुछ चुनिंदा उद्‌गारों को हमने *'...हुंकार हूँ मैं'* के लिए चयनित किया है। आगे के कुछ पन्नों में आप उन उद्‌गारों से रूबरू होंगे। हाँ, दिनकरजी के जीवन के कुछ अनछुए पहलुओं से भी।

संपादक

(नीरज कुमार)

सृजनशील लेखक खो दिया

श्रीमती इन्दिरा गांधी

तत्कालीन प्रधानमंत्री

दिनकर जी के निधन से देश ने एक प्रतिभाशील सृजनशील लेखक को खो दिया है जो हमारी जनता की धरोहर और आकांक्षाओं के प्रतीक थे। दिनकर जी हमारी संस्कृति पर अपनी छाप छोड़ गए हैं। अन्य सभी महान कवियों की भाँति उन्हें भी उनकी रचनाओं के माध्यम से याद किया जाएगा।

प्रतिभाशाली व्यक्ति

जगजीवन राम

तत्कालीन रक्षामंत्री

हिंदी साहित्य जगत में दिनकरजी को सम्मानपूर्ण एवं उच्च स्थान प्राप्त था। इनकी प्रतिभा ने 'उर्वशी' के रूप में प्रकट हो हिंदी साहित्य गगन को जगमगा दिया। इस रचना के लिए उन्हें ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत भी किया गया था। इनकी काव्य-धारा राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत थी। श्री दिनकर राष्ट्रीय विचारों के प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इनकी देशसेवा एक सफल साहित्यकार और सक्रिय देशसेवी, दोनों रूपों में ही महत्वपूर्ण रही है। इनका सौम्य व्यक्तित्व किसी को भी सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता था।

दिनकरजी को मैंने एक कवि, एक मित्र, एक देश-सेवी तथा एक कुशल वक्ता के रूप में जाना और वे अनायास ही मेरे स्नेह के पात्र बन गये।

भारतीय साहित्य की क्षति

इन्द्रकुमार गुजराल

तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री

माधुर्य और ओज के कवि श्री दिनकरजी के आकस्मिक निधन से मुझे हार्दिक दुःख हुआ। अभी तक मन यह बात स्वीकार नहीं करता कि वे सचमुच ही हम सबसे हमेशा के लिए बिछुड़ गये हैं। परन्तु उनका निधन एक कटु सत्य है। उनके सूचना और प्रसारण मंत्रालय की हिंदी समिति के सदस्य होने के नाते मुझे उनको बहुत निकट से देखने तथा साथ काम करने का मौका मिला था। ऐसा हँसमुख व्यक्तित्व था उनका, कि वे समिति की बैठकों पर छाये रहते थे। अपने सम्पर्क में आने वाले का मन जीतने में भी उनकी सानी शायद कोई रखता था। आकाशवाणी की हिंदी की वे कटु आलोचना करते थे परन्तु किसी को नीचा दिखाने की उनकी मनोवृत्ति बिल्कुल नहीं थी। हिंदी का हित, उसका प्रचार-प्रसार ही उनके लिए सर्वोपरि था। समिति की बैठकों के अलावा भी उनसे कभी-कभी भेंट हो जाती थी। उस समय वे होते थे सिर्फ कवि, और मैं सिर्फ कविता का श्रोता। वे ऐसे तन्मय होकर अपनी रचना सुनाते थे कि मैं भावविभोर हो जाता था। हाल ही में मुझे उनसे उनकी रचना की कुछ पंक्तियाँ सुनने को मिली थीं। मैंने विनोद में उनसे कहा था, ''आपकी कविता और आप स्वयं, दोनों ही चिरयौवन हैं''। इस पर हम दोनों ही खूब हँसे थे। किसे पता था वह इतनी जल्दी हमसे बिछुड़ जायेंगे।

दिनकरजी की कृतियाँ और उनकी प्रतिभा के बारे में मैं क्या विशेष कहूँ ? केवल हिंदी जगत में ही नहीं बल्कि भारतीय साहित्य में उनका अपना उच्च स्थान है। पिछले 45 वर्षों तक वे हिंदी साहित्य और चिंतन के क्षेत्र में छाये रहे। भारतीय संस्कृति पर उनका अनमोल ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय' उनकी भारतीय संस्कृति और इतिहास के गहन अध्ययन का द्योतक है। भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' की उपाधि देकर उनको समुचित सम्मान दिया था। हिंदी जगत से इस देदीप्यमान तारे के लुप्त हो जाने से केवल हिंदी साहित्य ही नहीं बल्कि भारतीय साहित्य को अपरिमित हानि हुई है।

मेरे प्रिय कवि

जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

दिनकरजी 'विशाल भारत' में चमक रहे थे। बस समझिये तभी से दिनकरजी से मुलाकात हो गई। यद्यपि वास्तविक मिलना 1944 में पटने में हुआ। उन दिनों मैं टीकमगढ़ में बनारसीदास जी के साथ काम कर रहा था और जब हिंदी पत्रकार संघ की ओर से कुछ जानकारी एकत्र करने के लिए पटना गया तो दिनकरजी से भी मिला। उस समय दिनकरजी ने वही आत्मीयता दिखाई, जो एक गुरुभाई में होनी चाहिए। यह आत्मीयता 19 अप्रैल, 1974 तक कायम रही, जबकि मैं उनसे मिलने उनके तात्कालिक निवास स्थान; 116, मालचा मार्ग; पर गया था और उनसे कसकर दो घंटे बातचीत की थी।

दिनकरजी ने बहुत लिखा है लेकिन उनका 'हिमालय और 'कस्मै देवाय' 'विशाल भारत' में छपते ही मन में बैठ गए थे। मैं मुख्यतया उनकी वीरतापूर्ण कविताओं का भक्त रहा हूँ और यह भक्ति बहुत पुरानी है। जिन दिनों दिनकर को 'विशाल भारत' हिंदी जगत के समक्ष उपस्थित कर रहा था, छायावाद का दौर-दौरा था। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा साहित्य गगन पर छाये हुए थे। उस छाया से दूर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश टिमटिमा रहा था, जिसके प्रतीक थे-माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी। मैथिलीशरण गुप्त को मैंने इस सूची में नहीं लिखा है, क्योंकि उन्होंने अपना स्थान बना लिया था और उनकी किसी कवि से टकराहट नहीं थी। यह बात दूसरी है कि बाज-बाज काशी प्रयाग वाले, दूसरे स्थानों पर जन्मे लोगों को कवि या लेखक मानें ही नहीं और शायद यह परंपरा अभी समाप्त नहीं हुई है।

सन 1952 में जब दिनकरजी राज्यसभा के सदस्य होकर आए तो उन दिनों राज्यसभा में चमकना आसान काम नहीं था। दिनकर जी साहित्यकार थे, इसलिए लोग समझते हैं कि वे राष्ट्रपति द्वारा नामांकित होकर आए थे। पर ऐसी बात नहीं थी, वे बिहार विधानमंडल द्वारा कांग्रेस के कोटे से निर्वाचित सदस्य होकर आए थे। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी विंध्यप्रदेश से निर्वाचित हुए। उन दिनों राज्यसभा में श्री मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य नरेंद्र देव, पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति और श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे हिंदी के विद्वान थे। बाद में तो श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी राज्यसभा के सदस्य हो गए थे। दूसरी तरफ प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर, प्रसिद्ध नर्तकी रुक्मिणी अरुंडेल तथा देश के अत्यंत वरिष्ठ समाजसेवक, राजनीतिज्ञ और वक्ता सदस्य थे। सभापति थे श्री राधाकृष्णन। उस समय राज्यसभा भारत की विद्वज्जनमंडली का सही प्रतिनिधित्व करती थी। मराठी के प्रसिद्ध नाटककार मामा वरेरकर, सिंधी नेता श्री एन.आर.मलकानी जैसे एक से एक धुरंधर राज्यसभा में विद्यमान थे। फिर भी, जब दिनकरजी बोलते थे तो उनको सारा सदन दत्तचित्त होकर सुनता था और अंग्रेजी पत्रों के संवाददाता भी उनके भाषण के नोट लेने की कोशिश करते थे।

अप्रैल का महीना था। उन दिनों सूर-जयंती की तिथि आ पड़ी थी। श्री गोपाल प्रसाद व्यास ब्रज साहित्य मंडल के मंत्री थे। वे दिनकरजी को महाकवि सूरदास के जन्मस्थान सीही ले गए। वहाँ दिनकरजी ने जो भाषण दिया, उसकी मैंने दैनिक 'हिंदुस्तान' में रिपोर्ट की थी। वैसे भी राज्यसभा के लिए, जो उन दिनों राज्यपरिषद कही जाती थी, मैं दैनिक 'हिंदुस्तान' के

लिए रिपोर्ट करता था और यह क्रम चार साल चला। उस रिपोर्ट में मैंने दिनकरजी के नाम के पहले 'राष्ट्रकवि' लिख दिया था। दूसरे दिन जब राज्यसभा में उनसे भेंट हुई तो स्वयं उन्होंने कहा कि यह क्या लिख दिया 'राष्ट्रकवि तो दद्दा हैं'। तो मैंने कहा कि हैं तो आप उपराष्ट्रकवि, लेकिन साहित्य-क्षेत्र में कोई सत्ता का सवाल नहीं है, दो राष्ट्रकवि भी हो सकते हैं। फिर वह शब्द कुछ चल गया। उन दिनों संसदीय हिंदी परिषद के जलसों में दिनकरजी कविता पढ़ते थे। लालकिले के कवि सम्मेलनों में कविता पढ़ते थे और चाहे संसद सदस्यों का समूह हो, या लालकिले की साधारण जनता, सभी में समान रूप से प्रभावशाली सिद्ध होते थे। परंतु इस काल में वे कवि से अधिक हिंदी नेता हो गए थे।

राष्ट्रपति ने 7 जून, 1955 को एक राजभाषा आयोग की स्थापना की। इस आयोग में इक्कीस सदस्य थे, जिनमें राज्यसभा के कई वरिष्ठ सदस्य, जैसे डॉ. पी. सुब्बारायन, प्रसिद्ध हिंदी प्रचारक श्री एम. सत्यनारायण, लोकसभा के उपाध्यक्ष श्री एम. अनन्तशयनम् आयंगर, पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और श्री जयनारायण व्यास जैसे लोग थे। इस आयोग की नियुक्ति के कुछ दिनों बाद 2 सितम्बर, 1955 को उसके एक सदस्य डॉ. अमरनाथ झा की मृत्यु हो गई और 25 नवम्बर, 1955 को राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने उनके स्थान पर रामधारी सिंह दिनकर को आयोग का सदस्य नियुक्त किया। श्री बी.जी.खेर के नेतृत्व में इस आयोग ने 31 जुलाई 1956 को अपनी रिपोर्ट दी। इस रिपोर्ट पर डॉ. सुब्बारायन और डा. सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपना विमति पत्र दिया और इस प्रकार हिंदी के प्रचार के विरुद्ध जो वातावरण बना, उसका सूत्रपात हुआ। इस कारण आयोग के सदस्यों पर बहुत ही जिम्मेदारी का काम था। इस दौरान दिनकरजी हिंदी आंदोलन के एक ऐसे नेता के रूप में उदित हुए जो सभी प्रांतों और भाषाओं के लोगों को साथ लेकर चलना चाहते थे।

जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो दिनकर की रचनाएँ 'परशुराम की प्रतीक्षा' संग्रह के रूप में आईं। ये कविताएँ 1962 के दो-तीन महीनों में ही लिखी गईं थीं और जब 9 जनवरी, 1963 को दिनकर जी ने इसकी भूमिका लिखी, तो लिखा था, 'तांडवी तेज फिर से हुंकार उठा है, लोहित में था जो गिरा, कुठार उठा है।'

इस संग्रह की एक कविता में उन्होंने लिखा, जो स्वयं उनके लिए उद्‌बोधन थाः

अरे उर्वशीकार!
कविता की गरदन पर धरकर पाँव खड़ा हो।
हमें चाहिए गर्म गीत उन्माद, प्रलय का,
अपनी ऊँचाई से तू कुछ और बड़ा हो।
कच्चा पानी ठीक नहीं,
ज्वार ग्रसित देश है।
उबला हुआ समुष्ण सलिल है पथ्य,
वही परिशोधित जल दे।
जाड़े की है रात, गीत को गरमाहट दे,
तप्त अनल दे।'

कवि सम्मेलनों में यही कविताएँ जमती थीं। दिनकरजी को पहले साहित्य-अकादमी का और बाद में 'उर्वशी' पर ज्ञानपीठ का पुरस्कार मिला। लेकिन यह कहना ठीक नहीं है कि इन रचनाओं, 'परशुराम की प्रतीक्षा', के कारण दिनकरजी को राज्यसभा में नहीं नामांकित किया गया। सन 1964 में उन्हें राज्यसभा में बारह वर्ष हो जाते, परंतु उन्होंने 1963 में ही भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति का दायित्व सँभालने के लिए राज्यसभा से त्यागपत्र दे दिया। भागलपुर वे अधिक दिन नहीं रह सके। पर जब उन्होंने विश्वविद्यालय छोड़ा, तब तक उनके स्थान पर दूसरे सदस्य निर्वाचित किए जा चुके थे। कुछ समय बाद ही उन्हें भारत सरकार का हिंदी सलाहकार नियुक्त कर दिया गया और वे 1971 तक इस पर बने रहे।

श्री दिनकर हिंदी सलाहकार क्यों नहीं रहे, इसकी भी कथा विचित्र है। दिनकरजी ने एक प्रस्ताव किया कि मंत्रियों के नाम हिंदी रूप में लिखे जाएँ, यानी अगर 'मिनिस्टर ऑफ एग्रीकल्चर' लिखना हो तो अंग्रेजी में रोमन अक्षरों में 'कृषि मंत्री' लिखा जाए। इस प्रस्ताव को प्रधानमंत्री की स्वीकृति मिल गई थी, लेकिन इसके परिपालन में एक गलती हो गई। वह यह कि लोकसभा और राज्यसभा में सदस्य जो प्रश्न भेजते हैं, उसमें भी उनके प्रश्नों में मंत्रियों के पद नाम हिंदी वाले कर दिए गए और लिखावट अंग्रेजी की रही। इस पर लोकसभा में द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम के सदस्यों ने यह आपत्ति उठाई कि वे समझ ही नहीं सकते हैं कि कौन-सा मंत्री उन्हें उत्तर देगा। काफी शोर शराबा हुआ, जिसके बाद यह संशोधन हुआ कि उसके नीचे हिंदी में हिंदी पद नाम दिया जाने लगा। जिस उद्देश्य से यह प्रथा चालू की गई थी कि लोगों को 'प्राइम मिनिस्टर' की बजाय 'प्रधानमंत्री' और 'रक्षामंत्री' का अभ्यास पड़े, वह पूरा नहीं हुआ। दिनकरजी की कोई मंशा नहीं थी कि संसद में भी यह शब्दावली चले, वे तो सरकारी कामकाज में इसे चलाना चाहते थे। परंतु किसी संयुक्त सचिव के अति उत्साह से ऐसा हो गया। यह घटना तब हुई जब दिनकरजी का कार्यकाल समाप्त हो रहा था और यह प्रश्न विचाराधीन था कि उनका कार्यकाल बढ़ाया जाए या नहीं। यह वह समय भी था, जब उनके बड़े पुत्र रामसेवक सिंह की मृत्यु हो गई थी और दिनकरजी पर उनके परिवार का पूरा दायित्व आ गया था। इसी बीच लोकसभा के नए सदस्यों ने एक वरिष्ठ नेता के आदेश पर एक ज्ञापन पर हस्ताक्षर कराये, जिसमें बहुत-से विभागों के बारे में यह शिकायत की गई थी कि उनमें हिंदी का काम नहीं हुआ। उधर दिनकरजी कई बार प्रधानमंत्री से कह चुके थे कि उनकी तबीयत खराब है और प्रधानमंत्री ने भी उनसे कहा था कि आप

इलाज कराने यूरोप चले जाइये। इन सारे उपक्रमों का परिणाम यह हुआ कि प्रधानमंत्री ने तय किया कि अब वे ऐसे पद पर किसी राजनीतिज्ञ के स्थान पर सरकारी अफसर रखें, जिससे कि कोई पार्टीबंदी बने ही नहीं और श्री जगदीश चंद्र माथुर उनके स्थान पर हिंदी सलाहकार नियुक्त किए गए।

दिनकरजी की मुझ पर व्यक्तिगत कृपा रहती थी और बहुत-सी समस्याओं पर विचार-विनिमय भी होता था। जब मैं समाचार भारती में पहुँचा तो उन्होंने मुझे आशीर्वाद का एक पत्र भेजा था फिर वे मिले और उन्होंने कहा कि मेरे मित्र एक दैनिक निकालना चाहते हैं, अगर तुम उसका सम्पादक होना स्वीकार करो तो। श्रीरामनाथ गोयनका 'जनसत्ता' को दिल्ली में फिर से निकालना चाहते थे, परंतु मुझे समाचार भारती में आये दो महीने भी नहीं हुए थे, इसलिए मैंने क्षमा माँग ली और कहा कि यह अच्छा नहीं लगता। तब उन्होंने अशोकजी से कहा, उनको भी छुट्टी नहीं मिली और न ही वह पत्र दिल्ली से निकला।

दिनकरजी की पौत्री के विवाह के अवसर पर उनके बड़े-बड़े मित्र, प्रशंसक दूर-दूर से आए थे। उसके बाद दिनकरजी दिल्ली में ही रह रहे थे। एक दफा उनसे मिला भी था। एक दिन संसद के केंद्रीय कक्ष में भेंट हो गई। वे जा रहे थे कि बैठ गए और लगभग दो घंटे तब बातें होती रहीं। उस दिन उन्होंने एक बात कही जिससे लगा कि वे वास्तव में अपने को खोखला महसूस करते हैं। उन्होंने कहा कि अब सब पौरुष समाप्त हो गया है। उन्होंने अपनी डायरी में मेरा दो-तीन बार जिक्र किया था, मैंने उनसे कहा कि आप आत्मकथा क्यों नहीं लिख देते, तो वे बोले कि सच्ची आत्मकथा कोई नहीं लिख सकता, सब अपनी मूर्ति बना-सँवारकर दिखाना चाहते हैं। हाँ, मैं एक पुस्तक लिख रहा हूँ- मेरे समकालीन, उसमें कुछ लोगों के चरित्र आ जाएँगे। दूसरे दिन, यानी 18 अप्रैल को स्टार (पब्लिकेशन्स) वालों के यहाँ उन्होंने जैसे ही मुझे देखा, दौड़कर मेरे पास आए और बोले-कि तुम नाम दो तो मैं एक पत्र निकालूँ। मैंने उनसे कहा, कल मिलूँगा। दूसरे दिन सवेरे उनसे मिलने गया तो उन्होंने योजना बताई कि वे एक साप्ताहिक पत्र निकालना चाहते हैं। मैंने उनसे कहा कि अब 'लोकराज' निकाल दिया है, दूसरे पत्र में जाना तो आसान नहीं है। आप इसी में जो लिखना चाहें, लिख दें। तब वे बोले कि नहीं, नई दिल्ली में ठहरने के लिए कोई प्रबंध होना चाहिए। तुम चार आदमी बताओ, एक अगर लाइट हो तो तीन पेट्रोमेक्स ही सही, काम तो करें। मैंने उन्हें पत्र-संचालन की कठिनाइयाँ बताईं तो उन्होंने कहा कि लाभ-हानि तो एक दूसरे सज्जन की होगी। बाद में पता लगा कि श्री रामनाथ गोयनका के सहयोग से वे पत्र निकालने वाले थे। पर साथ-साथ यह भी कहते जाते थे कि यह न बना तो मै संन्यास ले लूंगा। क्या मालूम था कि यह आखिरी मुलाकात होगी। वह ठहाका, वह जोश के साथ बातें, अब केवल याद करने भर के लिए रह जाएँगी।

स्मृति-तर्पण

डॉ. कुमार विमल

दिनकर जी बल, विक्रम और ओज के कवि थे। उनका विग्रह ही पौरुष का मूर्तिमान रूप था। उनकी कविताओं में अक्सर एक धमाके का गर्जमान स्वर रहता था। और वे अपने भाषण में समुद्र की तरह दहाड़ते थे। सचमुच वे अदिति-पुत्र थे।

समय की धड़कन के साथ चलना उन्हें बहुत प्रिय था। इसलिए वे समय और समाज तथा धरती और जनता से जुड़े रहना चाहते थे। यही कारण था कि उन्हें इस विचारधारा के समानधर्मा कवि सहज रूप में आकृष्ट कर लेते थे। पेब्लो नेरुदा और एब्तुशेंको जैसे कवि इसके उदाहरण हैं। यह अवश्य है कि दिनकरजी चिन्तन से अधिक आवेश के और समाधान से अधिक समस्याओं के उपन्यासक कवि थे। 'कुरुक्षेत्र' हो या 'उर्वशी' -सब में वे द्वन्द्व और द्वाभा की ही कविता लिखते रहे।

दिनकरजी के प्रभावस्रोत भी अनेक और असमान थे। अतः कई विचारकों को उनकी रचनाओं की आशंसा में कठिनाई मालूम पड़ती थी। वे एक ही साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर, इकबाल, टीएस इलियट, डीएच लारेंस और श्री अरविन्द से प्रभावित रहे। इतने विभिन्न प्रभावस्रोतों के वैविध्य को समंजित करना सचमुच आसान नहीं है। मूलतः इतिहास का छात्र रहने के कारण दिनकरजी के पास एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य था और वे इस गुण के कारण समय के सतत परिवर्तित तेवर को पहचानने में समर्थ थे। इसका दूसरा सुफल यह था कि उन्होंने इस शताब्दी के सभी महान विचारकों को जानने और समझने की चेष्टा की थी। यह कोई आकस्मिक संयोग नहीं है कि नीत्शे की रचनाओं में 'जरथुस' को, इकबाल की कविताओं में 'साहीं' को और दिनकर की कविताओं में 'गरुड़' को इतना प्रतीक-महत्त्व मिला है। इसके पीछे निश्चय ही 'अतिमानव' या 'सुपरमैन' की धारणा को लेकर चलने वाली विचारधारा की अन्तरंग पृष्ठभूमि है।

दिनकर इस देश के उन दो महान कवियों में हैं, जो नोबेल पुरस्कार-विजेता हुए बिना भी पूरी दुनिया द्वारा सुने और माने गये। ये दो कवि हैं, इकबाल और दिनकर। अविकसित या अर्द्ध-विकसित अफ्रेशियाई देशों के कुछ ही कवि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की दृष्टि से इतने सौभाग्यशाली हुए हैं।

मेरे गुरु : राष्ट्रकवि दिनकर

बच्चू प्रसाद सिंह

आज से कोई चौबीस साल पहले की बात है। मैं लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर का छात्र था। कॉलेज की स्वर्ण-जयन्ती मनाई जा रही थी। समारोह के लिए तरह-तरह की तैयारियाँ हो रही थीं। उनमें एक प्रमुख आकर्षण यह था कि उक्त अवसर पर विद्यार्थियों के बीच राष्ट्रकवि दिनकर समारोह में पधारने वाले थे। छात्रों की ओर से दिनकर की रचना 'मगध आपेरा' को मंच पर प्रस्तुत किया जा रहा था। दिनकर उस समारोह में देदीप्यमान नक्षत्र की तरह आये। छात्र समुदाय ने अपने प्रिय कवि का हार्दिक स्वागत किया और फिर उसके कुछ ही दिनों के बाद यह समाचार कॉलेज में फैलने लगा कि राष्ट्रकवि दिनकर यहाँ हिन्दी विभागाध्यक्ष का कार्यभार संभालेंगे। इस समाचार के मिलते ही पूरे कॉलेज के वातावरण में उत्साह की एक लहर-सी दौड़ गयी। विद्यार्थियों के मन में एक आकुल उत्कंठा उत्पन्न होने लगी कि कब हमारे बीच दिनकर पधारेंगे और वह दिन कितना महत्त्वपूर्ण होगा जब दिनकर की ओजस्वी वाणी के माध्यम से हम सभी हिन्दी साहित्य का परिचय प्राप्त करेंगे। मेरे विचार से इस आकुल उत्कंठा के दो प्रमुख कारण थे। पहला कारण तो यह था कि कॉलेज में जब तक कोई बड़ा साहित्यिक समारोह आयोजित न हो तब तक दिनकर का हम लोगों के बीच आने का प्रश्न ही नहीं उठता था और यह घड़ी साल दो साल की प्रतीक्षा के बाद ही आ पाती थी। दूसरा जो उससे भी प्रबल कारण था-वह हम लोगों के मन की यह भावना थी कि जिन महान साहित्यकारों की रचनाएँ हम अपने पाठ्यक्रम में पढ़ा करते हैं और जिन्हें हमारे अध्यापक परम्परागत शैली में पढ़ाते हैं, उनकी खूबियाँ और खामियाँ अपने ढंग से बताते हैं, उस संदर्भ में यह बात कितनी महत्वपूर्ण होगी जब दिनकर स्वंय ही हम लोगों को अपनी प्रसिद्ध रचना पढ़ायेंगे और उनके मुँह से 'कुरूक्षेत्र' का वर्णन कितना अभूतपूर्व होगा। यह स्वाभाविक है कि उस दिन हम अपने को देश भर के उन तमाम विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों से अधिक भाग्यवान समझेंगे चूँकि यह सुअवसर सभी छात्रों को कभी प्राप्त नहीं हो सकता। कभी-कभी हम लोगों को ऐसा भी लगता कि जब दिनकर स्वंय अपनी रचनाओं का विश्लेषण करने लगेंगे तो यह ब्रह्मा से सृष्टि की कहानी सुनने जैसा आह्लादकारी अनुभव होगा। साथ ही हमारी इस गौरव-भावना के पीछे शायद यह बात भी काम कर रही थी कि हमारे कुछ अध्यापक अपनी बातचीत के दौरान इस बात का उल्लेख किया करते थे कि जब वे हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में छात्र थे तब हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और 'प्रियप्रवास' के प्रणेता हरिऔध तथा स्वनामधन्य गद्यकार बाबू श्यामसुन्दर दास उनके अध्यापक थे। इन बातों को सुन-सुनकर हम लोगों के मन में ईर्ष्या होती थी कि हमारे इन शिक्षकों को कैसा सौभाग्य था कि इन्होंने उन महापुरूषों के मुख से साहित्य की विवेचना सुनी है, जो स्वयं आलोचना के क्षेत्र में मानदंड बन गए हैं। हमारे तत्कालीन अनेक अध्यापक बड़े गुणी और विद्वान थे, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में उनकी वह धाक नहीं थी जो सुयश और गौरव उपरोक्त महान विभूतियों को प्राप्त था। दिनकर के हमारे कॉलेज में प्रोफेसर होकर आने की चर्चा से जैसे हम लोगों का बहुत पुराना स्वप्न साकार होने जा रहा था और हम सब कुछ इस तरह आह्लादित हो रहे थे जैसे किसी रामभक्त को स्वंय तुलसीदास के मुख से रामचरितमानस सुनने का सुअवसर प्राप्त होने वाला हो। बहुत दिनों की प्रतीक्षा के बाद दिनकर हमारे कॉलेज में हिन्दी के प्रोफेसर और अध्यक्ष बनकर आये और उनके आगमन से पूरे नगर का साहित्यिक महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। चारों ओर इस बात की चर्चा होने लगी कि दिनकर हमारे बीच हैं। उनकी उपस्थिति से नवजवानों की साहित्यिक चेतना को बड़ी स्फूर्ति और प्रेरणा मिली। दिनकर ने कॉलेज को ही नहीं बल्कि उस क्षेत्र की तमाम साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं को अपनी उपस्थिति से आगे बढ़ने में

सहयोग दिया। मुझे याद है कि जिन दिनों दिनकर मुजफ्फरपुर कॉलेज के प्रोफेसर थे उन्हीं दिनों 'भूमिका' के कवि श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह, 'जवानी और जमाना' के गायक डा. श्याम नन्दन किशोर, प्रयोगवादी कवि राजेन्द्र किशोर और गीतकार रमेश किरण साहित्यिक जगत में अपनी रचनाओं को लेकर आगे आ रहे थे। उन सबको दिनकर का आशीष और मार्ग-दर्शन सहज ही सुलभ हुआ। दिनकर की प्रेरणा से ही इन कवियों ने हिन्दी कविता की श्रीवृद्धि में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

जिन दिनों दिनकर मुजफ्फरपुर में प्रोफेसर होकर आए उन्हीं दिनों उन्हें समीप से जानने का मुझे अवसर मिला और मैं अपने जीवन के उस क्षण को बड़ा महत्वपूर्ण और गौरवशाली समझता हूँ। दिनकर जैसे हिन्दी के सर्वाधिक समर्थ कवि और सहृदय व्यक्ति को जब हम लोगों ने अपने बीच पाया तो 'साकार, दिव्य गौरव विराट' की अनुभूति कुछ हमलोगों के मन में भी उतरने लगी। समग्र छात्र-समुदाय ने अपने को अब कुछ अधिक समर्थ और तेजस्वी महसूस करना शुरू किया। संभवतः दिनकर के महान व्यक्तित्व की हमारे कॉलेज पर यह पहली छाप थी। हमारे कॉलेज का वातावरण बड़ा ही विशाल और उन्मुक्त था। उसकी बड़ी-बड़ी परम्पराएँ थीं। वहाँ स्वर्गीय डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और आचार्य जे.बी. कृपलानी जैसे लोग प्रोफेसर रह चुके थे। फिर भी उस कालेज की गरिमा और उसकी व्यापकता दिनकर के विराट व्यक्तित्व के सामने कुछ छोटी दिखाई पड़ने लगी। कारण, दिनकर में जो अपूर्व ओजस्विता, विद्वता, महानता और सरलता के साथ विशिष्ट सर्जनात्मक प्रतिभा का जो अपूर्व समन्वय था, वह सब अद्‌भुत था। हमारे कॉलेज के तमाम लोगों को दिनकर के कॉलेज में आने के बाद ही इस बात का अहसास हुआ कि किसी प्रोफेसर का व्यक्तित्व भी इतना ऊँचा हो सकता है जिसके सामने सारा कुछ हल्का मालूम पड़ने लगे। दिनकर जब अपने आवास से कॉलेज की ओर आने लगते तो कुछ ऐसा आभास होता कि एक गरिमापूर्ण ज्योतिपुंज हम लोगों के मध्य तीव्रगति से बढ़ता चला जा रहा है। हम सभी उस घड़ी की प्रतीक्षा में रहते जब वे प्राध्यापक कक्ष से कक्षाओं में आकर अपने ऊँचे सधे स्वर में हम लोगों को यह बताते कि साहित्य क्या है? जीवन क्या है? कविता क्या है और कवि क्या है? दिनकर के भाषणों को सुनने से पहले हम लोगों को कभी यह जानने का अवसर नहीं मिला था कि किसी रचना की प्रक्रिया में कवि का मन किन-किन स्थितियों से गुजरता है? कवि-मन कहाँ-कहाँ विचरण कर किन-किन बिन्दुओं पर रम जाता है और जहाँ कवि का मन रम गया वहीं से कविता का सौरभ कैसे फूट पड़ता है। उन्हीं दिनों अपने एक भाषण में कविता की व्याख्या करते हुए दिनकर ने कहा था- ''कलेजे में जो लग जाए, उसी को तीर कहते हैं''। उनकी इस परिभाषा ने कविता की तमाम शास्त्रीय परिभाषाओं को हम लोगों की दृष्टि में क्रान्तिहीन बना दिया था। दिनकर के भाषण इतने प्रभावशाली हुआ करते थे कि पूरे चार-पाँच सौ विद्यार्थियों की कक्षा में सदैव स्तब्धता छाई रहती थी। वे छात्र भी, जिनका विषय हिन्दी नहीं थी, इन कक्षाओं में आते और दिनकर के मुख से कविता की पृष्ठभूमि सुनकर आह्लादित हुआ करते थे। दिनकर अपनी कक्षाओं में किसी एक कविता को लेकर उस युग का पूरा इतिहास, उसकी सांस्कृतिक-सामाजिक पृष्ठभूमि और रचना प्रक्रिया की विशेषताओं का सरल, सुगम शब्दों में इस प्रकार वर्णन करते थे कि छात्रों के समक्ष कविता का पूरा चित्र जीवंत रूप में सामने आ जाता था। दिनकर हम लोगों की कक्षा में पंत की रचना 'गुंजन' पढ़ाया करते थे और उस पुस्तक की पहली कविता 'तप रे मधुर-मधुर मन' के बारे में उन्होंने जो विद्वतापूर्ण व्याख्या दी उससे अध्यात्म और दर्शन के क्षेत्र में तप की विशेषताओं के साथ-साथ भारतीय दर्शन की अनेक गुत्थियाँ हम लोगों के लिए सुबोध हो गयीं।

दिनकर महान कवि के साथ-साथ महान् विचारक भी हैं और चिंतन के द्वारा वे किसी भी रचना की अतल गहराई तक पहुँचकर सत्य को खोज निकालने में अपना सानी नहीं रखते। दिनकर ने कभी एक कविता उठाई और उसके माध्यम से उन्होंने बौद्ध, जैन, ईसाई और हिन्दू-दर्शनों का विश्लेषण सुरुचिपूर्ण ढंग से छात्रों के सामने प्रस्तुत कर दिया। फिर उन बिन्दुओं की ओर संकेत भी कर दिया जो उस कविता के मर्म थे और जिनको जाने बिना कविता को हृदय के धरातल पर उतारना कठिन था।

दिनकर की एक विशेषता यह भी थी कि उनको पढ़ने का व्यसन था। उनकी स्मरण शक्ति बड़ी तीव्र थी। जब हम लोग कक्षाओं में उनके भाषण सुना करते थे तो मुझे याद है कि वे अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की सौ-सौ पंक्तियाँ एक स्वर में और उपयुक्त संदर्भ के अनुसार सुना दिया करते थे। बीच-बीच में मुझे भी टोक दिया करते थे चूंकि मैं अंग्रेजी साहित्य का छात्र था। मैं उनकी स्मरण शक्ति से बड़ा चमत्कृत हुआ करता था। मुझे अपने ऊपर इस बात की ग्लानि हुआ करती थी कि अंग्रेजी का छात्र होकर भी मुझे उतनी पंक्तियाँ याद नहीं थीं जितनी दिनकर को। सिर्फ अंग्रेजी की ही बात नहीं, दिनकर बांग्ला के रवीन्द्रनाथ टैगोर और नजरूल इस्लाम तथा उर्दू के इकबाल की अनेक कविताएँ अबाध गति से सुना जाया करते थे। उन दिनों हम लोग यह सोचा करते थे कि दिनकर में अवश्य ही कोई दिव्यशक्ति है जिसके कारण वे अपनी हजारों कविताएँ तो याद रखते ही हैं; दूसरे कवियों की भी अनेक रचनाएँ उन्हें इस तरह याद रहती हैं कि उनको कहीं रुकना नहीं पड़ता। दिनकर उन दिनों 'रश्मिरथी' की रचना कर रहे थे। बीच-बीच में अपने घर पर बुलाकर उसके कुछ अंश हम लोगों को सुनाया करते थे। कविता सुनाने की उनकी शैली और उनकी ओजभरी वाणी अद्वितीय थी। जब वे कर्ण की वीरता का प्रसंग बखानते तो बरबस सबकी भुजाएँ फड़क उठतीं। यही उनकी वाणी का दिव्य प्रभाव था जो अब सर्वथा दुर्लभ है। यों तो दिनकर का अपना परिवार भी काफी बड़ा था लेकिन हम

छात्रों की छोटी-बड़ी मंडली उनके घर प्रायः नित्य ही जमा करती थी। हम लोगों की आवभगत की जिम्मेदारी उनके ज्येष्ठ पुत्र रामसेवक पर हुआ करती थी। दिनकर के घर जाकर हम लोगों को अपने घर से दूर होने का दुःख बहुत हद तक दूर हो जाया करता था।

जैसा कि पहले ही निवेदन कर चुका हूँ- दिनकर के हमारे कॉलेज में आ जाने से हमारे कॉलेज की साहित्यिक गतिविधि बहुत तेज हो गयी। हमारे यहाँ उनकी उपस्थिति के कारण बड़े-बड़े साहित्यकार हमारे समारोहों में आने लगे। कॉलेज की हिन्दी-साहित्य परिषद् अपने साहित्यिक कार्यक्रमों के कारण बहुत अधिक लोकप्रिय बन गई और कुछ दिनों तक मुझे भी कालेज की हिन्दी परिषद के सचिव का कार्यभार संभालना पड़ा जब दिनकर इस परिषद के अध्यक्ष थे। उन्हीं दिनों हमारे साहित्यिक उत्सवों के अवसर पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और पं० जनार्दन झा 'द्विज' छात्रों के बीच आए। पं० द्विज के भाषण में कुछ ऐसा तेज था, कुछ ऐसी गति थी और इतना प्रवाह था कि सब लोगों ने एक स्वर से यह माना था कि द्विज जैसे वक्ता हिन्दी में बहुत कम है। उनका भाषण सुनकर गंगोत्री में गंगा की याद आती थी। फिर जब आचार्य द्विवेदी बोले तो उनकी सरल सहज मुस्कान के साथ फूटने वाली मधुर वाणी ने प्रखर प्रतिभावान, तपोनिष्ठ भारतीय पंडित की समस्त विशेषताओं को श्रोताओं के सामने खड़ा कर दिया था।

दिनकर छात्रों के बीच ही नहीं अध्यापकों के बीच भी अत्यन्त लोकप्रिय थे। सभी लोग उनका समान रूप से सम्मान किया करते थे। दिनकर के जीवन की यह एक विशेषता थी कि वे किसी एक स्थान पर या एक पद पर बहुत दिन तक बंधकर नहीं रहे। संभवतः वे जिन पदों पर गए वे उनकी प्रतिभा और प्रतिष्ठा के समक्ष छोटे पड़ते गये और दिनकर इन पदों का गौरव बढ़ाकर आगे बढ़ते गये। लगभग दो वर्ष तक मुजफ्फपुर कॉलेज में अध्यापन के बाद दिनकर राज्यसभा के सदस्य होकर दिल्ली आए। दिल्ली जिस पर उन्होंने आजादी के पहले और आजादी के बाद बहुत कुछ लिखा था उसको बहुत समीप से निरखा, परखा और फिर इसे उन्होंने 'रेशमीनगर' की संज्ञा दी।

राज्य सभा में सदस्य होने के बाद मेरा संपर्क उनसे कुछ कम होता गया और बीच-बीच में कलकते में उनके दर्शन का मुझे सुअवसर मिलता रहा। एक बाद जब दिनकर राज्य सभा के सदस्य होने के बाद कलकते आए और मैंने उनसे राज्य सभा के बारे में पूछा तो उन्होंने बड़ा ही दिलचस्प उत्तर दिया। उन्होंने कहा-''संक्षेप में यदि तुम राज्य सभा और लोकसभा के बारे में मुझसे जानना चाहते हो तो मैं इतना ही कहूंगा कि इन दोनों सदनों के हम सभी सदस्य गोपियां है और हम लोगों के बीच पंडितजी कृष्ण हैं। हम सभी इस बात की कोशिश में रहते हैं कि कृष्ण हम पर रीझ जाएँ।'' दिनकर जिस समय इस स्थिति का वर्णन कर रहे थे, मेरे साथ मेरे और उनके बहुत-से मित्र थे। दिनकर की इस उक्ति से सभी के मुख पर मुस्कान बिखेर दी। बाद में हम सभी सोचते रहे कि दिनकर ने इस एक उक्ति के माध्यम से देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का कितना सच्चा निरूपण प्रस्तुत किया है। इसीलिए सभी दिनकर की अभिव्यंजना शैली की मुक्तकंठ से प्रशंसा किया करते हैं। सभी मानते हैं कि आप अपनी बात एक बार दिनकरजी को सुना दें और उसके बाद फिर उनसे वही सुन लें तो दोनों के प्रभाव का कुछ इतना अंतर होगा कि आप स्वंय यह मानने लगेंगे कि जो बात मैंने कही थी वह तो कुछ भी नहीं थी; दरअसल बात यही थी जो मैं कहना चाहता था।

दिनकर राष्ट्रकवि और महान चिंतक थे। दिनकर को समीप से जानने पर ही यह पता चलता था कि दिनकर में मात्र ज्वाला ही नहीं हिम की शीतलता, हिमालय की विराटता और गंगा की गंभीरता एवं शुचिता भी थी। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैंने उनके चरणों में बैठकर कुछ सीखा और उनका विपुल स्नेहाशीष मुझे प्राप्त हुआ। उनकी यह विशेषता थी कि जहाँ भी उन्हें श्रद्धा और सम्मान मिलता था, जिस कोने में उन्हें भक्ति दिखाई देती थी; वहां उनके मन का कपाट सहज ही खुल जाता था। सारे अन्तर मिट जाते थे और एक निश्छल, दर्शनीय विराट व्यक्तित्व की झांकी अत्यंत सहज सुलभ हो जाती थी। मन यह नहीं मानता कि 24 अप्रैल 1974 की अर्द्धरात्रि को राष्ट्रकवि दिनकर इस लोक से चले गये-'जगती की सीमा शेष हुई' और 'नीचे की महफिल उजड़ गई'। मेरा मन तो उनके निम्नांकित स्वरूप का ही सदा स्मरण करता रहेगा-

"पाया निसर्ग ने मुझे पुण्य के फल-सा,
तम के सिर पर निकला मैं कनक कमल सा।
हो उठा दीप्त धरती का कोना कोना,
जिसको मैंने छू दिया, हुआ वह सोना।
मैं विभा-पुत्र जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।"

दिनकर जी कविता पाठ करते हुए

क्रांति का कवि

रामवृक्ष बेनीपुरी

रामवृक्ष बेनीपुरी के साथ दिनकर

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी दिनकर जी के मित्र भी थे और कला-पारखी भी। वे स्वयं क्रान्ति-पथ के पथिक थे। दिनकर की राष्ट्रीय कविताओं के प्रथम संग्रह 'हुंकार' की जो भूमिका उन्होंने काशी में रंगभरी एकादशी, 1955 ई. को लिखी थी, वह दिनकरजी की राष्ट्रीय कविताओं को समझने के लिए आज भी उतनी ही स्पष्ट है जितनी उस समय थी जब वह लिखी गई थी। (इसी भूमिका के मुख्य अंश दे रहे हैं)। इसका यह अर्थ नहीं है कि दिनकर का 'हुंकार' के बाद विकास ही नहीं हुआ। परन्तु जो बात 1955 में बेनीपुरी ने लिखी थी, वह सही है कि 'दिनकर के आगे का मैदान भी उसी का है। यह मेरा आज का दावा है।' दिनकर जी जिस दिन तक जीवित रहे मैदान उन्हीं का रहा।

राष्ट्रीय कविता की जो परम्परा भारतेन्दु से प्रारम्भ हुई, उसकी परिणति हुई है दिनकर में।

जबकि चारों ओर अंधकार ही अंधकार था, दरबार के विषाक्त वायुमण्डल ने बेचारी कविता को बहू-बेटियों के नग्न-सौन्दर्य-वर्ण की बेहयाई मात्र बना रखा था, दूज के चाँद की तरह, एक पतली-सी प्रकाश-रेखा पश्चिम क्षितिज पर दीख पड़ी। पहली बार लोगों ने सुना : 'आवहु सब मिलि के रोवहु भारत-भाई'। 'भारत-दुर्दशा' पर प्रकट की गई इस रुदन-ध्वनि का उत्तर दिया भारत पर अपनी जवानी और जिन्दगी कुर्बान कर देने वाली महारानी लक्ष्मीबाई की प्यारी झाँसी के एक चिरगाँव ने। चिरगाँव ने अपनी पूरी 'भारती' को ही भारत के नाम पर उत्सर्ग करके आकांक्षा की -'भगवान, भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती'। निस्संदेह, उसकी भारती गूँजी, समूचे हिन्दी-भारत में गूँजी। नर्मदा-तट की एक कुटी में जलती हुई साधना की धुनी की लपटों में ज्वार आया। रुदन-क्रन्दन, गूँज-गायन नहीं, एक ललकार देश के तरुणों के प्रति, जिसकी टेक थीः बलिदान, बलिदान। बलिदान भी कैसा?

सफलता पाई अथवा नहीं,
उन्हें क्या ज्ञात? दे चुके प्राण।
विश्व को चाहिए उच्च विचार?
नहीं, केवल अपना बलिदान।

भारतीय आत्मा का यह आह्वान और देश में सचमुच बलिदानों का एक ताँता लग गया। सूलियों की सेज, उछलती लाशें। माँ की बलिवेदी लाल हो रही थी। इस लाल वेदी से एक लाल देवी का आविर्भाव हुआ। क्या आपकी आँखें उसे देख पाती हैं? यदि वैसे आप देख नहीं पाते, तो दिनकर के प्रकाश में देखें उसे।

जो पश्चिमी क्षितिज पर सान्त-स्निग्ध इन्दु था, वह पूरब में दिनकर होकर अभी-अभी उगा है। उसके प्रकाश में अरुणिमा है, तरुणाई की सूचना, या उस देवी की प्रतिच्छाया?

हमारे क्रान्ति-युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में इस समय, दिनकर कर रहा है। क्रान्तिवादी को जिन-जिन हृदय-मन्थनों से गुजरना होता है, दिनकर की कविता उनकी सच्ची तस्वीर रखती है। क्रान्तिकारी के पास भी दिल होता है। लेकिन, वह करे तो क्या? उसी समय उसके कानों में कुछ दूसरी ही रागिनी बज उठती है, उसकी आँखें कुछ दूसरे ही दृश्य देखने लगती हैं:

रणित विषम रागिनी मरण की
आज विकट हिंसा-उत्सव में,
दबे हुए अभिशाप मनुज के
लगे उदित होने फिर भव में;
शोणित से रँग रही शुभ्र पट

संस्कृति निठुर लिये करवालें,
जला रही निज सिंह-पौर पर
दलित-दीन की अस्थि-मशालें।

और उसे मालूम होता है, कोई शक्ति उसे बुला रही है- जगा रही है। यह कौन? यह तो वही है। वह झिझक उठता है:

यह कैसा आह्वान!
समय-असमय का तनिक न ध्यान।
तुम्हारी भरी सृष्टि के बीच
एक क्या तरल अग्नि ही पेय?
सुधा-मधु का अक्षय भण्डार
एक मेरे ही हेतु अदेय?
उठो, सुन उठूँ, हुई क्या देवि,
नींद भी अनुचर का अपराध?
मरो, सुन मरूँ, नहीं क्या शेष
अभी दो-दिन जीने की साध?

दूसरे ही क्षण, वह प्रकृतिस्थ होता है। अरे, उसका जीवन तो समर्पित है। उस पर उसका क्या अधिकार? और, माना वह गरज उठता है-

फेंकता हूँ लो, तोड़-मरोड़
अरी निष्ठुरे! बीन के तार,
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख
फूँकता हूँ भैरव-हुंकार।
नहीं जीते-जी सकता देख
विश्व पे झुका तुम्हारा भाल,
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल।

गरल, गरल, गरल! क्रांतिकारी की जिन्दगी में अमृत का स्थान कहाँ? और, हिन्दुस्तान की क्रांति आज जो नया रूप ले रही है, उससे भी वह अपरिचित नहीं। मालूम होता है, मानो अब तो उसकी कविता की वही प्रमुख प्रेरक है:

जेठ हो कि हो पूस, हमारे
कृषकों को आराम नहीं है,
छुटे बैल से संग, कभी
जीवन में ऐसा दाम नहीं है।
मुख में जीभ, शक्ति भुज में,
जीवन में सुख का नाम नहीं है,
वसन कहाँ? सूखी रोटी भी
मिलती दोनों शाम नहीं है।

यही नहीं, वह उस दिन नई दिल्ली को देखकर भी कह उठा था:

आहें उठीं दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प, पुकारें;
अरी, गरीबों के लोहू पर,
खड़ी हुई तेरी दीवार!

नई दिल्ली को उसने एक नवीन विशेषण भी दिया है -*कृषक मेध की रानी दिल्ली।*

कभी हमारे राजे अश्वमेध करते; नई दिल्ली कृषक मेध करती है, वह उसकी रानी है।

सबसे बढ़कर हमारे आज के समाज में स्त्रियों की नग्नता और बच्चों की भूख-ये दो चीजें ऐसी हैं, जो दिनकर के भावुक हृदय को क्रान्ति के लिए सबसे अधिक प्रेरित करती हैं। 'हाहाकार' में बच्चों की भूख और दूध के लिए उनकी चिल्लाहट का उसने ऐसा वर्णन किया है, जो पत्थर के दिल को भी पिघला सकता है-

कब्र-कब्र में अबुध बालकों
की भूखी हड्डी रोती है,
'दूध-दूध की कदम-कदम पर,
सारी रात सदा होती है।
'दूध-दूध ओ वत्स, मन्दिरों में
बहरे पाषाण यहीं हैं!
'दूध-दूध', तारे, बोलो इन
बच्चों के भगवान कहाँ हैं।

भगवान बहरे हों, तारे न बोलें- लेकिन, कवि चुप बैठने वाला नहीं। वह कहता है :

हटो व्योम के मेघ, पंथ से
स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध-दूध' ओ वत्स, तुम्हारा
दूध खोजने हम जाते हैं।

मालूम होता है, दिनकर ने क्रांति को निकट से देखा है और उसने उसे एक अच्छा-सा नाम भी दे दिया है- *विपथगा*। इस विपथगा को कवि ने भारतीय रूप दिया है। यह सिर पर छत्र-मुकुट रखती है; कुमारी है, तो भी सिन्दूर लगाती है; आँखों में अंजन देती है और रंगीन चीर पहनकर नाचती है। लेकिन, इसके मुकुट, सिन्दूर, अंजन और चीर, सब असाधारण हैं। कैसे? ऐसे:

मेरे मस्तक का छत्र-मुकुट
बसु-काल-सर्पिणी के शत फन;
मुक्त चिर-कुमारिका के ललाट
पर नित्य नवीन रुधिर-चन्दन;
आँजा करती हूँ चिता-धूम का
दृग में अंध-तिमिर अंजन;
संहार-लपट का चीर पहन
नाचा करती मैं छूम छनन।

और नाचना शुरू किया कि एक अजीब दृश्य-

पायल की पहली झमक,
सृष्टि में कोलाहल छा जाता है;
पड़ते जिस ओर चरण मेरे,
भूगोल उधर दब जाता है।

'भूगोल उधर दब जाता है'- आप इसे अत्युक्ति कहेंगे; लेकिन दुनिया का इतिहास इसका साक्षी है। विश्व-साहित्य में क्रान्ति पर जितनी कविताएँ हैं, 'दिनकर' की 'विपथगा' उनमें

से किसी के भी समकक्ष आदर का स्थान पाने की योग्यता रखती है।

क्रान्ति-सम्बन्धी उनकी दूसरी कविता 'दिगम्बरि' भी हिन्दी-संसार में जोड़ नहीं रखती। मालूम होता है, कवि आँखों देखी, कानों सुनी बात कह रहा है—

धरातल को हिला गूँजा धरणि में राग कोई,
तलातल से उभरती आ रही है आग कोई,
दिशा के बंध से झंझा विकल है छूटने को,
धरा के वक्ष से आकुल हलाहल फूटने को।

और, इस क्रान्ति के वाहन कौन होंगे? युवक ही तो? अतः, 'दिनकर' एक मौका भी ऐसा नहीं जाने देता, जब वह इन युवकों से दो-दो बातें न कर ले। कभी वह उन्हें उलाहना देता है—

खेल रहे हिलमिल घाटी में कौन शिखर का ध्यान करे?
ऐसा वीर कहाँ कि शैल-रुह फूलों का मधु-पान करे?

कभी उन्हें वह चेतावनी देता है—

लेना अनल-किरीट भाल पर
ओ आशिक होने वाले,
कालकूट पहले पी लेना,
सुधा-बीज बोने वाले।

दोस्तों, याद रखोः

धरकर चरण विजित शृंगों पर झंडा वही उड़ाते हैं,
अपनी ही उँगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़, खींच मत तलवों से काँटे रुककर,
फूँक-फूँक चलती न जवानी चोटों से बचकर, झुककर।

उन्हें 'जय-यात्रा' के लिए उत्तेजित करते हुए, मानो, आखिरी बार कवि कहे देता है—

चल यौवन उद्दाम;
चल, चल बिना विराम,
विजय-मरण, दो घाट,
समर के बीच कहाँ विश्राम?

अन्त में एक बात। जब मैंने राष्ट्रीय कविता के विकास के सिलसिले में भारतेन्दु, मैथिलीशरण, भारतीय आत्मा और दिनकर को लिया है, तो इसका मतलब यह नहीं कि इनके अतिरिक्त किसी ने देशमाता के चरणों पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई नहीं।

नहीं, यह कहना गुस्ताखी होगी— अक्षम्य अपराध होगा।

ये तो 'मील के पत्थर' मात्र हैं— खास दूरी के सूचक। बीच में और भी कितनी ही प्रणम्य, नमस्य, देव-मूर्तियाँ हैं; किन्तु बीच में ही। 'दिनकर' के आगे का मैदान अभी उसी का है। यह मेरा आज का दावा है। कल की बात मैं नहीं कहता।

साहित्य साधना की शिखर परिणति
हरिवंश राय बच्चन

दिनकर से मेरी पहली मुलाकात दिसम्बर, 1935 में हुई थी, जब जापानी कवि योन नोमूची के स्वागत में आयोजित उत्सव में मैं कलकत्ता गया था। उन दिनों 'योगी' में मेरी कविताओं का उपहास भी होता था। और दिनकर को वे ज्यादा प्रश्रय देते थे पर हम लोगों में ईर्ष्या या मुकाबले की भावना बिल्कुल नहीं थी। साथ-साथ कविता पढ़ते थे, मिलते थे, मिलते-जुलते थे, बातें करते थे। मुझे याद है कि किसी कवि के कविता पाठ के समय, हम दोनों ने बात करने पर डाँट खाई थी। हम लोगों ने कितने ही स्थानों की साथ-साथ यात्रा की, कवि सम्मेलनों में गये।

दिनकर की वाणी का ओज उनके व्यक्तित्व में भी था। पहले वे कवि सम्मेलनों मे गाकर सस्वर पाठ भी करते थे। पर जल्दी ही उन्हें महसूस हो गया कि उनका स्वर गाने के लिए नहीं, गरजने के लिए है। पर मैं अपनी कविता गाकर, किसी राग में पढ़ता था। श्रोताओं को 'वैरायटी' मिलती थी। इसमें एक सामंजस्य ही था, प्रतिद्वन्द्विता नहीं। 1956 में जब मैं दिल्ली में आ गया, हम लोगों की अनौपचारिक और आत्मीय ढंग से बातें हुआ करतीं थीं। बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो मैं दिनकर से ही कर सकता था। हम खुलकर बातें करते थे। हमारी बातें साहित्यिक भाषा में न होकर, धरती की भाषा में होती थी। अब शायद कोई दूसरा आदमी नहीं है, जिससे इस तरह की बातें मैं कर सकूँगा। दिनकर की 'हारे को हरिनाम' में एक कविता भी है कि, 'मैं याद तो बेनीपुरी की करता हूँ। पर मैं बैठना चाहूँगा बच्चन के साथ।'

दिनकरजी ने श्रमसाध्य जीवन जिया। उनकी साहित्य साधना अपूर्व थी। कुछ समय पहले मुझे एक सज्जन ने कलकत्ता से पत्र लिखा कि दिनकर को ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलना कितना उपयुक्त है? मैंने उन्हें उत्तर में लिखा था कि- यदि चार ज्ञानपीठ पुरस्कार उन्हें मिलते, तो उनका उचित सम्मान होता- गद्य, पद्य, भाषणों और हिन्दी प्रचार के लिए।

दिनकर को मानसिक वेदना बहुत थी। अंत तो सभी का आता है। देश की जैसी स्थिति है, उसमें पैंसठ वर्ष भी जी लेना आसान बात नहीं है। साहित्यिक क्षेत्र में एक व्यक्ति जो कामना कर सकता है दिनकर को वह सब कुछ मिल गया था- पद,यश, पैसा, प्रतिष्ठा। पर मेरे और उनके अनेक मित्रों के मन को हमेशा यह कचोटता रहेगा कि इतना कुछ करने के बाद, इतनी उपलब्धि और सफलता के बीच, कोई इतनी अशान्ति और दुःख-क्लेश को लेकर मरे।

सतीश वर्मा द्वारा प्रस्तुत, 'धर्मयुग' से, 12 मई 1974

अस्तंगत का उदय

भवानीप्रसाद मिश्र

चौबीस की रात को या कहिए जब 25 अप्रैल शुरू हो चुकी थी, एक बजे रेडियो पर खबर आ गयी थी कि दिनकरजी मद्रास के किसी नर्सिंगहोम में दिल के दौरे से हम सबको छोड़कर चले गये। मैंने यह खबर एक बजे रात को नहीं सुनी। जिस दोस्त ने सुनी उसका जी उसी समय मुझे आकर बताने का हुआ। मगर वह जानता था कि मेरा और दिनकरजी का ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि मैं खबर सुनकर फिर रात को सो रहूँ। मुझे दिल का बीमार जान वह मेरे पास रात को नहीं आया। सुबह एक बचपन के दोस्त ने, जो मध्य प्रदेश में शिक्षक हैं और राष्ट्रपति पुरस्कार लेने दिल्ली आये थे, 6 बजे घंटी बजा दी। उन्हें देखकर जी इतना खुश हुआ कि आये हुए अखबार पड़े रहे, मैंने उन्हें छुआ तक नहीं और चाय के साथ-साथ परिवार के सारे लोग उनसे बातचीत में जुट गये। तभी जैनेन्द्रजी का फोन आया, उन्होंने कहा 'भवानी। तुमने पढ़ा?' जी सशंकित हो उठा। मैंने डरी हुई-सी आवाज में पूछा-'क्या?' उन्होंने कहा- 'दिनकर नहीं रहे।' अखबार में तो ज्यादा खबर थी नहीं। जगह-जगह फोन करना शुरू किया। भाई बच्चू प्रसाद सिंह ने बताया कि दिनकर जी का शव नौ बजकर पचपन मिनट पर हवाई जहाज से पालम पहुँचेगा और कोई पौन घंटे के बाद पटना ले जाया जायेगा। संस्कार वहीं शाम को होगा। जितने दोस्तों को फोन पर खबर दी जा सकती थी, खबर देना शुरू किया। आठ बजे रेडियो ने भी यही सब सूचना दी। हम सब लोग पालम पहुँचे।

पालम का दृश्य जहाज के आने के पहले भी बहुत करुण था। लोग आँखों में पानी भरे, एक-दूसरे से आँख चुराते-से घूम रहे थे। आपस में बातचीत करने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। इतने अचानक और ऐसी दारुण खबर बर्दाश्त कर सकना शायद किसी से बन नहीं पाया। परिवार के लोग, साहित्यिक दुनिया के लोग, मित्रों का दल, राजनेता, प्रकाशक और जनसेवक सभी पालम पर परेशान घूम जहाज का रास्ता देख रहे थे। जब जहाज आया, तब भी हम सबके शव तक पहुँचने में कोई बीस-पच्चीस मिनट लग गए। जहाज के कर्मचारियों का बर्ताव अत्यंत सौजन्यपूर्ण था। हम सब लोगों को जहाँ जहाज रुका था, वहाँ तक जाने दिया गया। दिनकरजी का शव एक ठेले पर हमारे सामने लाया गया। शव लकड़ी की पेटी में बंद था, यानी हम, जो उन्हें देखने के लिए तरस रहे थे, लकड़ी की पेटी को देखते रहे। ज्यादातर लोग फूलमालाएँ लेकर आये थे। फूलमालाएँ शव पेटिका पर चढ़ाई गईं। जिनके पास फूल-मालाएँ थीं, और जिनके पास नहीं थीं, उन सबके आँसू तो उस पर गिरे ही।

किंतु आँसू टपकाते हुए भी मन में कहीं यह एक आश्वासन झाँक रहा था कि दिनकर अस्त होकर भी अस्त नहीं हुए हैं। इस 'दिनकर' का एक शाश्वत उदयाचल भी है, जिस पर से यह कभी ओझल नहीं होगा। कविता और अपने हर लेखन के द्वारा दिनकर 'हुंकार' से लेकर 'हारे को हरिनाम' तक तथा कहिए, 'संस्कृति के चार अध्याय' से लेकर 'आधुनिक बोध' तक अनादि काल से अब तक के जीवन प्रवाह और उसमें उसके चढ़ावों तथा उसके उतारों को प्रकारान्तर से जानते-पहचानते रहे हैं। उनके भीतर जो चीज घनी थी वह थी आशा या ओज या इनसे मिलते-जुलते तत्वों के साथ-साथ वह गहरी उदासी, जिसे रवीन्द्रनाथ ने 'मनुष्य की मूल पूँजी' कहा है। उदासी जब जितनी घनी होती थी तब वे उसे उतने ही ज्यादा जोर से ललकारते थे। उनके लेखन से इतना स्पष्ट होते बहुत देर नहीं लगती कि ये कविता में थोड़ी वक्रता और गद्य में सरलता, शालीनता और दृढ़ता के साथ प्रायः यही कहते जान पड़ते हैं कि प्रारंभ से अब तक का जमाना युद्धों का और इसलिए निष्कर्ष आप निकालिए कि व्यर्थता का रहा है। इससे भिन्न परिस्थिति कैसे बन सकती थी सो मैं नहीं जानता। आदमी के खिलाफ की शक्तियाँ अब तक मानवीय नहीं, दानवीय रही हैं; अहं और लोभ-लालच के रेले औचित्य संगति और पारस्परिकता

के अनति दृढ़ तटों से आ-आकर टकराते रहे हैं और इस टकराहट ने तटों को ढँक देने वाले, कई बार तोड़ देने वाले ऊँचे-ऊँचे तूफान उठाये हैं-बेचारा आदमी अब तक उनमें सिर्फ मारा-मारा फिरा है। किंतु उनकी यह उदास मुद्रा फिर दर्शन में बदल जाती थी और वे अरविंद के साथ अतिमानवता की कल्पना को काव्य में साकार करने का प्रयत्न करने लगते थे।

दिनकर के 'रश्मिरथी', 'कुरुक्षेत्र' या 'परशुराम की प्रतीक्षा' अगर दानवीय-ज्वर के चढ़ाव के चरम बिंदु है तो उनका 'हारे को हरिनाम' महाज्वर के उतर जाने के बाद का वह लागरपन है जो शरीर और मन और आत्मा तक को केवल तोड़ ही नहीं देता, चूसकर एक तरफ पड़े रहने पर विवश कर देता है। यों कहा जा सकता है कि 'हारे को हरिनाम' में दिनकर ने कवित्व की हद तक जीवन की जीर्णता, शीर्णता और लाचारी का अधिक स्पष्ट अनुभव करके एक अर्द्ध-प्रतीकवादी तरीके से सामने यह रखा है कि वे दुनिया को किस तरह देखते हैं और दुनिया उनको किस तरह देखती है। यहाँ वे नित्य-प्रति भीतर बढ़ती जाने वाली उदासी को ओज, रोष या ललकार से ढाँकने की बजाय जैसी वह है, उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे उसमें एकदम व्यक्तिगत मुहावरा अपनाये हुए हैं जबकि अन्य कृतियों में उन्होंने चरित्र कहिये, प्रतीक कहिए चुने है-फिर चाहे चरित्र कर्ण का हो, चाहे पुरूरवा का, चाहे परशुराम का।

इस अंतिम काव्य संग्रह में दिनकर ने अपनी वाग्मिता का कदाचित् ही कहीं सहारा लिया है। इस संग्रह की कविताओं में दर्शन, ध्यान, समाधि, भक्ति, देशकाल और किसी अज्ञेय के हाथों में मानवीय इतिहास की बागडोर के थमे होने का अहसास आदि के विचार उभर-उभर कर सामने आते हैं। साथ ही नजर आती है दिनकर की एक नितांत अनजानी सोच में डूबी हुई अशरण के चरणों में अर्पित तस्वीर। यह तस्वीर उनकी पूर्ववती कविताओं में उभरने वाली कविताओं को सच कहें तो नकारती नहीं, उसको समझने की चाबी देती है।

अब दिनकर हमारे बीच नहीं हैं। हम उनके पूरे व्यक्तित्व को उनकी रचनाओं में अधिक अवकाश और गहराई के साथ खोज सकते हैं। कवि के बारे में दिनकर की क्या दृष्टि थी उसे नीचे दी गई कविता के हिसाब से देखकर पढ़ें तो दिनकर को समझने में बड़ी मदद मिलेगी। दिनकर विरोधी भावों के नहीं, विरोधों के पुंज थे- इसीलिए वे भीतरी और बाहरी का अनोखा सामंजस्य साधकर लिख सके हैं। वे अपनी कविता में ठीक कलाकार के उस दोहरे रूप में प्रकट हुए हैं जिसमें एक तरफ वह निर्माता होता है अपनी कृति का; और दूसरी तरफ अपनी कृति से निर्मित होता है। 'कवि' शीर्षक इस तथ्य को खोलने वाली कविता पूरी की पूरी इस तरह है:

प्राप्त है इनको सखे, कुछ ज्ञान भी, अज्ञान भी।
वायु हैं ये,
विश्व के मन को बहाकर
सत्य-सुषमा की दिशा की ओर करते हैं।
मानवों में देवता जो सो रहे, उनको जगाते हैं।
रात्रि के ये क्रोध हैं,
हुंकार भरते हैं तिमिर में
और हाहाकार करके भोर करते हैं
आँख के हैं अश्रु कोई भी न जिनको जानता है।
सिंधु तट की वह मधुरता है
न जो मिटती कभी है
बालुका पर मनुज के पद चिन्ह जो पड़ते,
ये जुगा उनको भविष्यत् के लिए धरते।

यह कविता उनके समूचे काव्य से उठने वाली इस ध्वनि को व्यक्त करती है कि दिनकर व्यक्ति से पार देख पाने वाली एक दृष्टि का नाम था। यह कविता एक दर्पण है जो उन्हें जैसा का तैसा नहीं, उदात्त (ट्रान्सफार्म्ड) रूप में दिखाती है- यह उदात्त रूप उनका पार्थिव रूप कदापि नहीं है। उन्हें जो पार्थिव रूप मिला था, वह हर सच्चे कलाकार को निमित्त रूप में मिलने वाली देह थी, जिसके बल पर वह पार्थिवातीत और इसलिए सदा उदयोन्मुख; एक प्रतीक की तरह सामने रहता है।

साहित्य के दीप्तिमान नक्षत्र

कमलापति त्रिपाठी

तत्कालीन केंद्रीय मंत्री

दिनकर जी की कृतियाँ और उनकी प्रतिभा के संबंध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। न केवल हिन्दी जगत प्रत्युत भारतीय वाङ्मय उनकी विशिष्टता से पूर्णतः परिचित है। गद्य और पद्य में उनकी समान गति थी और अपने गीतों तथा काव्य की पंक्तियों को जिस प्रभावकारी ढंग से वे पढ़ते थे, वह अनोखा था। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति तथा मर्यादा और इतिहास के प्रति बड़ा स्नेह था। आज वह हिन्दी साहित्य में मूर्धन्य स्थान रखते थे। उनके उठ जाने से हमारे देश और साहित्य का एक दीप्तिमान नक्षत्र अस्त हो गया।

दिनकर जी

प्रभाकर माचवे

आधुनिक हिंदी कविता के अंतिम ओजस्वी और आशावादी 'दिनकर' जी का नाम सबसे पहले मैंने सन 1935 में खंडवा में माखनलाल जी चतुर्वेदी के यहाँ सुना। रामवृक्ष बेनीपुरी उस समय 'कर्मवीर' के सह संपादक थे और उन्होंने मेरी प्रारंभिक रचनाएँ-कविताएँ, रेखाचित्र, कहानियाँ, 'कर्मवीर' साप्ताहिक में छापी थीं। तब 'रेणुका' की भूमिका 'दादा'(एक भारतीय आत्मा) ने लिखी थी, जिसके कारण दिनकर जी साहित्यक्षेत्र में आगे आये। खेद है कि 'रेणुका' के दूसरे संस्करण में वह भूमिका हटा दी गई। तब 'दिनकर' जी की कविताएँ बिहार के पत्रों के अलावा 'विशाल भारत' में बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने छापीं।

और 'कर्मवीर' में गत महायुद्ध के दौरान अबीसिनिया के युद्ध पर छपी उनकी प्रगतिशील कविता की पंक्तियाँ मुझे याद हैं जिसका आरंभ हुआ था 'मेघरंध्र में बजी रागिणी' से और 'ईसाई दुनिया ने बर्छी तानी' उसमें एक सटीक पंक्ति थी। दिनकर जी ने लेनिन की और रूस की क्रांति की प्रशंसा में अपनी आरंभिक कविताओं में लिखा- शायद 'हुंकार' में वह कविता है।

क्रांति की 'झन झन झन झन, झनन झनन' अगवानी बंदी भारत माता की बेड़ियों की झनकार में सुनने वाले दिनकर हिंदी के राष्ट्रीय कवियों की परंपरा में आते थे, जिनमें से मैथिलीशरण गुप्त, 'नवीन' जी, सुभद्राकुमारी पहले ही स्वर्गवासी हो गये। दिनकर जी से प्रत्यक्ष परिचय का लाभ इलाहाबाद में सन् 50 में जब साहित्यकार संसद के तत्वाधान में रसूलाबाद में महादेवी जी ने उनके सम्मान में उत्सव किया था और 'कुरुक्षेत्र' पर पुरस्कार दिया था, तब मिला। इससे पहले मैं 'कर्मवीर' में कृष्णायन के साथ-साथ 'कुरुक्षेत्र' की समीक्षा लिख चुका था। यह लेख मेरी एक पुस्तक में सन् 1952 में प्रकाशित हुआ है।

बाद में सन् 1954 में साहित्य अकादमी दिल्ली में आ जाने पर संसद-सदस्य के नाते दिनकर जी से अक्सर भेंट होती थी-मामा वरेरकर के घर पर, मैथिलीशरण जी के निवास-स्थान पर बनारसीदास जी के यहाँ या सभा-सम्मेलनों में। सन् 1957 में जब वे चीन गये, या सन् 1961 में सोवियत रूस या बाद में मारीशस में उनके संस्मरण में, उनके श्रीमुख से सुनने का अवसर मिलता था। वे ओजस्वी वक्ता थे। पं. जवाहरलाल नेहरू जब 70 वर्ष के हुए उन्होंने एक काव्य-संकलन 'शांतिदूत नेहरू' प्रकाशित कराया जिसमें मैंने उन्हें अनुवादादि कार्य से सहयोग दिया था। बाद में नेहरू के स्वर्गारोहण के बाद दिनकर जी ने 'लोकदेव नेहरू' पुस्तक लिखी।

दिनकर जी नई पीढ़ी की रचनाएँ पढ़ते ही नहीं थे; उन्हें प्रोत्साहन भी देते थे। उनकी सुनते भी थे, वाद-विवाद भी करते थे। नवीनतम पुस्तकें पढ़ने का उन्हें चाव था। साहित्य अकादमी के लिए उन्होंने रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं का अनुवाद किया, अरविंद घोष पर उन्होंने एक सेमिनार के लिए विशेष निबंध लिखा। 'वॉइस आफ हिमालयाज' उनकी कविताओं का एक अंग्रेजी अनुवाद छपा है- कुछ अनुवाद उसमें मेरे किए हुए हैं, कुछ आर. के. कपूर के और कुछ श्रीमती कमला रत्ना के। उनके निबंधों-विचारों की एक और पुस्तक अंग्रेजी में छपी है जिसमें कुछ अनुवाद श्रीमती कपिला वात्स्यायन के भी हैं। इस्पाहानी में उनकी कविताओं का अनुवाद श्रीमती रत्नम ने किया। रूसी में श्रीमती स्वेतलाना त्रबिनकोवा ने। वैसे हिंदी की कई पत्र-पत्रिकाओं ने विशेषांक निकाले थे जैसे 'अध्येय' और 'गंतव्य' आदि ने। पद्मा सचदेव की डोगरी कविताओं का जो हिंदी अनुवाद अकादमी ने हाल में प्रकाशित किया है, उसकी भूमिका दिनकर जी द्वारा लिखी गई है। सारे हिंदी संसार में, और बाहर भी, उनके प्रशंसक हजारों में हैं। सैकड़ों नये लेखकों-पत्रकारों को उन्होंने प्रेरणा दी और जीवन में बड़ी सहायता की। 'कोयला और कवित्व', 'आत्मा की आँखें' उनकी आधुनिकतावादी रचनाएँ हैं।

ऐसे कवि के अंतिम दिन अध्यात्मोन्मुख हो गये थे। 'हारे को हरिनाम' इसका उदाहरण है। अरविंद, रमण महर्षि, माता आनंदमयी, शारदामाता (यह उनका अंतिम प्रकाशित लेख था) आदि पर रचनाएँ हैं। 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' पर काफी वाद-विवाद हिंदी में मचा। उन्हें यह आभास था कि वे न रवींद्र बन सके न इकबाल। हिंदी में सम्मान, सर्वश्रेष्ठ पुरस्कारादि मिलने पर भी वे अंतिम कवि सम्मेलन (सप्रू हाउस 21 अप्रैल रात्रि) को कह गये-

कागज कितना भी चिकना लगाओ
जिंदगी की किताब खाली की खाली रह जाती है।

राष्ट्रीयता के सशक्त माध्यम

मन्मथनाथ गुप्त

किसी जीवित व्यक्ति पर मैं लिखना पसन्द नहीं करता क्योंकि मैं इस फारसी कहावत में विश्वास करता हूँ-''तब तक किसी पर कुछ मत कह जब तक कि वह मर न जाए'', फिर भी मैंने 'आज के लोकप्रिय कवि' माला के लिए दिनकर पर एक पुस्तक लिखी क्योंकि दिनकरजी का मामला ऐसा था जिसमें मेरे बीच में पड़ने की जरूरत थी। यों उनका जीवन स्फटिक की तरह स्वच्छ है, पर उन्होंने ब्रिटिश सरकार की जो नौकरी की थी, उसी के इर्दगिर्द उनके प्रतिद्वंदी और निन्दक वर्षों तक उनकी नींद हराम किए रहे। इस प्रचार के कारण भीतर ही भीतर उनमें बहुत सालों तक एक हीनताबोध था, जो संसद के प्राथमिक सालों में भी चलता रहा। मैं उनकी इस पीड़ा से परिचित था, इसी के लिए मुझे अपने सारे नियमों को तोड़कर वह पुस्तक लिखनी पड़ी। मैंने उनको सरिता के जनवरी अंकों में 13 साल तक लगातार प्रकाशित होने वाली वार्षिक-समीक्षा में राष्ट्रकवि करके सम्बोधित किया, जिस पर दिल्ली के किसी-किसी साहित्य-चक्र में पीठ पीछे मेरी काफी हँसी उड़ाई गयी। ऐसे लोग मैथिलीशरण को एकमात्र राष्ट्रकवि मानते थे, मेरा कहना था दोनों हैं तथा और भी हैं।

हम 1923 में क्रान्तिकारी प्रचार कर रहे थे, तो हमने अन्य पुस्तकों जैसे 'देश की बात', 'एशिया निवासियों के प्रति योरोपियनों का बर्ताव' के साथ 'भारत भारती' का उपयोग किया। उस समय हमने दिनकर का नाम काशी में सुना भी नहीं था। पर मजा तो मुझे तब आया जब वही लोग जो मैथिलीशरण के घर पर दिनकर का 'राष्ट्रकवित्व' लेकर मजाक उड़ाकर उनसे अपनी रीडरबाजी टाइप का काम निकालते थे, वे मैथिलीशरण की मृत्यु के बाद दिनकर को अटक-अटक कर राष्ट्रकवि कहने लगे और अब इधर कुछ सालों से सभी उन्हें राष्ट्रकवि कहते रहे।

सच बात तो यह है कि इन दोनों में से कोई उस अर्थ में राष्ट्रकवि नहीं थे, जिस अर्थ में इंग्लैंड के कवि लारिएट होते हैं। भारत बहुभाषी देश है, हिन्दी का कवि ही पोएट लारिएट होगा ऐसी कोई गारंटी नहीं।

मैंने इस अर्थ में दिनकर को राष्ट्रकवि कहा कि वह सरकारी नौकर होते हुए भी राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार के बहुत बड़े सशक्त माध्यम बने। बकिंमचन्द्र भी सरकारी नौकर थे, रमेशचन्द्र दत्त, डी.एल. राय, आशुतोष मुखर्जी सरकारी नौकर थे, बंगाल में सब कुछ कहा गया, पर इस नाते किसी ने उनका कभी अवमूल्यन नहीं करना चाहा कि वे सरकारी फाइल में क्या कहते थे। मैंने बिहार के किसी पत्र में दिनकर के विरूद्ध यह पढ़ा था कि युद्ध के दौरान उन्होंने कुछ राजभक्ति मूलक कविता प्रचार विभाग के लिए प्रस्तुत की थी। मेरा एक ख्याल यह है, कि यदि दिनकर सरकार में बड़े नौकर होते जैसे रानाडे हों तो ये निन्दक मुखर न होते। इससे इनका ज्ञापन और खुलता है। मैथिलीशरण के इन्हीं रीडरबाज खुशामदियों में एक आई.सी.एस. स्कूल वाले थे। कभी ब्यौरा लिखूँगा।

दिनकर पर आगे शोध होंगे। मैंने उस पुस्तक में यह नहीं लिखा, पर मैं अब लिखता हूँ कि यदि यह प्रमाणित भी हो जाए कि दिनकर ने वैसे एकाध गीत लिखे (जैसाकि उन्होंने न लिखा होगा) तो इससे कुछ आता जाता नहीं। उनका प्रमुख स्वर देशभक्ति मूलक था। समसामयिक साक्षी भी यही कहते हैं। 'जनता' साप्ताहिक का एक विशेषांक 1940 में भाई बेनीपुरी और मथुराप्रसाद मिश्र के संपादकत्व में निकल रहा था, दिनकर को तार दिया गया कि वह जल्दी से एक कविता भेजें। दिनकर ने गांधी की हैमलेटीय द्विधा पर एक कविता लिखी और उन्हें आन्दोलन छेड़ने को प्रेरित किया जिसका शीर्षक था 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल'। अब पूछा जाए कि क्या बेनीपुरी और मथुरा प्रसाद मिश्र दिनकर को अधिक जानते थे या ये खुशामदी रीडरबाज।

मैं दिनकर को हजारीबाग से जानता हूँ। मैं 1948 में दिल्ली आ गया, वह संसद सदस्य होकर बाद को आए। तब से सैकड़ों बार भेंट हुई, पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। मैंने उनको रवीन्द्रकाव्य के अनुवाद में सहायता दी; भौतिकवाद, अध्यात्मवाद पर बहस की। उन पत्रों को कभी प्रकाशित करूँगा। मैंने उनकी हर प्रधान कृति की लम्बी आलोचना लिखी। उन्होंने मेरे एक निबन्ध-संग्रह की दीर्घ भूमिका लिखी। 1961 में प्रकाशित 'वट

पीपल' नामक निबन्ध संग्रह को उन्होंने मुझे समर्पित किया, जो बहुत बड़ा सम्मान रहा। दिनकर पर सैंकड़ों पुस्तकें प्रकाशित होंगी, न केवल इस कारण कि वे महाकवि थे, चिन्तक थे, बल्कि 'उर्वशी' के रूप में वह एक कृति दे गए जो उच्चकोटि का महाकाव्य होने के साथ-साथ एक आदर्श पाठ्यपुस्तक भी है, जिसकी अलग-अलग लोग अलग-अलग व्याख्या करेंगें। अलग-अलग युग में अलग-अलग कारणों से उसकी सराहना होगी।

उनके साथ मेरे मतभेद बहुत गहरे थे। मैं समझता था कि हिन्दी के क्षेत्र में वही एक व्यक्ति हैं, जो यदि वस्तुवादी चिंतन करें तो वह बहुत उपयोगी हो सकते हैं। सुमित्रानन्दन पंत पहले ही प्रगतिवादी से अध्यात्मवादी होकर मुझे निराश कर चुके थे। हमारे साथ के कई कट्टर क्रान्तिकारी जैसे बटुकेश्वरदत्त अध्यात्मवाद में लौट चुके थे। राजकुमार सिंह भी निश्चित रूप से इसी तरफ जा रहे थे जबकि मौत ने उन्हें उठा लिया। वह स्थायी मूल्यों की बात बहुत अधिक करने लगे थे।

दिनकर के 'संस्कृति के चार अध्याय' की इसी दृष्टि से मैंने लम्बी आलोचना लिखी थी, जिससे वह संतुष्ट नहीं थे। वहीं से कुछ कटाव पैदा हुआ, पर यह बराबर उच्च स्तर पर रहा। पन्त की तरह उनकी अरविन्द और माँ की भक्ति मुझे अखरी। अभी सुना मृत्यु के दिन वह तीन बार तिरूपति (श्रीपति) के दर्शन कर चुके थे। इन्हीं से मिलते-जुलते विषयों पर पत्राचार रहा। मैं शायद कुछ अधिक कड़वा हो गया, उन्होंने पीड़ा व्यक्त की। मैंने पत्राचार बन्द कर दिया। जब ज्ञानपीठ पुरस्कार के बाद श्रीमती रमा जैन के घर पर पार्टी हुई, तो उन्होंने बातचीत के दौरान एकाएक कहा-''मेरा आपका कोई इकट्ठा फोटो नहीं है''-कहकर फोटोग्राफर को बुलाया। फोटो हुआ। पर वह फोटो मेरे कब्जे में नहीं है।

इसके बाद कई बार मिले, पर इधर वह मछली-भात खाने वर्षों से नहीं आए थे जैसा वह खैबरपास हॉस्टल में आते थे। एक दिन एकाएक टेलीफोन आया-''भगतसिंह की फांसी की तारीख क्या है? चन्द्रशेखर आजाद कब शहीद हुए।'' मैंने पूरा ब्यौरा दे दिया।

पता नहीं इसका उन्होंने क्या उपयोग किया। मृत्यु से चार या पाँच दिन पहले 'स्टार' के दयानन्द वर्मा, अमरनाथ वर्मा ने उनके साथ-साथ मुझे भी सम्मानित किया। वहीं अन्तिम दर्शन हुआ। उस दिन जो ट्राफी मिली थी, काफी भारी थी। उन्होंने कहा भारी है, मैंने कहा मुदगर के रूप में भाँजिए। वह मुस्कराए। इस प्रकार मुस्कराहट में अन्तिम दर्शन हुआ। इच्छा तो है दिनकर पर कुछ वृहत्तर लिखूँ, पर क्या मृत्यु मेरी इच्छा पूर्ण होने देगी?

कलम के धनी : दिनकर

श्री वी.वी. गिरि

तत्कालीन महामहिम राष्ट्रपति

सच पूछा जाय तो दिनकर जी हिन्दी के ही नहीं मगर भारत के एक महान कवि थे जिनकी कविता में, यदि मैं यह कहूँ कि भारतीय आत्मा बोल उठी, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वे कलम के धनी थे और क्या गद्य व पद्य, इन दोनों में उन्होंने कमाल की सफलता हासिल की। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास पर यदि हम दृष्टिपात करें तो दिनकर जी की विचारधारा का जो बड़ा असर उसी पर पड़ा है, वह हमें स्पष्ट दिखाई देता है। वे एक देश-भक्त कवि थे जिनकी कविताओं में राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के विभिन्न स्वर झंकृत हुए हैं। उनकी विचारधारा प्रगतिशील और उनकी भाषा व शैली प्रभावकारी थी। इसलिए कवि सम्मेलनों में, सभा समारोहों में, जहाँ कहीं वे बोलते, अपनी अमिट छाप छोड़ कर जाते। हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि के लिये उनका योगदान महत्वपूर्ण था। यह उचित ही था कि वे कुछ समय तक संसद के सदस्य रहे, विश्वविद्यालय के उपकुलपति और कई साहित्यिक संस्थाओं के सम्मानित सदस्य भी। दिनकर जी की रचनाएँ भारतीय साहित्य की अनमोल निधि हैं और आशा करता हूँ कि वे भारतीय लेखकों को सदैव प्रेरणा देती रहेंगी।

राष्ट्रकवि दिनकर : कुछ निजी संस्मरण

बनारसीदास चतुर्वेदी

कोई बयालीस वर्ष पहले की बात है। सितम्बर 1932 के आस-पास एक कविता 'विशाल भारत' में छपने के लिये प्राप्त हुई थी। कविता का शीर्षक था 'जीवन का संगीत' और कवि का नाम था रामधारी सिंह 'दिनकर'। पढ़कर तबीयत फड़क गई और अपने सहयोगियों-वर्माजी, धन्यकुमारजी तथा श्रीपति पाण्डे को भी इसे पढ़ने के लिए दिया। किसी अच्छी रचना के आने पर हमारा कार्यालय उत्सव मनाता था और चाय के प्याले ऑर्डर किए जाते थे। न जाने कितनी बार हम लोगों ने तब दिनकरजी की कविताओं पर हर्ष मनाया। जब उनकी प्रथम पुस्तक 'रेणुका' प्रकाशित हुई थी तब मैंने 'विशाल भारत' में एक नोट लिखा था कि ऐसी सुंदर पुस्तक के प्रकाशन पर हिंदी जगत को उत्सव मनाना चाहिए।

कविवर दिनकरजी की एक रचना सन् 1929 में हमारे यहाँ से वापस जा चुकी थी जिसका शीर्षक था 'वायसराय की घोषणा'। यह कविता दिनकरजी के किसी संग्रह में भी नहीं छपी, पर काशी के भारत कला भवन में वह सुरक्षित है।

दिनकरजी के वैराग्य का, जो शुरू में था, मूड बहुत दिन तक कायम नहीं रहा और वे पराधीनता के विपक्ष में और स्वाधीनता के पक्ष में तेजस्वितापूर्ण रचनाएँ एक के बाद एक लिखने लगे। मैने बन्धुवर दिनकरजी को तभी लिखा था कि आप दोनों काम साथ-साथ नहीं कर सकते। सरकारी नौकरी तथा राष्ट्रीय कविताएँ।

किसी परमार्थ की दृष्टि से नहीं, बल्कि विशुद्ध स्वार्थ की दृष्टि से मैं दिनकरजी की रचनाओं का प्रचारक बन गया। अपने पत्र के लिए मैं उनकी बढ़िया रचनाएँ चाहता था। वर्धा में मैंने दिनकरजी की पुस्तक 'रेणुका' बाबूजी को पढ़ने को दी थी और राजेंद्र बाबू जी से तभी उनकी चर्चा की थी। राजेंद्र बाबू ने भी यही कहा था कि दिनकर जी दोनों काम साथ-साथ नहीं कर सकेंगे। मैंने बाबूजी की यह उक्ति 'विशाल भारत' में छाप दी! उसे पढ़कर दिनकरजी के एक भक्त ने, जिनका नाम शायद श्री धनराज था, मुझे लिखा था-''क्या आप दिनकरजी की नौकरी छुड़ाना चाहते हैं?'' उनका भ्रम सर्वथा उचित ही था और दिनकरजी मेरे हृदय की इस आंतरिक इच्छा को भलीभाँति समझते थे। उन्होंने अपने एक लेख में लिखा भी था-''चतुर्वेदीजी के कथन का सारांश मैं खूब समझता था, किंतु मैं अपनी परिस्थितियों का दास था। न तो मैं नौकरी छोड़ सकता था और न क्रांतिकारी कविताओं से मुँह मोड़ने को तैयार था।'' आखिर देश के आजाद होने पर दिनकरजी ने नौकरी छोड़ दी थी।

सन 1952 में हम दोनों साथ-साथ राज्यसभा के सदस्य बने और तब दिनकरजी अक्सर मुझसे मजाक में कहा करते थे, ''आपने सन 1935 से रट लगा रक्खी थी कि नौकरी छोड़ दो, तो नौकरी मैंने आपकी ही प्रेरणा से छोड़ी है और संसद की सदस्यता से मेरी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती। आपने मुझे एक लाख रुपये के घाटे में डाला है। मै जब भी चाहूँ, आप पर एक लाख का दावा दायर कर सकता हूँ।''

दिनकरजी सब हिसाब लगाकर मुझे एक लाख का घाटा समझा देते थे, पर मैं पचहत्तर हजार से अधिक के लिए राजी नहीं होता था। मेरा दावा था कि नौकरी छोड़ने के बाद आपने जो साहित्य-सृष्टि की है, उसके पच्चीस हजार रुपये इस रकम में से काट दो। और हम लोगों का यह मजाक बराबर कायम रहा।

पर इससे भी अधिक गंभीर अपराध मुझसे और भी बन पड़ा। मैं तो पार्लियामेंट में बहुत ही कम जाता था, पर जब भी जाता तो दिनकरजी वहाँ दीख पड़ते। मैंने उनसे कहना शुरू किया, ''आप भी रेगिस्तान में खेती करते हैं? दोपहरी को विश्राम क्यों नहीं करते?'' यह बात मैंने इतनी बार दुहराई कि दिनकरजी ने उसे लिपिबद्ध कर दिया-

कहाँ फँसे हम सब बनारसीदास सदा कहते हैं,
जंगल छोड़ कभी योगी क्या शहरों में रहते हैं।
अगर आन ही फँसे तो समय नहीं खोओ रे।
जैसे मैं सोया रहता, तुम भी सुख से सोओ रे।

यही नहीं, दिनकरजी भी मेरा अनुकरण करने लगे और संसद में बहुत कम आने लगे। कुछ महीनों बाद जब मुलाकात हुई तो बोले, "आपने मेरी नौकरी तो छुड़वा ही दी थी, अब मंत्रित्व तथा उपमंत्रित्व भी मेरे हाथ से निकल गया। भला गैरहाजिर सदस्य को पद कैसे मिल सकता है? मुझे तो आपकी तरह राज्यसभा भवन में प्रवेश करने में डर लगने लगा है।"

दरअसल एक बार उनके मंत्री बनाए जाने की अफवाह जोरों से उठी थी, पर दिनकरजी मंत्री बनाए नहीं गए। अपनी डायरी में इस बात का जिक्र उन्होंने किया था। पर व्यक्तिगत तौर पर भले ही इससे दिनकरजी को घाटा हुआ हो, हिंदी जगत के लिए यह सौभाग्य की बात ही थी कि

दिनकर जैसे प्रतिभाशाली कवि तथा लेखक का सम्पूर्ण समय साहित्य को ही अर्पित हो गया।

मैं न तो कोई काव्य मर्मज्ञ हूँ और न मुझमें इतनी योग्यता है कि उनकी रचनाओं का उचित मूल्यांकन कर सकूँ। पर मानव चरित्र का अध्ययन मेरा प्रिय विषय रहा है और मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि दिनकरजी को जैसा संघर्षमय जीवन बिताना पड़ा वैसा हिंदी जगत में उनके जैसे प्रतिभाशाली किसी भी लेखक या कवि को शायद ही व्यतीत करना पड़ा हो। जब वे बहुत छोटी उम्र के बालक ही थे, उनके पिता जी का स्वर्गवास हो गया और जीवन के अंतिम दिनों पर उन पर वज्रपात हुआ। उनके ज्येष्ठ पुत्र का स्वर्गवास हो गया। अपने 28.08.1971 के पत्र में दिनकरजी ने मुझे लिखा था-

''आपने निन्यानबे के फेर में पड़ने से मुझे रोका था, पर वह तो और तेज हो गया। जिस परिस्थिति में पड़ गया हूँ, उसमें धन के बिना निस्तार नहीं है। अनाथ पोतियों का भार केदार पर डालकर मुक्त साँड बनकर घूमूँ, यह कायरता होगी। 24 साल की उम्र में जुए को अपनी गर्दन पर लिया था और 74 तक बचा तो गर्दन पर वही जुआ मौजूद रहेगा'।

हम लोगों का-समस्त हिंदी जगत का- यह दुर्भाग्य ही है कि दिनकरजी पैंसठ ही वर्ष की उम्र में चले गये। मेरा भानजा चिरंजीव मिथिलेष, जब उनसे आगरे में पिछली बार मिला था तो उन्होंने अपनी अस्वस्थता का उल्लेख करते हुए कहा था-मैं सत्तर तक नहीं चल सकता।''अत्यंत निर्बल होते हुए भी उन्होंने अपनी एक कविता मिथिलेष को टेप पर रेकार्ड करा दी थी। उनका यह अंतिम अहसान मुझ पर था।

दिनकरजी की मुझ पर जो श्रद्धा थी उसका अधिकारी मैं अपने को नहीं मानता। पिछले 40-45 वर्ष के निकट सम्बंध के बाद उनकी महायात्रा के अवसर पर जो हृदयवेधक स्मृतियाँ मेरे मस्तिष्क में उमड़ रही हैं, उनको लिपिबद्ध कर देना मेरे लिए अत्यंत ही कठिन है। मैंने उनसे बहुत सी आशाएँ बाँध रखी थीं और उन्होंने उनमें से कितनों ही की पूर्ति भी की थी।

सन 1935 में पटने के प्रांतीय सम्मेलन के अवसर पर जब दिनकरजी प्रथम दिन अत्यंत वर्षा के कारण नहीं पधार सके थे, मैंने कहा था, "यदि दिनकरजी अफ्रीका में उत्पन्न हुए होते तो मैं उनसे मिलने के लिए अफ्रीका पहुँचता।" सौभाग्य से दिनकरजी वहाँ पहुँच गए और मुझे बहुत खुशी हुई। पर मेरे उस कथन ने जहाँ उनके प्रंशसकों में कुछ वृद्धि की, उनके विरोधियों की भी संख्या बढ़ गयी।

दिनकरजी के काव्यपाठ पर मैं ही नहीं, सम्पूर्ण हिंदी जगत मुग्ध था। सबसे पहले जब वे 1935 में जापान के कवि नौगूची के स्वागत के अवसर पर कलकत्ता पधारे थे, तो मेरे निवास-स्थान पर अपनी 'हिमालय' नामक कविता उन्होंने सुनाई थी। उनकी वह मनोहर छटा अब भी मेरी आँखों के सामने है और उनकी बुलंद आवाज अब भी मेरे कानों में गूँज रही है।

एक स्मरणीय घटना का जिक्र दिनकरजी ने स्वयं ही किया है। वे लिखते हैं- एक बार चतुर्वेदी जी और मैं मोटर से मथुरा जा रहे थे। संयोग ऐसा हुआ कि रास्ते में मोटर खराब हो गयी। अतएव हम दोनों एक हलवाई की दुकान में बैठ गये और समय काटने को उन्हें मैं अपना 'रश्मिरथी' काव्य कोई दो घंटों तक सुनाता रहा। उस समय एक कुत्ता कहीं से आ गया और वह भी दो घंटों तक हमारे साथ बैठा रहा। तब से चतुर्वेदी जी को एक मसाला मिल गया। लोग जब भी मुझसे कविता पढ़ने को कहते, चतुर्वेदी जी कह उठते, "भाई हम और तुम काफी नहीं, श्रोता के रूप में एक कुत्ते का भी हाजिर रहना जरूरी है, तभी दिनकरजी मूड में आते हैं"।

जब हम दोनों मई सन् 1952 में पार्लियामेंट में पहुँचे तो सितम्बर में मैनें डॉक्टर केसकर साहब को एक पत्र में लिखा था, "क्या ही अच्छा हो यदि हिंदी के सुकवियों की कविताओं को टेप पर रेकार्ड करा दिया जाए। उदाहरण के लिए कविवर दिनकर तो एक अद्‌भुत करिश्मा हैं। अपनी सर्वश्रेष्ठ कविताओं को इतने मधुर स्वर तथा बुलंद आवाज में सुनाने वाला शायद ही कोई दूसरा हो।" उस पत्र की नकल मेरे पास अब भी मौजूद है। खेद है कि सरकार ने तब मेरी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया था। आगे चलकर जब रेडियो विभाग श्री जे.सी. माथुर साहब के अधीन आया तो उन्होंने मेरी प्रार्थना पर कितने ही क्रांतिकारियों के अनुभव टेप पर रेकार्ड करवा लिये थे। हमें पता नहीं कि दिनकरजी की कितनी कविताएँ रेकार्ड की जा सकीं। जितनी भी की गईं हों, उनके स्थायित्व का प्रबंध शीघ्रातिशीघ्र हो जाना चाहिए। मेरा विश्वास है कि मॉरीशस तथा रूस के हिंदी प्रेमी भी उनके टेप रेकार्डों की प्रतियाँ सुरक्षित रखना पसंद करेंगे।

एक बात और। दिनकरजी ने गद्य तथा पद्य में इतनी महत्वपूर्ण रचनाएँ की हैं कि वे उनकी कीर्ति को चिरस्थायी बनाने में समर्थ होंगी। पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की स्मृति रक्षा के लिए उनका एक विस्तृत जीवन चरित्र नितांत आवश्यक है। यद्यपि दिनकरजी का व्यक्तित्व अखिल भारतीय था, तथापि बिहार राज्य का उनके प्रति विशेष कर्त्तव्य है। वह दिनकरजी की स्मृति रक्षा के लिए पाँच हजार रुपये प्रतिवर्ष का एक पुरस्कार घोषित कर सकती है और उनके जीवन चरित्र लिखवाने के लिए दस पंद्रह हजार रुपये की व्यवस्था भी कर सकती है। ज्ञानपीठ काशी के लिए राष्ट्रकवि दिनकर स्मृतिग्रंथ निकाल देना कोई मुश्किल काम नहीं। वैसे मुझे आशंका है कि मेरा यह कथन अरण्यरोदन ही सिद्ध होगा। क्योंकि जो हिंदी जगत अमर शहीद गणेश शंकर जी विद्यार्थी की स्मृति रक्षा के लिए कुछ भी नहीं कर सका और जो अपने सेवकों को विस्मृति के गड्ढे में धकेलेने में ही गौरव का अनुभव करता है, उससे अधिक आशा क्यों की जाय ?

पुराने और नए के सेतु सदृश

अज्ञेय

छायावाद के बाद के युग में जिन दो-तीन कवि-व्यक्तियों की छाप हिन्दी-जगत पर पड़ी, दिनकर उनमें प्रमुख थे। युवतर कवि-समुदाय पर वह छाप उतनी स्पष्ट कदाचित न हो पर हिन्दी केवल कवि-जगत नहीं है। पाठक समुदाय भी है और साधारण समाज भी है। दिनकर काव्य छोटे स्कूली दर्जों से लेकर विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षाओं तक पढ़ाया जाता है- 'पढ़ाने के लिए चुना जाता है'- ही सही, इस बात का महत्व कम नहीं है, न इसी बात का कि उनके पढ़ने वालों और प्रशंसकों में सभी वर्गों और स्तरों के लोग भी रहे और हैं। कविता को व्यापकतर सामाजिक प्रतिष्ठा ही सही, दिलाने का जो काम दिनकर ने किया, वह उन अन्य दो-तीन कवि-व्यक्तित्वों ने नहीं किया जिनकी छाप का उल्लेख हमने किया है। वहाँ दिनकर अकेले थे। उनकी राष्ट्रीय चेतना और व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि, उनकी वाणी का ओज और काव्य भाषा के तत्वों पर बल, उनका सात्विक मूल्यों का आग्रह उन्हें पारम्परिक रीति से जोड़े रखता था, परिवर्तन के लिए उनका अधैर्य, बुराइयों के प्रति उनका आक्रोश और हाँ, जीवन की नेमतों के प्रति उनका आकर्षण उन्हें नई रीति से जोड़ता था। इस प्रकार उनका काव्य पुराने और नये के बीच एक सेतु था, उनके उठ जाने से वह सेतु टूट गया है। यह भी कहा जा सकता है कि वैसा दूसरा व्यक्तित्व सामने आने की सम्भावना नहीं है। यह बात जितनी उनके व्यक्तित्व की स्तुति है, उतनी ही समकालीन समाज परिस्थिति पर टिप्पणी भी।

'दिनमान', 5 मई 1974

एक और सूर्यास्त

डॉ. बृजलाल वर्मा

दिनकर ने हिन्दी की आधुनिक काव्यधारा में अपनी काव्यतरणी को मनचाहे मोड़ दिये हैं। कभी भी उसे प्रवाहपतित नहीं होने दिया। इसीलिए रहस्यवाद, छायावाद, प्रयोगवाद, प्रयोगवाद की इयत्ताओं में उनका काव्य कहीं नहीं बँधा और न उनके काव्य में किसी प्रकार की प्रतिबद्धता ही दिखाई पड़ती है। उन्होंने अपनी काव्य शैली के राजमार्ग के निर्माण हेतु स्वयं कंकड़ पत्थर डाले हैं, किसी बनी बनाई लीक पर वे नहीं चले, इसलिए कि वे शायर थे, इसलिए भी कि वे कायर नहीं थे।

चिन्तन की दार्शनिकता तथा कल्पना की भाव-प्रवणता जब दिनकरजी की लेखनी अथवा वाणी से निर्झरित होती थी तो पाठक और श्रोता विभोर एवं सराबोर हो जाते थे। काव्यात्मक प्रगल्भता का ऐसा मनोरम वैभव तथा उसमें ध्वनित दिनकरजी के आत्मविश्वास का ऐसा गौरव आज दुर्लभ है। लम्बा छरहरा कद, प्रलम्ब बाहु, गौरवर्ण, स्निग्ध प्रखर नेत्र, खादी की धोती और कुरता, कभी-कभी गले में श्वेत दुकूल की पट्टी, कभी मुक्त हास, कभी गम्भीर मुद्रा, हिन्दी के तत्सम शब्दों का बिहारी उच्चारण (प्रायः 'श' को 'स' की भाँति उच्चारित करना), अंग्रेजी और संस्कृत के ज्ञान की गहराई में आसीन उनकी कविता का दार्शनिक परिधान; यह कुछ मिलाकर हर व्यक्ति के लिये मनहर बन जाते थे। व्यक्तित्व के बहिरंग आयाम में इतना अवकाश नहीं था कि वह उनके अंतस की असीम मेधा व प्रतिभा को अपने में समाहित कर पाता। दिनकरजी की बुद्धि का विद्युत दाम सबको चौंधिया देता था। दिनकरजी का स्वाभिमान उनके विनय का प्रहरी था और उनका विनय उनके स्वाभिमान का कठोर नियंत्रक।

दिनकर अस्त हो गया, परन्तु उसकी दीप्ति ज्योति शेष है, जो निश्चय ही दीर्घजीवी है।

दैनिक जागरण, कानपुर, 5 मई 1974

हिन्दी के प्रबल समर्थक दिनकर जी

अशोक जी

कलकत्ते के 'विशाल भारत' में, सन् 1932 के करीब हिन्दी के तीन ओजस्वी कवियों पर एक लेख निकला था। जहाँ तक याद पड़ता है; ये थे दिनकर, मिलिन्द और सोहनलाल द्विवेदी। द्विवेदीजी की प्रसिद्ध कविता 'राणा प्रताप', मिलिन्द की 'उगता हुआ राष्ट्र' और दिनकर की गांधी जी के ऊपर एक कविता लेख में उद्धृत की गयी थी, जिसकी प्रारंभिक पंक्ति थी- चक्रपाणिता तज धोने को पाप पंक के परनाले ...विप्लव के झाड़ूवाले। उस समय गांधी जी ने हरिजन उद्धार का आयोजन छेड़ रखा था, इसलिए उनके 'झाड़ूवाले' के रूप में अवतार की कल्पना मौजूँ थी, किन्तु सोहनलाल और मिलिन्द की कविताओं के मुकाबले उस समय मुझे दिनकर की कविता हलकी लगी।

किन्तु दिनकर की प्रतिभा दिन पर दिन चमकती गयी और कालक्रम में वे मिलिन्द और द्विवेदी से कहीं आगे निकल गए। कारणों में मैं न जाऊँगा, किंतु मेरे मत से दिनकर की विशेषता यह थी कि हिन्दी के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवियों की भाँति वे बासी नहीं पड़े। शायद इसका कारण उनकी सतत साधना थी। दिनकर प्रायः अस्त होने तक मध्याह्न पर ही रहे। दिनकर जैसा पढ़नेवाला साहित्यकार मैंने कम ही देखा। वे हिन्दी के उन स्वनामधन्य साहित्यकारों में न थे जो पढ़ने से इस कारण कतराते हैं कि इससे उनकी मौलिकता पर जरब लगेगा।

दिनकर से मेरा परिचय बढ़ा, मेरे काशी के 'संसार' के संपादन काल में। उन दिनों (1940 से 50 तक) काशी की साहित्यिक गतिविधियाँ काफी तेजी पर थीं। रायकृष्ण दास उन दिनों काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सर्वेसर्वा थे और उन्होंने सभा में साहित्य, संगीत और कला की त्रिवेणी बहा दी। काशी में कोई भी साहित्यकार व कलाकार आता तो राय साहब उसे सभा में अवश्य बुलाते और गोष्ठी करते। अपने घर व भारतेन्दु भवन में भी वे इनकी पधरई करते। भारतेन्दु के कृति वंशज डॉ. मोतीचन्द्र और उनके अनुज काशी के प्रमुख राष्ट्रकर्मी चौधरी लक्ष्मीचन्द्र, भारतेन्दु की गुणग्राहकता और सहृदयता की परम्परा का निर्वाह कर रहे थे। चौधरी लक्ष्मीचन्द्र कर्मठता की मूर्ति थे और राय साहब के दाहिने हाथ थे।

राय साहब की विशेषता थी, और है, उदीयमान प्रतिभा को पूरा-पूरा प्रोत्साहन देना। दिनकर, यशपाल, अज्ञेय, नरेन्द्र शर्मा उनकी सहृदयता के साक्षी हैं। राय साहब का घर दिनकर जी का काशी में स्थायी डेरा बन गया। उनके 'कुरुक्षेत्र' काव्य का अवतरण (विमोचन नहीं) कराने के लिए उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक के घर पर विशेष गोष्ठी की। यह भी उनकी छोटों को आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति का परिचायक था कि इस गोष्ठी के आयोजन के लिए उन्होंने मुझे चुना। हाँ, यह मैं कहना भूल गया कि इस समय काशी में एक और छोटी-सी संस्था साहित्य क्षेत्र में बड़ी सक्रिय थी- यह थी प्रसाद परिषद्। संस्था के सदस्य 30 से कम ही थे जिनमें अधिकांश युवा थे। इस पर रायकृष्ण दास, सम्पूर्णानन्द, श्रीप्रकाश और नंददुलारे वाजपेयी आदि का भी वरदहस्त था। यह गोष्ठी इसी परिषद् की थी और इसमें जहाँ तक मुझे स्मरण है, सम्पादक-प्रवर पराड़कर जी के अतिरिक्त आचार्य नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानन्द जी तथा श्रीप्रकाश जी मौजूद थे। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' के ओजमय पाठ से पूरी गोष्ठी को मंत्र-मुग्ध कर लिया, विशेषकर युधिष्ठिर की ग्लानि का अंश बड़ा ही मार्मिक था। द्वितीय विश्वयुद्ध अभी समाप्त ही हुआ था और संदर्भ में 'कुरुक्षेत्र' की रचना बड़ी सामयिक थी। इसका यह अर्थ नहीं कि वह केवल सामयिक थी, उसका स्थायी मूल्य है।

दिनकर की समय के साथ चलने की क्षमता चीन-युद्ध के समय 'परशुराम की प्रतीक्षा' में भी व्यक्त हुई। कहना अत्युक्ति न होगी कि दिनकर राष्ट्र के मूड को पकड़ लेते थे और उनकी वाणी में राष्ट्र की भावना मुखर हो उठती थी।

दिनकर के व्यक्तित्व का एक और पहलू, उनके राज्य सभा की सदस्यता के समय प्रकट हुआ। जिस समय दिनकर दिल्ली आये, उस समय वहाँ मैथिलीशरण गुप्त, नवीन, सेठ गोविन्ददास जैसे साहित्य महारथी मौजूद थे। अपने व्यक्तित्व के बल पर दिनकर इस मण्डली में सूर्य की भाँति चमकते थे।

उनका निश्छल प्रेम और प्रोत्साहन उनको आगे बढ़ाने में सहायक हुआ। अपने ओजस्वी व्यक्तित्व के कारण दिनकर ने बहुत शीघ्र जवाहर लाल नेहरू का ध्यान आकृष्ट कर लिया। इसके बाद पंडितजी ने दिनकर को पोलैंड भारत के सांस्कृतिक प्रतिनिधि के रूप में भेजा। दिनकर की पैनी दृष्टि का यह प्रमाण है कि पोलैंड में कम्युनिस्ट व्यवस्था की फौलादी जकड़ से छूटने के लिए छटपटाते विद्रोही स्वर को उन्होंने पहचाना और पोलैंड से लौटकर उन्होंने वहाँ की साहित्यिक और सांस्कृतिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक स्थिति की नयी प्रवृत्तियों की भी चर्चा की। थोड़ी ही दिनों के बाद पोलैंड में व्यवस्था के विरुद्ध विस्फोट हुआ और दिनकर की पेशीनगोई सही उत्तरी।

कुछ लोगों ने दिनकर पर आक्षेप किया किंतु दिनकर की हिन्दी निष्ठा कितनी गहरी थी और हिन्दी पर अनुचित प्रहार के प्रतिरोध में वे कितने तत्पर थे, इसका प्रमाण शीघ्र ही मिला। इस प्रकरण से मेरा व्यक्तिगत संबंध है और पहली बार इससे सम्बन्धित बातों को मैं प्रकाश में ला रहा हूँ।

सन् 1962 के चुनाव में डा. केसकर के हार जाने के बाद श्री गोपाल रेड्डी केन्द्रीय सूचना प्रसारण मंत्रालय के मंत्री नियुक्त हुए। इस नियुक्ति का अनुमोदन राजधानी के, विशेषकर संसद के हिन्दी-प्रेमी सदस्यों ने किया था। डा. केसकर हिन्दी प्रेम के लिए प्रख्यात थे और नेहरू जी भी चाहते थे कि उनके स्थान पर हिन्दी का कोई हितैषी ही मंत्री नियुक्त हो, इसलिए उन्होंने इस नियुक्ति के विषय में संसद के हिन्दी नेताओं के मन की टोह ली थी। किंतु शीघ्र ही पता चल गया कि श्री गोपाल रेड्डी को पहचानने में हिन्दी वालों ने गहरी भूल की थी। मंत्री होते ही श्री रेड्डी ने हिन्दी-उर्दू को एक करने के नाम पर हिन्दी का उर्दूकरण आरंभ कर दिया। उनकी इस नीति का जिन अधिकारियों ने विरोध किया, वे उनके कोप के शिकार हुए। उन्होंने ठाकुर जयदेव सिंह और श्री रामचन्द्र टण्डन जैसे योग्य व्यक्तियों को निकाल बाहर किया। श्री नरेन्द्र शर्मा तथा मोहन सिंह सेंगर पर भी उनकी कुदृष्टि पड़ी। वह हिन्दी समर्थकों को 'हिन्दी-फैनेटिक' कहकर व्यंग्य किया करते थे।

इन पंक्तियों का लेखक उस समय केन्द्रीय सूचना विभाग का अधिकारी था। अधिकारियों की एक बैठक में श्री रेड्डी ने अपनी उर्दूकरण नीति का समर्थन करते हुए 'हिन्दी-फैनेटिक' लोगों पर आक्रोश व्यक्त किया। माननीय संसद सदस्यों को उनके पीठ पीछे गाली देने का प्रतिवाद इस जन ने किया और इस कारण उनके रोष का लक्ष्य हुआ। उस समय उनके उपमंत्री और उर्दूकरण में सहायक दिल्ली के लाला श्यामनाथ थे, जो उर्दू और ह्रासोन्मुख दिल्ली की मुगलिया कल्चर के हामी होने के कारण मुगलिया अग्रवाल कहे जाते थे। उस समय श्री रेड्डी की कुचेष्टा का डटकर विरोध करने वाले संसद सदस्यों में दिनकर जी अग्रणी थे। तर्क और तथ्य प्रस्तुत करने में उन्होंने मेरी सहायता ली, पर उनकी ओजस्वी वाणी के बिना तर्क और तथ्य व्यर्थ होते। दिनकर जी के नेतृत्व में संसद के हिन्दी-प्रेमी सदस्यों का जो प्रबल विरोध संगठित हुआ उससे नेहरू जी भी विचलित हुए और उन्होंने रेडियो की हिन्दी नीति की समीक्षा करने के लिए एक समिति नियुक्त की। हिन्दी के एक स्वनामधन्य कवि, जो श्री रेड्डी की हिन्दी-विरोधी नीति की खिल्ली उड़ाया करते थे, किस प्रकार बाद में सलाहकार नियुक्त हाने पर पलटी खा गये, उसकी अलग कहानी है। किंतु श्री रेड्डी अधिक खुराफात कर सकें, इसके पूर्व ही कामराज योजना में उनका पत्ता कट गया और उनके स्थान पर हिन्दी के परम हितैषी श्री राजबहादुर नियुक्त हुए। इस परिणति का श्रेय सबसे अधिक यदि किसी को दिया जा सकता है तो दिनकर जी को; यद्यपि लोगों का ऐसा संदेह है कि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की ही भाँति उनको भी हिन्दी के इस प्रबल समर्थन के कारण मंत्री पद से वंचित रहना पड़ा।

दिनकर जी से मेरा जो प्रगाढ़ प्रेम था, उसकी चर्चा करना यहाँ उचित न होगा। मैं कृतज्ञतापूर्वक इस बात को स्मरण करूँगा कि उन्होंने हिन्दी के एक प्रमुख दैनिक के सम्पादक का पद मुझे ऑफर किया और इसके बाद देश के एक प्रमुख पत्र-प्रकाशक को सुझाया कि मैं उनके नये निकलने वाले पत्र का सम्पादक बनाया जाऊँ। भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार के रूप में दिनकर जी ने अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में सरकारी कामकाज में हिन्दी को बढ़ाने की चेष्टा की। इस विषय में भी वे बराबर मुझे स्मरण करते रहे, यद्यपि परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल थीं कि अन्त में उनको हार माननी पड़ी। इसी समय उनके ऊपर उनके ज्येष्ठ पुत्र की अकाल मृत्यु का वज्राघात हुआ, जिससे उनकी कच्ची गृहस्थी का भार उनके कंधों पर आ पड़ा। दिनकर का स्वर्णशैलाभ शरीर रोग के आक्रमण से अंदर से खोखला हो चुका था। मन भी उनका विषण्ण हो उठा था। इसी समय एक बार कुशल-क्षेम पूछने पर उन्होंने कहा कि 'मित्र मैं हारी हुई लड़ाई लड़ रहा हूँ। डाइबिटीज और एन्जाइना, दोनों ही मुझे मृत्यु की ओर ढकेल रहे हैं।' इसके बाद दिनकर बहुत दिन न जिये।

(श्री अशोक जी 1974, में 'स्वतंत्र भारत' के संपादक थे)

ऊर्मिकाव्यात्मकता

उमाशंकर जोशी

दिनकरजी का प्रथम दर्शन स्वराज मिलने के बाद बम्बई में दद्दा (मैथिलीशरण गुप्त) और रायकृष्णदास के साथ हुआ था। दद्दा के सम्मान के प्रसंग पर हम सब उपस्थित थे। दिनकरजी की ऊँची गौर आकृति, दाँत के बीच स्वभाव के भोलेपन की सूचक जगह, आँखों में कुछ ढीठताभरी चमक -उनके व्यक्तित्व से तुरन्त मैं आकर्षित हुआ।

सुनने का मौका मिला अहमदाबाद में। कॉलेज के छात्रों के समक्ष उन्होंने 'रश्मिरथी' के बड़े हिस्से का पाठ किया।उस समय उनकी कविता की लाक्षणिक, ओजस्विनी और ओजवती शैली का परिचय हुआ।

हम घर पर बैठे थे। उनकी कालीयमर्दन विषयक कृति में कृष्ण कालीय को 'तू तान-तान...' कहकर फणामण्डल को कितना ही फैलाने को आह्वान देते हैं। कुछ साल पहले बंगलौर में कन्नड़ कवि पुट्टप्पा के घर पर सुने हुए उनके गीत की बात मैं कर रहा था। पुट्टप्पा का कालीय बोलता है, "कृष्ण नृत्य करो, और नृत्य करो, पदघात से मेरी अहंता को विगलित करो।" भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में कई एक से विषय पाए जाते हैं, लेकिन प्रस्तुतीकरण में जोर देने के ढंग में रुचिकर वैभिन्य पाया जाता है।

कई गोष्ठियों में, खास करके साहित्य अकादमी की, दिनकर जी से मिलने का अवसर मिलता था। उनसे ज्यादा परिचय हुआ, कहने में संकोच होता है, विदेश में। 1961 के अक्टूबर में पाँच भारतीय लेखक सोवियत रूस के अतिथि बने। उसमें हम दोनों थे। उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं था। विदेश में भी प्रभात में अपनी पूजा वगैरह नियमित करते रहते थे। उन तीन सप्ताह का खास स्मरण चित्त में रह गया है। मोटर से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने-आने के समय में दिनकर जी के मुँह से सैकड़ों उर्दू कविता की पंक्तियाँ मुझे सुनने को मिलीं। हिन्दी के एक अग्रिम कवि के माध्यम से उर्दू के समृद्ध काव्य-भंडार का कुछ आत्मीय-सा परिचय मिला। दिनकर जी स्पष्ट वक्ता थे और बातचीत में कभी-कभी राष्ट्र की घटनाओं की आलोचना तीक्ष्ण दृष्टि से करते रहते थे। दिनकर जी अपनी ऊँचाई पर मगरूर नहीं थे। वे इतिहास की विभूतियों का स्मरण कराने लगते थे-नेपोलियन देखो, पंडित जवाहर लाल देखो। (मैंने सुर मिलाया, कन्हैयालाल मुंशी देखो।)

बातचीत की अनिर्बन्ध आत्मीयता में उनके व्यक्तित्व के मुख्य पहलू आलोकित हो जाते थे। एक बार कुटुम्ब के बारे में बात निकली। अपने एक बड़े पुत्र के बारे में उनके मुँह से जो सरल उद्‌गार निकले, बहुत हृदयस्पर्शी थे-"हमारा ठीक नहीं जम पाया। लेकिन आखिर वह मेरे पास आया।" उस क्षण उनके चेहरे पर जो यातना और सन्तोष से मिश्रित प्रेमदीप्ति थी, मैं कभी भूल नहीं सकता। दिनकर जी का अन्तिम पत्र मेरे पास पौत्री के विवाह के अवसर पर शुभेच्छा -संदेश के रूप में लिखा हुआ है। आधुनिक हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न छायावादी कवियों के बाद आने पर भी दिनकर जी ने अपनी लाक्षणिक शक्ति से अपना अनोखापन दिखा दिया। कथनात्मक और नाट्यात्मक कविता का क्षेत्र अपनाते हुए भी उनकी सिद्धि के मूल में उनकी एक विशिष्ट ऊर्मिकाव्यात्मकता दिखाई देती है, जो हिन्दी भाषा के, बल्कि भारतीय कविता के कीर्तिमंदिर में उनके लिए हमेशा का एक अपना स्थान बनाये रखेगी।

(लेखक को ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ था)

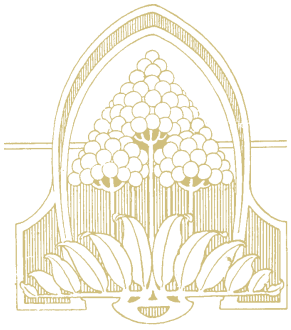

दिनकर : जाने के बाद

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी

दिनकर जी अब नहीं रहे। विश्वास करने को जी नहीं चाहता, पर यही सत्य है। वे सही अर्थों में दिनकर थे- तेजःपुंज! लगभग पैंतालीस वर्ष पहले मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य मिला था। तब से उनकी मैत्री पाने का सौभाग्य रहा है। यह मैत्री निरन्तर प्रगाढ़ होती गई। उनके समान तेजस्वी क्वचित् कदाचित् ही धरती पर आते हैं। वे जितने उच्च कोटि के कवि थे उतने ही बड़े विचारक और वाग्मी भी। गद्य और पद्य दोनों के वे सव्यसाची थे। भगवान् ने उन्हें जैसी वाणी की सम्पत्ति दी थी वैसा ही चारुदर्शन भव्य रूप दिया था। वह ओजस्वी वाणी और भव्य रूप इस नश्वर जगत् से हमेशा के लिए चला गया।

इतना सहज प्रेममय उनका हृदय था कि कभी-कभी उनकी सरलता पर आश्चर्य होता था, पर अन्याय देखकर वे दीपशिखा के समान जल उठते थे। हिन्दी के विरुद्ध षड्यन्त्रों से वे सचमुच जल उठते थे। मुझे याद है कि एक बार भाषा आयोग में एक श्रद्धेय विद्वान् की अनुचित बातों का विरोध करने के लिए कितने प्रदीप्त हो उठे थे। विरोध मैंने भी किया था पर दिनकर तो एकदम अग्निशिखा हो उठे थे। लेकिन उसके पहले भी और बाद में भी वे श्रद्धेय को श्रद्धा देने में रंचमात्र नहीं झिझके थे। सच तो यह है कि उन्हें बाद में अपनी कही बातों के लिए पश्चाताप भी हुआ था। उनका हृदय 'मृदु प्रकृत्या चलसारमेव च' का प्रत्यक्ष रूप था। कभी आवेग में आकर वे कड़ा बोल जाते थे तो बाद में दुखी भी होते थे। एक प्रसंग में वे बाद में इतने खिन्न हुए कि अपनी डायरी में लिखा था-

हे नेदिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे दविष्ठ, तुमको प्रणाम है, हे क्षोदिष्ठ तुमको प्रणाम है। हे महिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे वर्षिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे जोविष्ठ, तुमको प्रणाम है। कल सुबह जो दुर्वचन मुख से निकला, उसका परिताप आज सारा दिन जलाता रहा। मरने के करीब आ गया हूँ किन्तु, वाणी का संयम अब भी अधूरा है। क्यों ऐसी बात बोलना, जिसके लिए अपने आपको इतना अधिक दण्ड देना पड़े?

दिनकर ब्रिटिश शासनकाल में सरकारी नौकर थे। परन्तु नौकरी उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति में कभी बाधक नहीं बनी। वे उस समय भी अन्याय के विरुद्ध बोलने की शक्ति रखते थे और बाद में स्वाधीनता के समय भी सरकारी नौकरी करते समय हमेशा उन बातों का डटकर विरोध करते थे जिन्हें अनुचित समझते थे। एक धारणा बन गई थी कि 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखकर वे सरकार के कोप भाजन बने थे। इस धारणा के बारे में मैं कुछ कह नहीं सकता परन्तु मैंने स्वयं देखा है कि एक शक्तिशाली की हिंदी-विरोधी नीति का कड़ा विरोध उन्होंने किया था जिसकी शिकायत पंडित जी तक पहुँचाई गई थी। हिन्दी के प्रश्न पर वे सदा दृढ़ रहे पर उनके तर्क सदा कटुता से दूर और यथार्थवादी होते थे। वे अहिंदी भाषी जनता में भी बहुत लोकप्रिय थे क्योंकि उनका हिंदी प्रेम दूसरों की अपनी मातृभाषा के प्रति श्रद्धा और प्रेम का विरोधी नहीं था, बल्कि प्रेरक था।

यहाँ हिंदी के बारे में जो कहा गया, उससे यही नहीं समझना चाहिए कि वे केवल हिन्दी के प्रति किए गए अन्यायों के विरोध में ही अपनी शक्ति लगा देते थे। उनका विरोध उन सब नीतियों से था जो उन्हें अनुचित लगती थीं। कभी-कभी मुझे उनकी मान्यताओं का विरोध करने का अवसर भी मिला था- व्यक्तिगत रूप से। परन्तु मैंने सदा पाया कि उनका मत तर्कपूर्ण सुचिन्तित होता था। उनके मत से सहमत न होने वाला भी उनके विचारों की सच्चाई से प्रभावित होता था।

अवस्था में वे मुझसे थोड़े ही छोटे थे, पर आदर सदा बड़े भाई का देते थे। उनका हृदय बहुत शिष्ट और उदार था। कर्तव्यवश कड़ी बात कह जाते थे पर सदा कटुता धो देने को तत्पर रहते थे। भाषा आयोग में एक-बार मुझे लगा कि वे सीमा का अतिक्रमण कर गए हैं। यद्यपि मुझे वे सम्मान देते थे और हमारे सम्बन्ध इतने मीठे थे कि किसी बात पर उन्हें कुछ कह सकने की मुझे पूरी स्वतंत्रता थी। पर मेरे मन में उनके प्रति

बहुत सम्मान का भाव था इसलिए कुछ कहने के पूर्व में कई प्रकार से बात को हल्की बना देने की तैयारी कर लेता था। इंगित अवश्य समझ लेते हैं, ऐसा मेरा विश्वास था। उस दिन शाम को मैं उनसे कहना चाहता था कि वे कुछ अनुचित कह गए हैं। कैसे कहूँ यही सोच रहा था। वे जब मिले तो बहुत प्रसन्न थे। मुझसे आते ही पूछा क्या सोच रहे हैं। मैंने कहा- *हिसाब लगा रहा हूँ।* प्रसन्न भाव से उन्होंने पूछा, *काहे का हिसाब?* मैंने कहा कि *भर्तृहरि जी ने कहा कि जब आदमी विवेक से भ्रष्ट हो जाता है तो उसका शतमुख विनिपात होता है। मैंने हिसाब लगाकर देखा है कि मेरा अड़तीस मुख विनिपात हो चुका है, आपका कितना मुख हुआ है? -मेरा अनुमान है कि अभी एकमुख ही हुआ है। या शायद उतना भी न हुआ हो।* दिनकर जी ठठाकर हँसे। बोले, *दूसरी ही बात ठीक है। मेरे हिस्से विधाता ने विवेक दिया ही नहीं। इसलिए हिसाब लगाने की जरूरत ही नहीं। हो तब न भ्रष्ट होने का प्रश्न उठेगा।* मगर वे इशारा समझ गए। उनका चेहरा वैसा ही सहज-प्रसन्न बना रहा। उन्होंने सहज भाव से स्वीकार किया कि उनसे सचमुच गलती हो गई थी। हाय, वह उल्लसित सहज मुख अब देखने को नहीं मिलेगा।

उन्होंने हिन्दी साहित्य को दो दर्जन से अधिक अमूल्य ग्रंथ दिए हैं जिनमें आधे गद्य हैं। 'उर्वशी', मेरी दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ देन है। स्वयं दिनकर जी ने कहीं कहा है कि उन्हें ऐसा लगता है कि काव्य पहले से लिखा पड़ा था, उन्हें मिल गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वयं कवि इसे दैवी प्रेरणा का ग्रंथ मानता है। दिनकर जी का तत्व-चिन्तन इस काव्य में सशक्त भाषा में सहज प्रवाह के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने कहा है- काम के प्रति संतों की दृष्टि निषेधात्मक रही है। शारीरिक कृत्य का तो निषेध है ही, सन्त मानस चित्रों का भी निषेध सिखाते हैं। इससे शरीर और मन की एकता का भंजन होता है। वास्तव में शरीर का ही एक अंश है। ... ईश्वर और प्रकृति, इन दोनों के बीच प्रतियोगिता नहीं है कि मनुष्य एक को ग्रहण करे और दूसरे को त्याग दे।... शरीर का काम, संयत काम, सामाजिक मर्यादा को मानकर एक घाट पर बहने वाला काम पाप नहीं है। पाप वह तब हो जाता है, जब काम मन को अपने वश में कर लेता है और मन शरीर को हाँकने लगता है, जबर्दस्ती हाँकने लगता है। तन का काम अमृत है, लेकिन मन का काम गरल है।

आनन्दातिरेक प्रकृति का धर्म होना चाहिए। जब यह आनन्द जीवन के अन्य क्षेत्रों में नहीं मिलता, तब मनुष्य बलपूर्वक, इच्छापूर्वक उसकी खोज काम में करने लगता है। यही पाप है।...उर्वशी में जितना कहा गया है, उससे शायद कुछ अधिक कहा जाना चाहिए था। लेकिन उस अकथ्य की भाषा उर्वशी के पास नहीं है, क्योंकि वह मेरे पास नहीं है। मैं सिर्फ यह इंगित करना चाहता था कि प्रकृत जीवन बिताकर भी आदमी सन्त हो सकता है। अगर आपको मुझ पर विश्वास नहीं हो, तो कनफ्यूसियस का विश्वास कीजिए। वे भी मानते थे कि जो और कुछ न करके, प्रकृत जीवन बिताता है, वह भी सन्त है।

मस्ती दिनकर जी का स्वभाव भी थी, जिन्दगी भी। आनन्दोल्लास से वे सदा प्रफुल्ल दिखाई देते थे। बीमारी के कारण अन्तिम वयस में उनका देवोपम शरीर क्षीण होने लगा था। तिस पर वाम विधाता ने उनके ऊपर पुत्रशोक का दारुण आघात दिया। पारिवारिक चिन्ताओं से वे परेशान लगने लगे थे। कभी-कभी वे निराश स्वर में बोलने लगते थे। इधर जब-जब उनसे मिलने का अवसर मिला वे चिन्तित ही दिखे। भीतर से टूटने लगे थे, पर आनन्द का उत्स कभी भी नहीं सूखा। दिनकर जी के समान वाग्मी भी कम ही होते हैं। साधारण तथ्यों से भी वे बड़ा संदेश प्रेषण कर देते थे। उनकी तेजस्विता सदा विद्यमान रहती थी। उनके अभाव की पूर्ति करने वाला कोई नहीं दिखाई देता। हिन्दी भाषा उन्हें पाकर धन्य हुई थी, खोकर शोचनीय हो गई है।

दिनकर अस्त हो गया। जिन्होंने भेजा था, उन्होंने ही बुला लिया। क्या कहा जाय!

■■■

आग से गुजरना

बालस्वरूप राही

दिनकरजी की कविताओं में विचारों और विचारमयी अनुभूतियों की आँधी है। आँधी नहीं, लपट। उनकी कविताएँ पढ़ना आग में से गुजरने जैसा काम है। धीरे-धीरे यह आग धमनियों में पहुँच जाती है और भीतर कुछ खौलता हुआ महसूस होता है। और आप इस बुनियादी सवाल के सामने जा खड़े होते हैं, 'पापी कौन? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला? या कि न्याय खोजते...?' अब कैसे यह तय किया जा सकता है कि यह सवाल आज का है या कल का, सामयिक है कि सनातन? इसीलिए तो महसूस होता है कि कुछ कविताएँ ऐसी होती हैं, जो हमें परम्परा और समकालीनता के झगड़े को भूल जाने पर बाध्य कर देती हैं।

उन्होंने परवर्ती पीढ़ियों पर अपने कवित्व और व्यक्तित्व की गहरी छाप छोड़ी। वह पुरुष कविता के अन्यतम कवि थे। स्त्रैण कविताओं के बीच घिरे होकर भी उन्होंने पुरुषत्व की कविताएँ लिखीं; अतः नयी पीढ़ी उनकी ओर बड़े उत्साह और प्रेरणा से देखने लगी।

उन्होंने कविता को बौद्धिक विलास का साधन कभी नहीं माना। आम आदमी से सीधे बातचीत की। वह जीती जागती मिसाल हैं कि समाज उसी से प्रभावित होता है, जो समाज से प्रभावित होता है। साहित्य क्षेत्र में उपलब्धियों के तथाकथित झंडे भले ही बहुत-से कवियों ने गाड़ लिये हों, जनसमाज का जैसा मान और प्यार उन्हें मिल पाया, वैसा कितने महान कवि पा सके? दिनकरजी उपलब्धियों के शिखर चढ़ते गये, लेकिन आम आदमी से उनका रिश्ता कभी नहीं टूटा।

'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 19 मई 1974 से

राष्ट्रवीणा का ओजस्वी स्वर

प्रो. विजयेन्द्र स्नातक

हिन्दी प्रदेशों में कविता के माध्यम से जन-जागरण और क्रान्ति उत्पन्न करने वाले कवियों में दिनकर का स्थान अग्रणी है। महात्मा गांधी के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन के समय जो कवि अपनी ओजस्वी वाणी को राष्ट्रीय उत्थान के लिए प्रयुक्त कर रहे थे, दिनकर उनमें अग्रणी थे। जब कभी हिन्दी की राष्ट्रीय कविता का इतिहास लिखा जाएगा, दिनकर की कविताओं से उसका कलेवर निर्मित होगा। दिनकर शुद्ध अहिंसावादी सत्याग्रही व्यक्ति नहीं थे। अपनी मान्यताओं के अनुकूल उन्होंने परतंत्रता के पाश छिन्न-भिन्न करने के लिए अतीत गौरवगान के साथ वीर रस की शौर्यपूर्ण रचनाओं का मार्ग अपनाया था।

कविवर दिनकर ने लगभग चालीस वर्षों तक हिन्दी साहित्य के भंडार को विविध विधाओं द्वारा भरने का प्रयत्न किया। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इतिहास, संस्कृति, कविता और दर्शन उनके प्रिय विषय थे। इसके अतिरिक्त भाषण कला में भी वे दक्ष थे। अपने ओजस्वी भाषणों से उन्होंने जन-जागरण का सराहनीय कार्य किया था। लेखनी और वाणी पर उनका समान अधिकार था। जिस किसी सभा-समारोह में दिनकर बोलते तो ऐसा लगता कि शार्दूल दहाड़ रहा है। उत्साह और जोश से भरी हुई उनकी वर्चस्वी वाणी आज भी प्रतिध्वनित होती हुई प्रतीत हो रही है।

दिनकर ने हिन्दी काव्य क्षेत्र में जब पदार्पण किया, उस समय दो प्रकार की विचारधाराएँ कविता में प्रवाहित थीं। छायावादी रोमानी कविता के पैर जमे हुए थे। उस समय के प्राणवान कवि छायावादी शैली में प्रेम, शृंगार, प्रकृति, नारी तथा रहस्योन्मुखी रचनाओं से हिन्दी काव्य को समृद्ध बना रहे थे। दूसरी धारा के कवि वे थे जिनके भीतर राष्ट्रीयता की भावना हिलोर मार रही थी और जो देश प्रेम की मस्ती में राष्ट्रीय कविताएँ लिख रहे थे। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, सनेही आदि कवियों ने जन-जागरण तथा विदेशी शासन के विरोध में काव्य सृजन कर युगानुकूल धारा बहाई थी। दिनकर इसी धारा के कवि थे किन्तु उनकी कविता में एक ऐसी इन्द्रधनुषी छवि थी कि इन कवियों के साथ उन्हें एक पंक्ति में नहीं बिठाया जा सकता। यदि क्रान्ति को आधार माना जाय तो दिनकर ने राष्ट्रीय काव्यधारा को नई गति, नई चेतना, नया प्रवाह, नया ओज, नई क्षमता और नया रूप प्रदान किया था। इसीलिए दिनकर अनुकरण करने वाले कवि न होकर अपना नया स्वतंत्र मार्ग बनाने वाले कवि थे। वे स्वयं अनुरणेय हो गये थे।

दिनकर को अपने जीवन में लगभग सोलह वर्ष सरकारी नौकरी करनी पड़ी। इन सोलह वर्षों को वे अपने जीवन की कठिन-कसौटी कहते थे। दो वर्ष के लगभग हिन्दी-प्रोफेसर भी रहे किन्तु उसे उन्होंने सरकारी नौकरी होने पर भी नौकरी नहीं माना। वे कहते थे कि मुझे कविता लिखने का मौका मिला ही नहीं। दिन भर सरकारी फाइलें पीटने के बाद भी क्या कविता के लिए कोई जीवनी शक्ति शेष रह सकती है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'जब अफसर लॉन में टेनिस का आनन्द लेते थे, मैं बन्द कमरे में कविता की पंक्तियाँ जोड़ता था।' सचमुच यह देश का बड़ा दुर्भाग्य ही है कि इतने महान् कलाकार को जीविका के लिए वह करना पड़ा जिसे वह स्वप्न में भी नहीं करना चाहता था। अंग्रेज अफसर तो सदैव रुष्ट ही रहे। चार साल में चौबीस बार इनका ट्रांसफर किया - परेशान किया कि कविता लिखने का धंधा छोड़कर सरकारी नौकरी में वफादारी का सबूत दें। लेकिन दिनकर ने आत्मा की आवाज ही सुनी- अफसरों की आवाज को एक कान से सुनकर दूसरे कान निकाल दिया। रेणुका, हुंकार, द्वन्द्वगीत, कुरुक्षेत्र, बापू, रसवन्ती जैसी श्रेष्ठ कृतियाँ सरकारी नौकरी के समय ही लिखी गईं। कौन कह सकता है कि जिन परिस्थितियों में कवि ने इनकी रचना की होगी, वे स्थितियाँ विषमता और प्रतिकूलता की चरम सीमा न रही होंगी। विस्मय तब और अधिक होता है कि दिनकर को परिवार-पोषण के लिए जीविका की सख्त जरूरत थी और

नौकरी से निकाले जाने का पूरा भय था फिर भी वे अपने को अनल किरीट धारण करने वाला आलोक-धन्वा कवि कहने का साहस रखते थे-

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौरमंडल का,
मेरा शिखण्ड अरूणाभ, किरीट अनल का।
रथ में प्रकाश के अश्व जुते हैं मेरे
किरणों में उज्ज्वल गीत गुंथे हैं मेरे।

हिन्दी कविता को नया मोड़ देने के लिए एक सरकारी नौकर जो प्रेरणादायक प्रयत्न कर रहा था उसका मूल्यांकन आज हम तटस्थ भाव से कर सकते हैं। न तो आज विदेशी शासन है और न विदेशी शासन को ललकारने और झकझोरने वाला शार्दूल कवि ही जीवित है। 'हिमालय' कविता में दिनकर ने नवयुवकों के आक्रोश को वाणी दी थी- ऐसी वाणी जो हिमालय की गगन स्पर्शी चोटियों से लेकर समुद्र की अतल गहराइयों तक गूँज उठी थी। उस तेजोदीप्त वाणी के स्वर में युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन का अजेय पराक्रम हुंकार उठा था। 'दिल्ली' शीर्षक कविता में तत्कालीन दिल्ली का जो रूप कवि ने अंकित किया वह इतना सटीक था कि दिल्ली का अतीत और वर्तमान अपनी सम्पूर्ण विषमता में साकार हो उठा था।

दिल्ली आह! कलंक देश का,
दिल्ली आह! ग्लानि की भाषा,
दिल्ली आह मरण पौरुष का
दिल्ली छिन्न-भिन्न अभिलाषा।

दिनकर ने भाषा के माध्यम से शाप और शर का प्रयोग किया था। ऐसा प्रखर प्रयोग संभवतः उस समय माखनलाल चतुर्वेदी के सिवाय और कोई कवि नहीं कर सका था। 'कोकिल और कैदी' शीर्षक कविता में चतुर्वेदी ने जिस स्वर का संधान किया था वही स्वर दिनकर का प्रिय स्वर था। उसी स्वर को पंचम तक पहुँचाने का श्रेय दिनकर को है।

दिनकर केवल कवि ही नहीं, उच्चकोटि के मनीषी और विचारक भी थे। 'कुरुक्षेत्र' में युद्धदर्शन को उन्होंने विचार के स्तर पर प्रस्तुत कर अपने वैदुष्य का अच्छा परिचय दिया है। 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म और युधिष्ठिर कवि दिनकर के आभ्यन्तर संवाद के दोनों पक्षों के प्रतीक हैं और उनके विचार-विमर्श को ही काव्य भाषा में प्रस्तुत करते हैं। जीवन की उन समस्याओं पर गहरे उतरकर दिनकर ने कुरुक्षेत्र में विचार किया था जो उस युग में अहिंसा, शान्ति, विश्व प्रेम और मैत्री की पुकारों के बीच भी हिंसा, युद्ध और शत्रुता को बढ़ावा दे रही थीं। दिनकर ने एक प्रश्न उठाया था - ऐसा प्रश्न जो आज भी उठाया जाना चाहिए। अर्थात् रण को कौन बुलाता है और जो बुलाता है उसके लिए विश्व के न्यायालय में दंड की क्या व्यवस्था है। दिनकर ने ललकार कर कहा था-

चुराता न्याय जो,
रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर! स्वत्व की
अन्वेषणा पातक नहीं है।

दिनकर ने युद्ध और शान्ति की समस्या ही नहीं- और भी ऐसी अनेक समस्याएँ उठाई थीं जो मानव जाति के सामने प्रश्न चिह्न बनकर खड़ी रहती हैं। दिनकर मानवधर्मी कवि थे। मानव-समाज के कल्याण की प्रत्येक प्रक्रिया को सूक्ष्म दृष्टि से देखना उनका स्वभाव बन गया था। आस्था और विश्वास खोकर किसी अंधी गली में भटकने के लिए उन्होंने मानव को प्रेरित नहीं किया था। अवचेतन और अचेतन की गहन गुफा में टोह लगाना उनके स्वभाव में नहीं था। 'कुरुक्षेत्र' में शंकाओं का अम्बार लगा देने के बाद भी उन्होंने आस्था विश्वास का सम्बल हाथ से नहीं जाने दिया था।

भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से,
स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।

'संस्कृति के चार अध्याय' नामक अपने गहन चिन्तन-मनन पूर्ण ग्रंथ में उन्होंने भारतीय संस्कृति की दीर्घकालीन यात्रा का शोधपरक दृष्टि से संधान किया है। एक कवि के द्वारा यह अनुसंधान इतना विस्मयकारी लगता है कि संस्कृति के साथ-साथ भारतीय समाज के निर्माण, पुनर्निर्माण, जागरण, पुनर्जागरण का पूरा लेखा-जोखा इसमें समाया हुआ है।

कवि दिनकर ने हिन्दी कविता को राष्ट्रीयता का स्वर ही नहीं दिया वरन् उन्होंने कलाकार के दायित्वों को अपने समकालीन कवियों तथा रचनाकारों को बोध भी कराया था। जनसाधारण की उपेक्षा करने वाले कलाकार को उन्होंने कभी वरीयता नहीं दी। उनकी दृष्टि में जनता की उपेक्षा करने वाला कवि या लेखक डिक्टेटर के सदृश ही जनता से दूर होता है और उसे चिरकाल तक स्वीकार नहीं किया जा सकता। दिनकर की काव्य चेतना निषेध से स्वीकृति, अकर्मण्यता से कर्मठता और स्वप्न से सत्य की ओर अग्रसर हुई थी। पहले कवि दिनकर भाव प्रवण थे, फिर विचार प्रवण हुए, फिर आगे चलकर प्रचंड तेज के साथ युद्ध की स्वीकृति देकर क्रोधानल में आहुति की भाँति जलने लगे। उसके बाद जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँचकर उन्होंने अध्यात्म और दर्शन की ओर ध्यान लगाया। कहने का तात्पर्य यह कि दिनकर केवल गीत लिखने वाले कवि या भाषण देने वाले व्याख्याता ही नहीं बने रहे, बल्कि बलिदानी वीर पुरुष के समान कर्म और प्रेरणा को मिलाकर विचार सागर में गहरे

उतरते चले गये। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में कवि ने कोरी कल्पना ही नहीं व्यक्त की थी वरन् भारतीय जनता के हृदय की आकुल पुकार उस कविता की पंक्ति-पंक्ति से गूँज रही है। चीनी आक्रमण के बाद जब पाकिस्तान का दूसरा आक्रमण भारत पर हुआ तो 'परशुराम की प्रतीक्षा' कविता कर्म की भूमि पर साकार हो उठी थी।

संक्षेप में, दिनकर सच्चे अर्थों में नवजागरण के अग्रदूत, क्रान्ति के चरण, युगप्रहरी साहित्यकार थे। राष्ट्रहित के लिए बांसुरी छोड़कर पांचजन्य उठाने का उनमें भरपूर साहस था। उनकी रचनाओं में उनके विराट व्यक्तित्व के बीज सहज ही खोजे जा सकते हैं। 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म, 'रश्मिरथी' के कर्ण, 'परशुराम की प्रतीक्षा' के परशुराम और 'उर्वशी' के पुरूरवा में दिनकर के व्यक्तित्व का अंश उनके यशः शरीर के साथ सदैव जीवंत रहेगा। दिनकर ने कविता की भूमि पर पहुँचकर दर्द और बेचैनी, कष्ट और यातना, शोषण और दमन तथा वासना और रुधिर के उत्ताप को पहचाना था। इसी रूप में दिनकर, महाकवि दिनकर और राष्ट्रकवि दिनकर बने थे। आज उनकी ओजस्वी वाणी का स्वर मौन हो गया है किन्तु उनकी काव्य-वीणा की गूँज और अनुगूँज सर्वत्र व्याप्त है। वर्तमान राष्ट्रीय महासंकट के समय दिनकर की वाणी का वर्चस्व अपेक्षित है। उन्होंने इस महान् राष्ट्र की राष्ट्रीयता और भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए जो कार्य किया वह इस देश के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। हमारा अमिट विश्वास है कि सहस्त्राब्दियों तक जन-मानस में उनका संदेश व्याप्त रहेगा और संकट की बेला में वह हमारा पथ-प्रदर्शक होगा।

'लोकराज' के 'दिनकर अंक' से लिए गए अंश इसी पृष्ठ तक

– संपादक

■■■

राष्ट्रकवि दिनकर: अन्तरंग स्मरण

डॉ० देवव्रत जोशी

ये वे दिनकर थे जिनका काव्य-पाठ सुनकर नौजवान हुंकार उठते थे और बूढ़े मूँछो पर ताव देने लगते थे। दिनकर को कई सरकारी नौकरियाँ छोड़नी पड़ी, उनका जीवन आरोह-अवरोह का पर्याय रहा। कभी कुछ समय के लिए किसी कॉलेज में हिन्दी के प्रोफेसर तो कभी राज्य सभा के सदस्य। नेहरू और जय प्रकाश के समान स्नेहभाजन, निष्ठा से गांधीवादी। दिनकर ने अंत तक क्रान्तिद्रष्टा लोहिया का साथ नहीं छोड़ा। आपातकाल का खुला विद्रोह किया। भारत सरकार का हिन्दी सलाहकार का पद छोड़ा। लेकिन जगत और समाज से अविच्छिन्न रहकर भी इन्होंने देश संदर्भी कविताओं के साथ उच्चकोटि का गद्य-पद्य सृजन किया। 'उर्वशी' और 'शुद्ध कविता की खोज' उनके पद्य और गद्य के उच्चकोटि के ग्रंथ हैं।

भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य और जीवन के वे निष्णात व्याख्याता थे। 'संस्कृति के चार अध्याय' उनका बहुपठित, लोकप्रिय ग्रंथ है, जिसमें उन्होंने अतीत से आज तक के भारत का विश्लेषण किया। यद्यपि वे इतिहासकार नहीं थे, किन्तु इतिहास की गहरी पड़ताल- वेद, शतपथ ब्राह्मण, रामचरितमानस, गीता से लेकर सूफीमत तक- और अपने 'आराध्य' गांधी और फिर राधाकृष्णन, नेहरू की विचार-सरिता उनमें सहजता से प्रवाहमान दीखती है। वे इकबाल और रवीन्द्रनाथ के काव्य-दर्शन के बीच 'झूलते' रहे। यद्यपि श्री अरविंद, महर्षि रमण उनके आध्यात्मिक 'ईष्ट' रहे। वहाँ उनका आवागमन मृत्यु पर्यन्त बना रहा।

दिनकर महान गद्य शिल्पी थे। शोध-कार्य के दौरान कुछ समय उनके साथ रहा। उन्हें मैंने ज्यादातर भीतर-बाहर एक जैसा पाया। लेकिन जीवन के संध्याकाल में उनकी बैचेनी और उद्विग्नता लगातार बढ़ती रहती थी। और यह बात मैं उनसे गाहे-बेगाहे कहता भी रहता था। वे कुछ क्षण मौन रहते, फिर धीरे-धीरे अस्फुट स्वरों में जो कहते, वह कुछ इस प्रकार हुआ करता था- 'ऐसे प्रश्न बार-बार मत किया करो। मेरा जीवन लगभग खुली किताब है, जिसे काफी-कुछ तुमने पढ़ लिया है। पारिवारिक चिन्ताएँ और अर्थाभाव के साथ मुझे देश की समस्याएँ भी परेशान करती हैं। आज कोई किसी की सुनता नहीं। अब तो प्रभु उठा ले, यही इच्छा है।' मैं सन्न रह जाता।

24, वेद व्यास कॉलोनी नं. 2, रतलाम 457 001 (मध्य प्रदेश)

दिनकर को लेकर

प्रांजल धर

एंडी, मूगा, टसर, हथकरघे का बाजार
ताम्बुल के वृक्ष, कसू से भरी हरी जमीन
जल्दी का सूर्योदय और निर्धन गृहस्थी की मार
असम की नम जमीन पर चलते हुए
अचानक दिनकर याद आ जाते हैं,
'...धर्मराज कर्मठ मनुष्य का पथ संन्यास नहीं है...'
और मिसिंग परिवारों का दैनिक संघर्ष भी
अनायास जीवंत हो उठता है।
मन फिर आगे बढ़ता है
और फिर राष्ट्रकवि दिनकर पर रुकता है।
मणिपुर, मिजोरम, नगालैण्ड और दिनकर में
एक बड़ी मोटी समानता है,
'राष्ट्रकवि' का गौरव देकर हमने
जिस तरह अपने कर्त्तव्य की इति कर ली
उसी तरह पूर्वोत्तर को भी
अनुदान देने के बाद भला कौन पूछता है?
ह्वांग-हो से सांग-पो तक चीन को चीरते हुए
हमारी ब्रह्मपुत्र आगे बढ़ती जाती है
अभावों के कसीदे पढ़ती जाती है
और असफलताएँ
शहतूत की कीड़ों-सी
जिंदगी पर चढ़ती जाती हैं।
पूरब में कहते हैं, आम लोग भी,
'पूब फाले बेलि ओलाय'
ठीक ही तो है, दिनकर या सूरज
पूरब में निकलता है।
केबुल लामजाओ, संगाई और लोकटक झील
दिनकर चले गए बहुत दूर, ...कई मील,
और लोकटक किनारे की मोइरंग वाली
पावन प्रेम-कहानी की तरह विस्मृत हो गए
यह अलग बात है कि खंबा और थोइबी
आज भी पूजे जाते हैं
साहित्य में भी लोग निर्धन बालश्रमिकों को देख
एक गीत गाते हैं,
'माँ की छाती से चिपक-ठिठुर
जाड़े की रात बिताते हैं'।
लेकिन दिनकर बाँस की जमीन के
कोमल बिहुवान हैं,
हिन्दी के मान हैं...
दिमाग घूमकर अचानक चकरघिन्नी हो जाता है
चिल्लाकर बेकार हो चुके हाथों वाले
मछुवारों का चिल्लाता 'सीन' याद आ जाता है
और संबलपुरी भी कोई तसल्ली नहीं दे पाता!
यथार्थ, जिसे चेखव ने बहुत भयंकर कहा था,
को सोचकर सवाल खड़े होते हैं
और दिनकर को लेकर हम वेगई के किनारे
खड़े-खड़े रोते हैं, खड़े-खड़े रोते हैं।

1209, तृतीय तल, डॉ. मुखर्जी नगर,
दिल्ली - 110009

दिनकर के व्यक्तित्व के कुछ अनछुए पहलू

डॉ. सत्यकेतु सांकृत

रामधारी सिंह 'दिनकर' बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। पद्य हो या गद्य सभी में उन्हें महारत हासिल था। कविता तो उनकी प्राण ही थी। प्रायः हम उन्हें राष्ट्रकवि के नाम से याद कर लिया करते हैं। दिनकर का व्यक्तित्व उनकी कविताओं और गद्य रचनाओं में स्पष्ट गोचर होता है। इसके बावजूद उनसे सम्बन्धित कुछ ऐसे अनछुए पहलू भी हैं, जिन पर विचार किये बिना उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को जानने का दावा करना गलत होगा। दिनकर के व्यक्तित्व के ये अछूते पहलू उनके द्वारा विभिन्न लोगों को लिखे गये पत्रों, उनके द्वारा दिये गये भाषणों आदि में स्पष्ट गोचर होते है।

दिनकर एक जबरदस्त पत्र लेखक थे। वे स्वयं भी दूसरों को पत्र लिखते थे और पत्रोत्तर देने में बड़े-छोटे का भेद नहीं करते थे। पर उन्होंने कब, किसको, कहाँ और कितने पत्र लिखे, इसका कोई ठिकाना नहीं है। हमारे यहाँ पत्रों को जुटा कर रखने का रिवाज बहुत कम है। इधर हाल ही में कन्हैयालाल फूलफगर जी ने दिनकर के पत्रों का संकलन, संपादन और स्वयं द्वारा संचालित शोध संस्थान, कोलकाता से प्रकाशित करवाकर हिन्दी संसार को दिनकर के सम्बन्ध में एक ऐसी अमूल्य निधि थमा दी है। जिससे हिन्दी संसार उनके प्रति अवश्य ही कृतज्ञ होगा। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी दिनकर के पत्र समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। इन पत्रों से दिनकर के जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाली अनेक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

दिनकर जी द्वारा लिखित अब तक का प्राप्य पहला पत्र 16 अप्रैल 1934 का है जिसे उन्होंने विशाल भारत के यशस्वी सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा था। इस पत्र से ज्ञात होता है कि अप्रैल 1934 में वे बरबीघा (मुंगेर, बिहार) के हाई स्कूल में हेडमास्टर के पद पर कार्यरत थे। डॉ. राजेश्वर प्रसाद सिंह के अनुसार उन्होंने 1932 में पटना कॉलेज से बी.ए. किया था और कुछ दिन नौकरी के लिए भटकने के बाद नवनिर्मित बरबीघा हाईस्कूल में प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्त हुए थे। चतुर्वेदी जी के इस पत्र से इस बात की भी सूचना मिलती है कि वे तब तक हिन्दी साहित्य संसार से घनिष्ठ रूप से जुड़ चुके थे। इसके लगभग छह माह बाद, 2 नवम्बर 1934 को आचार्य शिवपूजन सहाय के नाम लिखित पत्र से ज्ञात होता है कि उन्होंने कोई पाँच-छह दिन पहले जयनगर, दरभंगा के कार्यालय में सब-रजिस्ट्रार का कार्यभार संभाल लिया था। 31 मई 1935 के चतुर्वेदी जी के नाम लिखे गए पत्र से पता चलता है कि वे उस समय दलसिंग सराय (बिहार) में प्रॉशनरी सब-रजिस्ट्रार पद पर कार्यरत थे। डॉ. राजेश्वर प्रसाद सिंह के अनुसार वे इस पद पर 1942 ई. तक कार्यरत रहे। इसके बाद, 1943 ई0 में, उनका तबदला युद्ध प्रचार विभाग में कर दिया गया। सन् 1929 में दिनकर का 'प्रणभंग' खण्ड काव्य प्रकाशित हो चुका था और 1934 तक उनकी लगभग 30 स्फुट कविताएँ लिखी जा चुकी थीं। यद्यपि इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि ये कविताएँ किन पत्रिकाओं मे प्रकाशित हुई थीं या किन-किन कवि सम्मेलनों मे सुनायी गयी थीं। प्रसिद्ध समाजवादी नेता और साहित्य प्रेमी स्व. बाबू गंगाशरण सिंह के साक्ष्य से कहा जा सकता है कि जब वे पटना कॉलेज के छात्र थे, तभी एक ओजस्वी कवि के रूप में उनकी पहचान बन चुकी थी। पटना कॉलेज के ठीक सामने गंगा बाबू के संरक्षण और रामवृक्ष बेनीपुरी के संपादन में प्रकाशित होने वाले 'युवक' नामक पत्र का दफ्तर था। वहाँ दिनकर प्रायः जाते रहते थे और उनकी कविताएँ भी 'युवक' में 'अमिताभ' नाम से प्रकाशित हुआ करती थीं। सरकार की कोपदृष्टि से बचने के लिए 'दिनकर' का वैकल्पिक नाम 'अमिताभ' गंगा बाबू का ही रखा हुआ था। इसके थोड़े ही दिनों बाद दिनकर का पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी से सम्पर्क हो गया था। और 16 अप्रैल 1934 के पत्र से संकेत मिलते हैं कि उनकी कविताएँ भी 'विशाल भारत' में प्रकाशित होने लगी थीं। इसके अतिरिक्त पटना से प्रकाशित होने वाली 'योगी' और लहेरिया सराय से प्रकाशित होने वाली 'बालक' में भी उनकी कविताओं के प्रकाशन के संकेत प्राप्त होते हैं। इस पृष्ठभूमि

में जब दिनकर ने सरकारी नौकरी में जाने का फैसला किया तो उनके मित्रों को यह अच्छा नहीं लगा। बेनीपुरी और बनारसीदास चतुर्वेदी दोनों ने उन्हें मना किया, पर दिनकर की अपनी मजबूरियाँ थी। श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह के नाम 10 फरवरी 1970 के पत्र में दिनकर ने लिखा था कि ''1934 में जब मुझे सब रजिस्ट्रारी का ऑफर आया, बेनीपुरी ने सलाह दी कि कबूल मत करो। सरकारी नौकरी में जाकर अपने कवि की हत्या ही करोगे। यह बहुत नेक सलाह थी। लेकिन, मैं उस पर नहीं चल सका। सारी जिन्दगी परिवार की गरीबी से जूझने में बीत गयी। जिस समय लोग ताश और बैडमिंटन खेलते हैं, उस समय को भी मैंने साहित्य में लगाया। बस इतना ही काम मुझसे हो सका और कीर्ति मुझे क्षमता से अधिक मिल गयी।''

इस परिस्थिति और मानसिकता में दिनकर के लिए सरकारी नौकरी को ठुकराना संभव न था। इस नौकरी में उन्हें कितनी घुटन और बेबसी थी, इसका पता हमें चतुर्वेदी जी के नाम लिखित कई पत्रों से चलता है। 12 सितम्बर 1939 के पत्र में उन्होंने लिखा था, "मैं अभी तक भली-भाँति यह नहीं समझ सका हूँ कि वे (परिस्थितियाँ) मुझ पर हावी हैं अथवा मैं ही उन्हें रौंदता हुआ आगे जा रहा हूँ। सन् 1936 में मेरे जीवन में एक संकट उपस्थित हुआ था जब मुझे बराबर यह सोचने को बाध्य होना पड़ता था कि नौकरी छोड़ देना ठीक है या नहीं। मैं भी उस समय आपकी सम्मति से सहमत था कि इस्तीफा दे देने में ही मेरा कल्याण है लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हो गया कि मुझमें काँटों में दौड़ने की भी हिम्मत है। सरकार के सारे warnings, explanations और धमकियों के बावजूद मुझे उस वातावरण से एक spiritual fight का आनंद आता था।" इसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा था, "कलम उठाकर मैंने बेबसी का अनुभव तो कई बार किया था, किन्तु बार-बार लिख जाने पर मुझे शान्ति ही मिला करती थी और यह भी मालूम होता था कि वाणी के संयम में भी एक सौंदर्य है, जो बाज वक्त यह काम कर जाता है जो चिल्लाने से नहीं हो सकता।" इन पक्तियों में स्पष्ट है कि औपनिवेशक सरकार का दबाव उन पर था, पर नौकरी से त्याग पत्र न देने का कारण केवल पारिवारिक उत्तरदायित्व ही नहीं था, बल्कि सरकार को चुनौती देने का भाव भी था, देखें क्या कर लेते हो?

दिनकर के कई पत्रों से लगता है कि समकालीन स्थानीय आलोचकों ने अनेक अवसरों पर उन पर तीखे आक्रमण किये थे। कुछ ने उन्हें फरमायशी कविता लिखने वाला कहकर उनका मजाक भी उड़ाया था। स्वयं दिनकर की ही स्वीकारोक्ति है, "लोग मुझे चारण और वैतालिक कहने लगे थे, युग का ढिंढोरिया और जागरण का दूत कहने लगे थे। कोई-कोई मित्र आज भी इस प्रकार का विरोध देकर मुझे मेरी सीमा का ज्ञान कराना चाहते हैं।" अपने 31 मई 1935 के पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम पत्र में उन्होंने लिखा था "इधर बिहारी साहित्यकारों ने मुझे 'कस्मै देवाय' का समर्थक कहकर Individually और छिपे-छिपे लांछन लगाया है कि मैं तकाजे की चीज लिख सकता हूँ। यह एक और असत्य है।" चतुर्वेदी जी के नाम अपने 12 सितम्बर, 1939 के पत्र में उन्होंने लिखा था, "बिहार में कायस्थ, राजपूत और भूमिहार की फीलिंग बड़े जोरों में चल रही है और साहित्य क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं बच रहा है। इसका दुख है इस फीलिंग की कुछ डंक मुझे भी लग रही है अन्यथा मैं अपने जीवन को कुछ दूसरा रूप देने में समर्थ हो सकता था।"

1950 में दिनकर को लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर में हिन्दी का वरिष्ठ प्रोफेसर नियुक्त किया गया। 4 अगस्त 1950 को श्री रायकृष्ण दास को लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि अगस्त के अंत या सितम्बर के आरम्भ में उन्होंने लंगट सिह कॉलेज में काम संभाला होगा। यद्यपि दिनकर हिन्दी के एक बड़े कवि के रूप में राष्ट्रीय प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके थे, पर कविता करना अलग बात है और स्नातकोत्तर वर्गों में अध्यापन करना अलग। दिनकर को अपनी प्रतिष्ठा कायम रखनी थी, अतः अध्यापन के लिए वे कड़ी मेहनत करते थे। अपने 18 जनवरी, 1951 के पत्र में दिनकर ने बनारसीदास चतुर्वेदी जी को लिखा था, "जब से कॉलेज आया हूँ, सप्ताह में अस्सी पचासी घंटे कड़ाचूर मेहनत कर रहा हूँ। ज्यों-ज्यों पढ़ता जाता हूँ त्यों-त्यों अपनी मूर्खता प्रत्यक्ष होती जा रही है। हैरत की बात है कि हिन्दी के एक प्रसिद्ध साहित्यकार का ज्ञान इतना छूँछा निकला। कुछ परिश्रम तो अनावश्यक ज्ञान बटोरने में जा रहा है। मगर, वह जरूरी है, इसलिए उसे भी छोड़ नहीं सकता। आखिर कुछ तो नकली इल्म की जरूरत होगी ही।"

दिनकर जी जब लंगट सिंह कॉलेज में हिन्दी के प्रोफेसर थे, तभी उनके राज्य सभा के सदस्य के रूप में संसद में जाने की चर्चा होने लगी थी। दिनकर जी राज्य सभा में मनोनीत सदस्य के रूप में जाना चाहते थे। उन्होंने अपनी यह इच्छा चतुर्वेदी जी के नाम अपने 18 फरवरी 1952 के पत्र में व्यक्त की थी, पर ऐसा हुआ नहीं। वे बिहार से कांग्रेस पार्टी की ओर से चुनाव जीतकर राज्य सभा में गए थे। 20 मार्च 1952 के पत्र में उन्होंने सूचना दी थी कि वे नौकरी से अलग हो चुके हैं और 27 मार्च को राज्य सभा के लिए चुनाव होने वाला है। इस चुनाव में दिनकर राज्य सभा के सदस्य के रूप में चुन लिए गए और 1964 तक राज्य सभा के सदस्य रहे।

भौतिक और सर्जनात्मक दृष्टि से यह युग (1952-64) दिनकर के जीवन का शानदार युग रहा। पर इसके भीतर ही कहीं चुपचाप 'सत्यानाश' का बीज भी पनप रहा था। 1955 तक दिनकर जी के पास पटना में अपना मकान नहीं था। चतुर्वेदी जी के नाम 4 अगस्त 1955 के पत्र में उन्होंने अपनी 'अधूरी किताब', 'अधूरे मकान', और 'अधूरे बेटे' की चिन्ता व्यक्त की थी। अधूरी किताब संभवतः संस्कृति के चार अध्याय 1956 थी और अधूरा मकान आर्य कुमार रोड में बन रहा 'दिनकर भवन' था। लगभग इसके बाद ही अधूरे बेटे रामसेवक सिंह, रामदयालु सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर में हिन्दी के व्याख्याता पद पर नियुक्त हो चुके थे। अधूरा मकान भी शीघ्र पूरा हो गया था और वे 26 मार्च 1956 तक अपने आर्य कुमार रोड वाले मकान में चले गये थे।

दिनकर जी का स्वास्थ्य भी, लगभग 1955 के बाद, उनका साथ नहीं दे रहा था। 26 मार्च 1956 को श्री रायकृष्ण दास को लिखे पत्र से पता चलता है कि तब तक वे इन्सुलीन लेने लगे थे। 1960 तक आते-आते वे मधुमेह और उच्च रक्तचाप दोनों के शिकार हो चुके थे। 14 जनवरी 1961 को हृदय रोग के प्रसिद्ध विशेषज्ञ डॉ. वकील ने उनकी अस्वस्थता को काफी गंभीर बताया था। 21 सितम्बर 1971 को प्रो. कपिल के नाम से लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि 25 नवम्बर को उन्हें पक्षाघात का हल्का सा आघात लगा था। डॉक्टरों ने उन्हें पूर्ण विश्राम की हिदायत दे रखी थी। पर उन्हें विश्राम कहाँ लिखा था। बड़े पुत्र के असमय निधन और गिरते स्वास्थ्य के साथ पारिवारिक समस्याएँ भी दिनकर को अपने गिरफ्त में कसने लगी थीं। दिल्ली ने भी उनकी तरफ से अपनी आँखें फेर ली थीं। 28 अगस्त 1971 को चतुर्वेदी जी के लिए लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि 13 जून को ही उनका दिल्ली का कार्यकाल समाप्त हो गया था। 13 जुलाई को उन्होंने दिल्ली छोड़ दी थी और 14 जुलाई 1971 से पटना में, अपने राजेन्द्र नगर वाले मकान में, अपने छोटे पुत्र केदार जी के साथ रहने लगे थे। इसी पत्र में उन्होंने यह भी लिखा है कि "स्वर्गीय पुत्र चार बेटियाँ छोड़कर गये हैं। एक की शादी करवा चुका हूँ। अब तीन बाकी हैं। अगर 10-12 साल बचना पड़ा तो उनकी भी शादियाँ करनी पड़ेगी।" अपने महाप्रयाण के तीन दिन पहले, 21 अप्रैल 1974 को उन्होंने पदमा सचदेव को अन्तिम पत्र लिखा था। यह पत्र दिनकर जी का अंतिम प्राप्य पत्र है। लगता है, अब तक दिनकर जी ने परिस्थितियों से समझौता करना सीख लिया था। और अपने को राम के चरणों में डाल दिया था। 24 अप्रैल को उन्होंने इस जगत को हमेशा के लिए त्याग दिया।

दिनकर जी के पत्रों से गुजरते हुए हमें उनके व्यक्तित्व के वे पक्ष भी गोचर होते हैं, जो अनछुए पहलू कहे जा सकते हैं। इन पत्रों से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि दिनकर का बहुत बड़ा समय पारिवारिक कलह में जाया हो गया। अपने जीवन में दिनकर को न चाहते हुए भी कुछ ऐसे काम करने पड़े जो उनके स्वभाव के विपरीत थे। चाहे ब्रिटिश सरकार की नौकरी हो या परिवार के बोझ तले किये जाने वाले मौका परस्त समझौते, सभी ने दिनकर को तोड़ा। यह ठीक है कि दिनकर का अन्त हताशा और निराशा में हुआ। फिर भी वे इन सबके बीच से ही कुछ ऐसा काम भी कर गये जिन्होंने उन्हें महान रचनाकारों की श्रेणी में ला खड़ा कर दिया।

दिनकर एक सफल रचनाकार होने के साथ-साथ एक ओजस्वी वक्ता भी थे। राज्य सभा में दिये गये उनके भाषण इस बात की पुष्टि करते हैं। बाबू गंगाशरण सिंह के अनुसार दिनकर हिन्दी के हितों के सजग प्रहरी थे। राज्य सभा में हिन्दी के पक्ष में बोलते समय वे आवेश में आकर अपना संतुलन नहीं खोते थे, वरन् तथ्यों, प्रमाणों और सबल तर्कों द्वारा हिन्दी के विरोधियों का भी मन जीतने का प्रयास करते थे। हिन्दी के प्रति सरकार के उदासीन रवैये से उनके मन में घोर कष्ट होता था और कांग्रेस पार्टी का सदस्य होने पर भी वे हिन्दी को लेकर कांग्रेस सरकार का भी विरोध करने से नहीं चूकते थे। यदि कोई सदस्य भाषाओं की स्थिति में गलत बयानी करता था, तो दिनकर उसका दो टूक, पर सधा हुआ उत्तर देने से नहीं चूके थे। यूँ तो वे अधिकतर भाषा-सम्बंधी प्रश्नों पर ही बोलते थे, पर इतर समस्याओं पर भी, जरूरत पड़ने पर वे चुप नहीं रहते थे और जब वे गैर-भाषायिक प्रश्नों पर बोलते थे तो उसके पीछे इतनी तैयारी होती थी कि विरोधियों को भी उनके सुझावों को मानना पड़ता था।

राज्य सभा के बाहर दिये गये भाषणों में भी दिनकर का हिन्दी के प्रति प्रेम, हिन्दी साहित्य की चतुर्दिक उन्नति की लालसा, विश्वविद्यालयों में शिक्षा के गिरते स्तर के प्रति चिंता, अहिंसा के वास्तविक रूप की पहचान सम्बंधी विवेक, भारतीय समाज के नवनिर्माण का स्वप्न आदि दिखाई पड़ता है।

इन भाषणों से इस बात की पुष्टि होती है कि दिनकर एक बड़े कवि ही नहीं बल्कि एक बड़े चिंतक भी थे। यदि काल ने उन्हें हमसे असमय ही न छीन लिया होता तो वे हिन्दी साहित्य के कितने बड़े कवि, चिंतक होते, इसका अनुमान करना मुश्किल नहीं है।

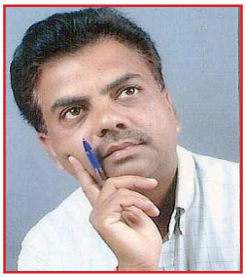

प्रेम प्रतिमा उर्वशी और दिनकर की नारी भावना

डॉ. राजेश श्रीवास्तव 'शम्बर'

उर्वशी को संबोधित करके दिनकर जी संभवतः समय को पहचानने और अपने ही बारे में कुछ कहना चाहते हैं। अपने संपूर्ण साहित्य में दिनकर जी ने कहीं भी स्वयं को सूर्य नहीं कहा, कहा है तो पररूवा के माध्यम से ही और वह भी उर्वशी को सामने रखकर। इसके लिए उन्होंने उर्वशी का चयन क्यों किया? यह प्रश्न भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। उर्वशी एक स्त्री है। किसी भी समाज में पुरुष और स्त्री की क्या भूमिका होनी चाहिए, इस विषय पर इतना कुछ कहा जा चुका है कि कोई नई बात एकदम नहीं सूझती। स्त्री विमर्श और नारी सशक्तिकरण के इस युग में महिलाओं की प्रगति के तमाम आँकड़े हमारे पास हैं। पक्ष और विपक्ष की तमाम दलीलों पर घंटों बहस की जा सकती है। कवियों ने नारी पात्रों के बारे में जो कुछ कहा, वह हमारे चिंतन का हिस्सा है। अब वह ताड़ना की अधिकारी नहीं है। स्वयं सबल न भी सही तो उसकी रक्षा एवं पक्ष में समाज का एक बड़ा हिस्सा कटिबद्ध है। वह दया, माया, ममता, विश्वास और त्याग की प्रतिमूर्ति है। कवि तो यही कहता आया है कि-

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो'

आधुनिककालीन साहित्य में युगीन परिस्थितियों तथा विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक सुधार के आंदोलनों के फलस्वरूप नारी का अपेक्षाकृत स्वस्थ रूप प्रस्तुत हुआ है। भारतेन्दु युग के कवियों ने नारी के प्रति उदार एवं सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि का परिचय दिया था। द्विवेदीयुगीन कवियों ने उसे समाज में प्रतिष्ठित करने का उद्यम किया। मैथिलीशरण गुप्त की उर्मिला, कैकेयी, यशोधरा, विष्णुप्रिया तथा हरिऔध की राधा में नारी के महनीय एवं चिरकाम्यस्वरूप का अनावरण हुआ है। छायावाद ने नारी के चित्र को बदल दिया। उसे न केवल प्रेम वरन् विश्वास का भी जामा पहनाया। समाज में उसकी प्रगति के मार्ग को प्रशस्त किया। नारी मानवी होने के साथ साथ देवी भी है और अप्सरा भी। छायावाद और विशेषकर दिनकर का काव्य इस दृष्टि से अन्यतम और विशेष है।

दिनकर की नारी भावना का सशक्त एवं महत्वपूर्ण दस्तावेज *'रेणुका'* में संकलित कविता *'राजा रानी'* है। इसमें दिनकर ने नारी को पुरुष की भावनात्मक प्रेरणा के रूप में देखा है। कवि ने यहाँ दो प्रतीक चुने हैं। वसंत ऋतुओं का राजा है और वर्षा उनकी रानी। पुरुष वसन्त है और स्त्री वर्षा। वसंत जीवन के हास, विलास और उल्लास का प्रतीक है और वर्षा आँसुओं का। नारी के भाग्य में दुख और पीड़ा ही लिखी हुई है। नारी का बलिदान और त्याग ही पुरुष के मार्ग को प्रशस्त करता है। ऋतुओं का राजा वसंत फूल मालाओं से सुशोभित प्रसन्नता का प्रतीक है तो रानी अपने अंतर में आकुलता और आँखों में पानी लिए हुए है।

प्रश्न है कि आखिर कब तक, कब तक पुरुष अबोध बालकों की तरह कमल से खेलता रहेगा और कब तक नारी बलिदान की प्रतिमूर्ति बनी रहेगी। इस त्याग के बदले नारी को समाज, देश, और पुरुष आखिर देता क्या है?

लेखनी लिखे, मन में जो निहित व्यथा है
रानी की सब दिन गीली रही कथा है,
त्रेता के राजा क्षमा करें यदि बोलूँ
राजा रानी की युग से यही व्यथा है।

भारतीय साहित्य में जिन नारी पात्रों को उपेक्षा का शिकार होना पड़ा, उन पर द्विवेदीकालीन कवियों की भाँति दिनकर जी की भी पैनी दृष्टि रही। भोली-भाली शकुन्तला का दुष्यन्त विरह और उसके जीवन के करुण भाव को दिनकर जी ने कुशलता से चित्रित करने का प्रयास किया है-

प्याली थी वह विषभरी, प्रेम में भूली
पी गई जिसे भोली तुम लता भवन में।

माधवी कुंज की प्रेम कथा को उन्होंने नया रूप देने का प्रयास किया है। राजा दुष्यंत की स्मृति में शकुन्तला बावरी होकर यहाँ वहाँ घूमती है। उसके त्याग, बलिदान और निष्काम प्रेम को विस्मृत करता हुआ राजा अपने आप में खोया हुआ है। दिनकर जी कहना चाहते हैं कि नारी के त्याग में पुरुष की सफलता का गुप्त रहस्य भी छिपा है।

छिटकी तुम विद्युत शिला, हुआ उजियाला,
तम-विकल सैनिक में संजीवन डाला
हल्दी घाटी हुंकार उठी जब रानी!
तुम धधक उठी बनकर जौहर की ज्वाला

राजा की स्मृति बन ज्योति खिली जौहर में
असि चढ़ चमकी रानी की विभा समर में
भू पर रानी जूही, गुलाब राजा है।
राजा रानी हैं सूर्य सोम अम्बर में।

दिनकर जी मानते हैं कि प्रेम का स्वरूप सदैव उदात्त होता है। उसे वासना, आसक्ति और रति की क्षुद्र सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। प्रेम एक व्यापक और विशाल मनोवृत्ति है। इसे मनोरंजन की संकीर्ण धारा के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। प्रेम में मानवता के सत्य का शाश्वत स्पन्दन होता है, प्रेम क्षणिक नहीं हो सकता। वह स्थिर निस्सीम और चिरंतन होता है। प्रेम में मात्र पाने का ही सत्य नहीं होता, वरन् उसमें त्याग तथा दूसरों को प्रसन्नता प्रदान करने का भाव भी रहता है। इसी कारण से उसे शाश्वत कहा गया है और यही कारण है कि प्रेम की सीमा मृत्यु की सीमा से भी परे होती है।

उर्वशी की भूमिका में दिनकर जी लिखते हैं- "पुरूरवा और उर्वशी का प्रेम मात्र शरीर के धरातल पर नहीं रुकता, वह शरीर से जन्म लेकर मन और प्राण के गहन, गुह्य लोकों में प्रवेश करता है। रस के भौतिक आधार से उठकर रहस्य और आत्मा के अंतरिक्ष में विचरण करता है।"

दिनकर जी की प्रेम संबंधी अवधारणा में गहरी दार्शनिकता है। प्रेम के द्वारा प्रेमी को वह स्थान प्राप्त हो सकता है जो योगियों को साधना के उपरांत मिलता है। वे मानते हैं-

जगत प्रेम प्रथम लोचन में,
तब तरंग नियमन में।

स्त्री के मातृत्व एवं भार्या स्वरूप पर दिनकर जी ने उर्वशी में औशीनरी के माध्यम से कहने का प्रयास किया है कि गृहिणी के अंतर में तृषा और ज्वाला नहीं होती। वह समर्पण की प्रतिमूर्ति होती है। उर्वशी द्वारा पुरूरवा को अपना लिए जाने से दुखी होकर औशीनरी अपने पति की अनुचरी तथा सहधर्मिणी बनकर ही रह जाती है। औशीनरी इसका प्रतिकार करती है। वह पुरूरवा से ही नहीं वरन् स्त्रियों से भी शिकायत रखती है-

ये प्रवंचिकाएँ, जाने क्यों तरस नहीं खाती हैं,
निज विनोद के हित कुल वामाओं को तड़पाती हैं।

औशीनरी अप्सरा उर्वशी से पूछती है कि आखिर मैंने तुम्हारा कौन सा अहित किया है, जो तुमने सर्वस्व छीन लिया और मुझे जीवन भर एक विरहिणी की भाँति जीने को विवश कर दिया। फिर वह उर्वशी को दोषमुक्त करते हुए अपने ही मन को समझाती है कि नारी भी आखिर क्या करे? पुरुष है ही इतना कमजोर कि नारी के सौंदर्य के आगे उसकी एक नहीं चलती। उसकी सारी वीरता एक क्षण में ही समाप्त हो जाती है। नारी के सौंदर्य से वशीभूत होकर पुरुष अपने सिंह रूप को छोड़कर मेमने की भाँति नारी के चरणों में लोटने लगता है-

पर न जाने बात क्या है?
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है
सिंह से बाँहें मिलाकर खेल सकता है।
फूल के आगे वही असहाय हो जाता
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता
विद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से
जीत लेती रूपसी नारी उसे मुस्कान से
मैं तुम्हारे बाण का बींधा हुआ खग
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ
मैं तुम्हारे हाथ का लीला कमल हूँ
प्राण के सर में उतरना चाहता हूँ।

दिनकर की सम्पूर्ण काव्य साधना में उर्वशी को मील का पत्थर माना जाता है। यह आधुनिक युग को एक नयी दृष्टि प्रदान करने वाला प्रबंध-काव्य है। उर्वशी को प्रत्येक भाषा के कवियों ने अपने काव्य की नायिका बनाया है। उर्वशी को सम्पूर्ण प्रतिष्ठा दिलाना एक दुष्कर कार्य था, जिसे दिनकर जी ने कर दिखाया। लेकिन उनका काव्य चर्चित होने के साथ विवादास्पद भी बना रहा। उनकी मान्यताओं को स्वीकारने का साहस आधुनिक युग के आलोचक नहीं कर पाए। डॉ. भारत भूषण अग्रवाल ने लिखा है- "उर्वशी को बाँधना बड़ा दुष्कर कार्य है, क्योंकि वह पूर्ण नारी का प्रतीक है। तन और मन दोनों के सौंदर्य की छलछलाती प्रतिमा है, जो क्षण भर को पास आकर फिर छिटककर दूर हो जाती है और पुरुष जिसे पाकर भी आश्वस्ति लाभ नहीं कर पाता, क्योंकि उसकी अन्तश्चेतना जानती है कि वह क्षण चिरस्थायी नहीं है। वह उस मुक्त और आत्मदीप्त नारी का रूप है जो उस घेरे में बँधने से इंकार करती है, जिसे हम मोटे अर्थ में समाज कहते हैं।"

उर्वशी का आरम्भ अप्सराओं की उस चिन्ता से होता है कि उर्वशी को पृथ्वीवासी राजा पुरूरवा से प्रेम हो गया है। मेनका, रम्भा और सहजन्या का मानना है कि सुरलोक अमर है, यहाँ के निवासियों को व्यंजनों की गंध लेकर ही तृप्त होना पड़ता है। परंतु मृतलोक नश्वर है। वहाँ के निवासी अपने क्षणिक जीवनकाल में ही सम्पूर्ण आनन्द का भोग कर लेते हैं। मेनका को उर्वशी का राजा पुरूरवा की ओर आकृष्ट होना तनिक भी नहीं भाता। वह कहती है कि अप्सराओं का जन्म किसी एक के लिए नहीं होता। पृथ्वीवासियों से प्रेम करने पर नारी को माता बनना पड़ता है, जिससे उसका सारा सौंदर्य नष्ट हो जाता है। यदि उर्वशी भी पृथ्वी पर जाने का प्रयत्न करेगी तो उसके साथ भी यही होगा-

गर्भभार उर्वशी मानवी के समान ढोयेगी?
यह शोभा, यह गठन देह की, यह प्रकांति खोयेगी?

जो अयोनिजा स्वयं, वही योनिज संतान जनेगी?
यह सुरम्य सौरभ की कोमल प्रतिमा जननि बनेगी?
किरणमयी यह परी करेगी यह विरूपता धारण?
वह भी और नहीं कुछ केवल एक प्रेम के कारण?

राजा पुरूरवा की पत्नी औशीनरी उर्वशी के इस प्रेम प्रसंग को जानकर दुखी होती है, किन्तु उसकी सखी मदनिका उसे दिलासा देती है। पुरुषों का हृदय बड़ा विचित्र होता है, उसके हृदय में जब नारी के लिए प्रेम भाव जागृत होता है, तब वह चाहे अजेय केसरी ही क्यों न हो, बेसुध होकर सुन्दरी के चरणों में गिर जाता है। पुरुष उस नारी के वश में रहता है, जो उसे अतृप्ति के रस में निमज्जित किए रहती है। पुरूरवा ऐसे प्रेमी का प्रतीक है जो माँगना और छीनना दोनों प्रवृत्तियों के विरोध में है। उर्वशी भी अपने प्रेमी के इस संकल्प से भयभीत हो जाती है-

तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में,
मन से किन्तु, विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो?

उर्वशी की चिंता यह है कि स्वर्ग की जिस शीतलता को छोड़कर वह पुरुष के तप्त रुधिर के प्रति समर्पण करने आई थी, वही देवलालसा में डूब गया तो उसका पृथ्वी में आने का क्या लाभ? वह पुरूरवा के द्वंद्व को सुलझाने का प्रयास भी करती है। उसके राग और वैराग्य को पाटने का प्रयास करती है।

पृथ्वी पर दोनों का मिलन होता है और निष्काम काम की स्थापना होती है, किन्तु भरतमुनि के श्राप के कारण उनका बिछोह होता है। डॉ. भारत भूषण अग्रवाल कहते हैं कि 'उर्वशी काम प्रेरणा के सही और साहसपूर्ण अनुगमन एवं प्रतिपालन द्वारा व्यक्ति के पूर्णत्व अभियान का जयघोष है।'

दिनकर जी ने उर्वशी के माध्यम से प्रेम के सत्य पर दार्शनिक पक्ष रखते हुए चिंतन किया है। वे अप्सरा उर्वशी को अपना प्रधान पात्र इसलिए भी बनाते हैं कि जीवन, संसार और प्रेम की सहज भूमि पर विचार मंथन किया जा सके। सांसारिकता से परे प्रेम का एक संसार जिसे देखने और संजोने का हर कोई यत्न करता है, हमारे आस-पास हो। एक ऐसा विशाल हृदय जिसमें दया, माया, ममता, मधुरिमा और विश्वास भरा हो। प्रसाद जी की श्रद्धा से बहुत अलग होकर भी उर्वशी प्रेम को नए रूप में परिभाषित करने में सफल होती है। कमोबेश दिनकर जी का उद्देश्य भी यही है।

बी-16, लेकपर्ल रेसीडेंसी, ई- 8, एक्सटेंशन
अरेरा कॉलोनी, भोपाल (मध्य प्रदेश)

दिनकर जी साथियों के साथ

दिनकर और काव्य-भाषा का द्वन्द्व

डॉ. शंभु नाथ

'दिनकर की काव्य भाषा' में विद्वान डॉ. यतीन्द्र तिवारी ने दिनकर को खड़ी बोली के 'परम आस्थावान सशक्त कवि' मानते हैं तथा अपने शोध-ग्रंथ में उन्होंने दिनकर की भाषा पर द्विवेदी युग और छायावादी युग के मिले-जुले प्रभाव को पाया है। *'दिनकर पंत के सपने को मैथिलीशरण जी की सफाई से लिखना चाहते थे।'* अतः वह स्वयं अपने पथ के निर्माता हैं और उनकी रचना द्विवेदी युग और छायावाद युग के बीच की कड़ी के रूप में बन गयी है। यही परिस्थितियाँ उन्हें खड़ी बोली का सशक्त कवि बनाने में सफल हुई।

वस्तुतः पंत के सपनों को मैथिलीशरण गुप्त की सफाई के साथ लिखना एक द्वंद्वपूर्ण चुनौती थी। पंत के कोमल, सुकुमार, अछूते कल्पना संसार को द्विवेदी युगीन सहज और साफ भाषा में उतारना आसान काम नहीं था। कल्पना-सौंदर्य को आकाशीय ऊँचाइयों से धरती तक लाने का संकल्प दिनकर में आरंभ से ही दृष्टिगत होता है। 'रेणुका' की एक कविता की कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं-

'व्योम-कुञ्जों की परी अयि कल्पने!
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं,
पा न सकती मृत्ति उड़कर स्वप्न को,
शक्ति हो तो आ, बसा अलका यहीं।'

पंत के सपने और गुप्त की सफाई की द्वंद्वात्मक स्थिति वस्तुतः एक सीमा तक बिम्बात्मक एवं सपाटबयानी का भी द्वंद्व प्रस्तुत करते हैं। कविता की मूर्तिमत्ता को दृष्टिगत रखते हुए 'पल्लव' की भूमिका में *पंत* लिखते हैं- *'कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है।'* चित्र-भाषा ही कविता को बिम्बात्मक संसार देती है। कविता में अन्तर्निहित गणित को उद्घाटित करते हुए *एजरा पाउन्ड* ने यह विचार व्यक्त किया था कि *'कविता की सार्थकता कृतियों का ढेर लगाने के बजाय सम्पूर्ण जीवन काल में मात्र एक बिम्ब प्रस्तुत करने में है।'* बिम्ब-प्रधान कविता के प्रबल पक्षधर सी.डी. लुईस ने बिम्ब को कविता की आत्मा माना है। उनका मत है कि काव्य में प्रवृत्तियाँ बदलती रहती हैं, शब्द प्रयोग, छंद रीति, विषयवस्तु सब परिवर्तित होते हैं, किन्तु बिम्ब कविता के प्राणतत्व की भाँति जीवित रहता है। उन्होंने बिम्ब को, कविता को प्राणशक्ति देने वाले जादुई दर्पण का दर्जा दिया है।

दूसरी ओर बिम्बात्मकता को काव्य का अवगुण मानते हुए कुछ आचार्यों ने सपाटबयानी पर बल दिया है। इस अतिशय बिम्ब-मोह के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया छठे दशक के आरंभ में हुई तथा इस नए दौर के झण्डा बरदार डोनाल्ड डेवी हुए, जिन्होंने 'आर्टिकुलेट एनर्जी' नामक पुस्तक में टी.एस. इलियट के 'ऑब्जेक्टिव को-रिलेटिव' के सिद्धांत पर कड़ा प्रहार किया तथा परंपरागत वाक्य-विन्यास के उपयोग को काव्य-भाषा के समर्थ साधन के रूप में निरूपित किया। शीत 1997 के 'क्रिटीकल क्वार्टली' में पी.एन. फरवैक ने 'डू वी नीड द टर्म्स इमेज एण्ड इमेजरी' शीर्षक निबंध में सांगोपांग विवेचना के उपरांत यह निष्कर्ष रखा है कि परंपरागत शब्द 'मेटाफर' के रहते 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग अवांछित, अनावश्यक तथा भ्रामक है, क्योंकि इसका मूल स्रोत चित्रकला है, जो काव्येतर होने के साथ-साथ काव्य के सही रूप-बोध में भी बाधक है। अशोक वाजपेयी का भी मत है, *'नयी कविता बिम्ब में केन्द्रित रही है और अक्सर कवियों में बिम्ब का ऐसा घटाटोप तैयार हुआ कि सातवें दशक तक आते-आते कई कवियों को यह महसूस हुआ कि कविता को बिम्ब से मुक्त कराके ही उसे जीवन्त तथा प्रासंगिक रखा जा सकता है। उनके सामने बिम्ब प्रधान कविता कुछ शक की चीज बन गयी और सपाटबयानी की तरफ कई कवि झुके तथा उसे विश्वसनीय माना जाने लगा है।'*

उड़ गया, अचानक लो भूधर
फड़का अपार वारिद के पर
रव-शेष रह गये हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अम्बर

धँस गये धरा में समय शाल
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल
यों जलद यान में विचर-विचर।

वहीं गुप्त की सफाई एवं सपाटबयानी इस प्रकार थी-

'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।'

दिनकर जब गुप्त की सफाई के साथ लिखते हैं, तब उनकी काव्य भाषा इस प्रकार की रहती है-

बढ़कर मुसीबतों पर छा जा,
मेरे किशोर! मेरे ताजा!
तू स्वयं तेज भयकारी है,
क्या कर सकती चिनगारी है।

इन पंक्तियों में 'नर हो न निराश करो मन को, कुछ काम करो, कुछ काम करो' की भाषिक सफाई के साथ द्विवेदी युगीन नैतिक आग्रहों को भी सहज ही देखा जा सकता है। इसी सपाटबयानी के साथ दिनकर लिखते हैं-

बत्ती जो नहीं जलाता है,
रोशनी नहीं वह पाता है।
धर्मराज! कर्मठ मनुष्य का पथ संन्यास नहीं है,
नर जिस पर चलता है वह मिट्टी है, आकाश नहीं है।

सपाटबयानी तथा बिम्बात्मकता का कई स्थलों पर सुन्दर समन्वय भी हुआ है, ऐसा लगता है कि कविता धरती से उठकर आकाश को छूने लगी है-

महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुला कर,
बाँहों में भर लिया दौड़ गोदी में उसे उठाकर।
समा गयी उर बीच अप्सरा सुख-संभाग-नता सी,
पर्वत के पंखों में सिमटी गिरिमल्लिका-लता-सी।

द्विवेदी युगीन नैतिक आग्रहों एवं छायावादी सौंदर्य-चेतना के मिले-जुले प्रभाव के अन्तर्गत काव्य-सर्जना में जो द्वन्द्वात्मक स्थिति आती थी, उससे दिनकर अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने अपने ऊपर रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा इकबाल के परस्पर विरोधी प्रभावों को स्वीकारते हुए इसकी व्याख्या की है-

'रवीन्द्र उपयोगिता को कोई महत्व नहीं देते थे। रवीन्द्र की तरह इकबाल भी मानते हैं कि कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, किन्तु व्यक्तित्व की परिभाषा उनकी कुछ और है जो आदमी आराम में है, जो संघर्ष से दूर है, जो बड़े मकसदों को हासिल करने के लिए जद्दोजहद नहीं कर रहा है, इकबाल उस मनुष्य को व्यक्तित्वहीन समझते हैं। मुझे राष्ट्रीयता, क्रांति और गर्जन-तर्जन की कविताएँ लिखते देखकर मेरे भीतर बैठे हुए रवीन्द्रनाथ दुखी होते थे और संकेतों में कहते थे, तू जिस भूमि पर काम कर रहा है, वह काव्य के असली स्रोतों के ठीक समीप नहीं है। तब मैं असमय आह्वान में, हा-हाकार में तथा अन्य कई कविताओं में अपनी किस्मत पर रोता था कि हाय, काल ने इतना कस कर मुझे ही क्यों पकड़ लिया?'

रुदन के क्रम में इसका भी उल्लेख प्रासंगिक होगा कि पंत के प्रभाव-क्षेत्र में भी वेदना को कविता के उद्‌गम के रूप में स्वीकार किया है। पंत ने प्रथम कवि के वियोगी होने की परिकल्पना करते हुए कविता के सजल नयनों से प्रवाहित होने की बात कही है। पंत के रचना-संसार में आह से उपजे हुए गान में 'सुधि का दंश' समाया है। इसीलिए उनकी कविता 'गीला-गान' है। वेदना की ग्राह्यता एवं इसके सुप्रभाव को स्वीकारते हुए पंत ने लिखा है-

तप रे मधुर-मधुर मन!
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल
बन अकलुष उज्ज्वल औ, कोमल
तप रे विधुर-विधुर मन।

और दिनकर भी जीवन के मधुर दर्द से छुटकारा नहीं चाहते हैं-

चलने दे रेती खराद की, रुके नहीं यह क्रम तेरा,
अभी फूल मोती पर गढ़ दे, अभी वृत का दे घेरा।
जीवन का यह दर्द मधुर है, तू न व्यर्थ उपचार करे,
किसी तरह उषा तक जलने दे टिमटिम दीपक मेरा।

उन्होंने भी उपनी कविता का उद्‌गम-स्थल उपनी व्याकुल-व्यथा को बताया है। इस संदर्भ में 'द्वंद्व-गीत' की निम्नांकित पंक्तियों का उल्लेख समीचीन होगा-

मेरे उर की कसक हाय, तेरे मन का आनंद हुई,
इन आँखों की अश्रुधार ही, तेरे हित मरकन्द हुई।
तू कहता 'कवि' मुझे किन्तु आहत मन यह कैसे माने,
इतना ही है ज्ञात कि मेरी, व्यथा उमड़ कर छंद हुई।

किन्तु दूसरी ओर जब दिनकर पर इकबाल की पकड़ तगड़ी हो जाती थी, तब द्विवेदी युगीन नैतिक आग्रहों के प्रति सजग होकर वे भी कविता का ध्येय मनोरंजन मात्र नहीं मानते थे, बल्कि उसमें 'उपदेश का मर्म' भी उजागर करने की चेष्टा करते थे। लोक-मंगल को काव्यादर्श के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए वह मानते थे कि श्रेष्ठ कविता वही है जो इस भूमि को सुन्दर बनाये। इस संदर्भ में उनकी निम्नांकित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं-

बड़ी कविता कि जो इस भूमि को सुन्दर बनाती है,
बड़ा वह ज्ञान जिससे व्यर्थ की चिंता नहीं होती है।
बड़ा वह आदमी जो जिंदगी भर काम करता है,
बड़ी वह रूह जो रोये बिना तन से निकलती है।

छायावाद के स्वप्न-पाँखी कल्पना-लोक से अलग हटकर, वेदना एवं निराशावादी धरातल से प्रस्थान करते हुए दिनकर मानवीय अजेयता में आस्था रखते थे तथा वह मानते थे कि मानवीय कल्पना धारदार होती है। उनकी सुप्रसिद्ध उक्ति पर दृष्टिपात प्रासंगिक होगा-

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी,
कल्पना की जीभ में भी धार होती है;
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

इस प्रकार दिनकर एक ओर जहाँ पंत के 'स्वप्न-क्षेत्र' में विचरण करते हुए कविता को गढ़न एवं आकार देते हैं, वहीं दूसरी ओर वह मैथिलीशरण गुप्त एवं रामनरेश त्रिपाठी के आदर्शों से सिंचित भूमि पर स्वर्ग की कल्पना-परी को उतारने की चेष्टा भी करते थे। इस प्रकार जहाँ एक ओर पंत का कोमल, कान्त, कमनीय कला-जगत उन्हें आकृष्ट करता था जहाँ सर्जना की अनिंद्य सुन्दरी-

तरुवर की छायानुवाद-सी
उपमा-सी, भावकुता-सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी,
कटी-छटी नव-कविता-सी।

एक मोहक परिवेश तथा आकर्षक परिधान में है, वहीं द्विवेदी युगीन नैतिक संस्कारों तथा लोक कल्याण के आदर्शों से अनुप्राणित सर्जना क्षेत्र उन्हें अपनी ओर पौरुष तथा अजेयता के उद्घोष की गर्जना को गीतों में ढालने के आग्रह से खींचता था। यह स्थिति वस्तुतः खींचतान की ही थी, जिसमें कवि का जहाँ एक ओर व्यक्तित्व विखंडित होता था, वहीं दूसरी ओर उसकी रचना-प्रक्रिया में दरारें उभरने लगती थीं। इस स्थिति को स्वीकारते हुए *दिनकर* ने लिखा है कि-

'जिस तरह मैं जवानी भर इकबाल और रवीन्द्र के बीच झटके खाता रहा, उसी प्रकार मैं जीवन भर गांधी और मार्क्स के बीच झटके खाता रहा हूँ। इसलिए उजले को लाल से गुणा करने पर जो रंग बनता है, वही रंग मेरी कविता का रंग है।'

छायावादी तथा द्विवेदी युगीन रचना शैलियों में अंतर स्पष्ट करते हुए अपनी पुस्तक 'छायावाद' में सुप्रसिद्ध समालोचक *नावमर सिंह* ने लिखा है कि-

'हृदय के उच्छवास से शब्दों के रूप के साथ ही उनका अन्वय, क्रम और प्रवाह भी प्रभावित होता है। छायावादी भावों ने यदि शब्दों को कल्पना से रंजित और मांसल बनाया, तो अपने आवेग से उन शब्दों को एक विशेष ढंग के क्रम, संबंध और गति में भी ढाल दिया। इस तरह छायावादी वाक्य-विन्यास में भी परिवर्तन हुआ।'

द्विवेदी-युग के कवि कविता में सीधे और पूरा वाक्य लिखते थे। सामान्य बोलचाल से गद्य की तरह उनकी कविता में भी कर्ता, कर्म, क्रिया प्रायः यथाक्रम आते थे, जैसे- *हम कौन थे? क्या हो गये? और क्या होंगे अभी?*

उनके यहाँ वाक्य में दो पदों का क्रम वहीं बदलता था, जहाँ छंद के प्रवाह में बाधा पड़ती थी। छंदानुरोध के अतिरिक्त वे वाक्य में पद-क्रम को प्रायः नहीं बिगाड़ते थे।

लेकिन छायावाद के भावावेश में पदक्रम एकदम उलट-पुलट गया। अक्सर देखा जाता है कि आवेश में साधारण बातचीत में भी वाक्य में पदों का क्रम बदल जाता है। जब हम किसी के चले जाने की त्वरा को सूचित करना चाहते हैं तो सीधे-सीधे 'वह चला गया' कहने की जगह 'चला ही तो वह गया' बोलते हैं। जिस तरह आवेगों से भरे हुए बच्चे एक क्षण के लिए भी चुप नहीं बैठते और न सीधे खड़े रह सकते हैं। सीधे खड़े रहना उनके लिए दण्ड हो जाता है, उसी तरह भावाकुलता में वाक्य भी सीधे नहीं रह सकते। इसलिए छायावादी कविता में भी हम शब्दों के क्रम में काफी उलट-फेर पाते हैं।

दिनकर की रचनाओं में दोनों प्रकार के शब्द-विन्यास हमें मिलते हैं। इस संबंध में एक उदाहरण जिसमें पुनः छायावादी तथा द्विवेदी युगीन आग्रहों का सह-अस्तित्व दृष्टिगत होता है, पर्याप्त होगा-

धुंधली हुई दिशाएँ छाने लगा कुहासा।
कुचली हुई शिखा से, आने लगा धुँआ-सा।
कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है?
मुँह को छिपा तिमिर में, क्यों तेज रो रहा है?

संक्षेप में यह कहा जा सकता कि दिनकर अपनी रचना-प्रक्रिया में भाषिकी स्तर पर भी एक द्वंद्वात्मक स्थिति में रहे हैं। इस संदर्भ में *डॉ. जयसिंह 'नीरद'* की सुप्रसिद्ध कृति *'आधुनिकता के हाशिये में उर्वशी'* से निम्नांकित उद्धरण कदाचित अप्रासंगिक न होगा-

'दिनकर अपनी काव्य-रचना में सबसे अधिक भाषा की समस्या से जूझे हैं। एक ओर उनके सामने छायावादियों की इन्द्रधनुषी अनुभूतियाँ थीं और दूसरी ओर मैथिलीशरण गुप्त की सरस और सहज बोधगम्य शैली। वे दोनों की ही उपलब्धियों को अपनी कविता में पचाना चाहते थे। उन्हीं के शब्दों में- *'अनुभूति और भाव तो मुझे छायावादियों के ही अच्छे लगते थे किन्तु अभिव्यक्ति की सफाई मैं वह चाहता था जो मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी में निखरी थी।'* किन्तु उनकी यह आकांक्षा अधिक उचित नहीं मानी जा सकती। भाषा कोई उपकरण नहीं, जिसे अनुभूति में जैसे चाहे 'फिट' कर दिया जाए। वह अनुभूति के अनुरूप संयोजित और विकसित होती है। यदि अनुभूति सूक्ष्म और जटिल है, तो भाषा के सामान्य सरलीकरण से काव्य का स्तर निश्चित रूप से नीचे गिरेगा और दिनकर के समक्ष यह समस्या आई थी। *'चक्रवाल'* में वे लिखते हैं- *'कदाचित पंत के सपने को मैं मैथिलीशरण की सफाई से लिखना चाहता था, किन्तु जोखिम यह था कि दोनों*

के मिलाने से या तो पंत के सपने घायल होते थे या मैथिलीशरण के मार्ग पर मिहिका छा जाती थी।' इस प्रकार भाषा के अर्जन की इस वाह्य और नितान्त स्थूल प्रक्रिया से निराला होकर उन्हें अंततः भाषा के लिए अपने व्यक्तित्व से जूझना पड़ा और रचनाकार के लिए भाषा के अर्जन की यही प्रक्रिया आधुनिक भी थी।

यहाँ इसका उल्लेख प्रासंगिक होगा कि अपनी काव्य-यात्रा के दौरान दिनकर पर कई पाश्चात्य मनीषीगण का प्रभाव पड़ा और उनकी कविता 'आसिन के जल' के समान बिल्कुल साफ, झाग और फेन से दूर, चमकदार और निर्मल हो गई। यह सब कुछ वर्षा के मौसम बीत जाने और बाढ़ के समाप्त हो जाने जैसा था। 'नील कुसुम' में ऐसी स्वच्छ जल-सी साफ रचनाएँ हैं। यहाँ 'रश्मिलोक' की भूमिका से निम्नांकित उद्धरण अनुपयुक्त नहीं होगा-

'फिर भी इलियट, बादलेयर, रेम्बू, मेलार्मे, नीत्से और रिल्के का इतना प्रभाव अवश्य पड़ा कि मेरे 'आर्केस्ट्रा' का गर्जन वाला यंत्र शिथिल हो गया, समुद्र का फेन लुप्त हो गया, आग की लपट खत्म हो गयी, केवल अंगारे बच गये, जो क्षारहीन और निर्धूम थे। नील कुसुम में कई कविताएँ हैं, जिनकी रचना इसी मनोदशा में हुई थी। इन कविताओं में झाग और फेन नहीं है, जो कुछ है, वह शुद्ध, चमकदार, निर्मल वारि है।'

वर्षा का मौसम गया, बाढ़ भी साथ गयी,
जो बचा शेष, वह स्वच्छ नीर का सोता है।
अब चाँद और तारे इसमें निज को देखें,
आसिन का जल बिल्कुल दर्पण-सा होता है।

झाग और फेन, उद्वेलन और विस्फोट, पच्चीकारी और रंगीनी, ये सत्य को सजाते हैं, उसे खूबसूरत बनाते हैं, कभी-कभी बलवान भी बनाते हैं, किन्तु ये सत्य को आँखों से थोड़ा ओझल भी कर देते हैं। ओपेक और पारदर्शी में से श्रेष्ठ काव्य कौन है? आपेक काव्य चाहे कितना भी रंगीन और चित्रमय हो, पारदर्शी काव्य से वह हीन होता है। कविता चित्रों के कारण भी अंधी हो जाती है, रंग और सजावट के कारण भी उसकी आत्मा परदे में हो जाती है। केवल पारदर्शी काव्य को ही देखकर यह पता चलता है कि कवि कितनी गहराई से बोल रहा है-

सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे,
जो भी चाहे, ले परख जलाशय के तल को।
गहराई का वे भेद छिपाते हैं केवल,
जो जानबूझ गँदला करते अपने जल को।

किन्तु अपने द्वंद्वग्रस्त स्वभाव के कारण दिनकर पारदर्शी काव्य को श्रेष्ठतर मानते हुए भी 'उर्वशी' के रचना-क्रम में पुनः 'झाग और फेन; उद्वेलन और विस्फोट; पच्चीकारी और रंगीनी' के मोह में पड़े हैं, यह और बात है कि 'उर्वशी' का काव्य-सत्य इससे निखरा ही है। उर्वशी स्वयं को कला-चेतना का मधुमय स्रोत मानती है और उसका उद्घोष है कि सम्पूर्ण कविता उसका ही जय गान है। वह कहती है-

मैं कला-चेतना का मधुमय, प्रच्छन्न स्रोत,
रेखाओं में अंकित कर अंगों के उभार,
भंगिमा, तरंगित वर्तुलता, वीचियाँ, लहर,
तन की प्रकान्ति रंगों में लिए उतरती हूँ।
पाषाणों के अनगढ़ अंगों को काट-छाँट
मैं ही निविडस्तननता, मुष्टिमध्यमा,
मदिरलोचना, कामलुलिता नारी
प्रस्तरावरण कर भंग,
तोड़ तम को उन्मत्त उभरती हूँ।

यहीं विश्वप्रिय उर्वशी अपने आनन पर एक झिलमिल रहस्य-आवरण के पड़े होने की बात कहती हुई आग्रह करती है-

उसे हटाओ मत, प्रकाश के पूरा खुल जाने से,
जीवन में जो भी कवित्व है, शेष नहीं रहता है।
स्पष्ट शब्द मत चुनो, सुनो उनको जो धुँधियाले हैं।
ये धुँधले ही शब्द ऋचाओं में प्रवेश पाने पर
एक साथ जोड़ते अनिश्चित को निश्चित आशय से।

अपनी रचना-प्रक्रिया के दौरान धुँधले शब्दों के माध्यम से सुकुमार सपनों को 'आसिन के जल' की भाँति पारदर्शी स्पष्टता के धरातल पर उतारने में दिनकर एक प्रबल अंतर्संघर्ष की आग में दहे हैं। पर सच यह भी है कि इस दहन-क्रम में जो कुछ भी निकलकर सामने आया है, वह खरा, निखरा सोना है।

1/59, विशाल खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ (उत्तर प्रदेश)

दिनकर का व्यक्तित्व

खगेन्द्र ठाकुर

दिनकर जी को देखने का सुअवसर पहले-पहल मुझे सन् 1957 में मिला। स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए मैंने पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में दाखिला लिया था। जहाँ तक मुझे याद है, अगस्त या सितम्बर का महीना रहा होगा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का वार्षिक समारोह आयोजित था। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भवन में। उन दिनों परिषद् का कार्यालय भी सम्मेलन-भवन में ही ऊपर में था। आचार्य शिवपूजन सहाय उन दिनों परिषद् के सचिव सह-निदेशक थे। परिषद् का वार्षिकोत्सव उन दिनों साहित्य का भव्य आयोजन हुआ करता था। विभिन्न विषयों पर व्याख्यान के लिए देश भर से विभिन्न भाषाओं के विद्वान बुलाए जाते थे। तो उस वर्ष उद्घाटन व्याख्यान के लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी बुलाए गए थे। मंच पर आचार्य शिवपूजन सहाय, राजाराधिका रमण प्रसाद सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी, लक्ष्मी नारायण सुधांशु, डॉ. कोमिल बुल्के, आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', विलोचन शर्मा, आदि के बीच दिनकर जी भी थे। हम लोग कुछ मित्र नागार्जुन को घेरकर नीचे दरी पर बैठे थे। एक परिषद् कर्मी ने नागार्जुन जी से कहा, शिव जी आपको मंच पर बुला रहे हैं। नागार्जुन नहीं गए। हम उनकी बगल में बैठे, वे लेखकों को देख रहे थे। दिनकर जी खड़े थे। अभी समारोह शुरू नहीं हुआ था। लम्बा छरहरा शरीर, गौरव वर्ण का लम्बा शरीर। खादी की कुर्ता-धोती, कन्धे पर अंगवस्त्र, वह भी खादी था। उस समय तक प्रकाशित उनकी प्रायः सभी रचनाएँ पढ़ चुका था। उनकी कविताओं और समीक्षात्मक कृतियों का असर मुझ पर था। इस पृष्ठभूमि में जाहिर है कि उनकी आकर्षक माया बहुत प्रभावशाली लग रही थी। वे उन दिनों राज्य सभा के सदस्य थे। यह एक अतिरिक्त पहलू उनके व्यक्तित्व में जुड़ा हुआ था। हालाँकि हमारे जैसों पर उनके सर्जनात्मक और बौद्धिक स्वरूप का ही आकर्षण मुख्य था।

दिनकर एक श्रेष्ठ कवि, अच्छे विचारक और कुशल विवेचक थे। इन सबमें कहीं भी रूढ़िवादी या अन्धविश्वासी नहीं थे। उनके साथ उनका अपना जीवनायुक्त था, अपना-अपना व्यापक अध्ययन था, अपनी सूझ-बूझ थी और अपना उद्देश्य एवं परिप्रेक्ष्य था। उन सबने उनके व्यक्तित्व का ऊँचाई दी थी। इस ऊँचाई के बाद भी उनमें सहजता थी। सहजता के साथ एक खास प्रकार का ओज उनके व्यक्तित्व से टपकता हुआ लगता था। जैसे कविता में वे सबसे अलग दिखने और समझे जाने की कोशिश करते रहे थे, वैसे ही उनका व्यक्तित्व विद्वत मंडली में या साहित्यकारों की भीड़ में भी सबसे अलग आकर्षण पैदा करता था।

दिनकर की आवाज गम्भीर गूँज पैदा करती थी, जो देर तक श्रोताओं के मन में गूँजती रहती थी। बड़े प्रभावशाली वक्ता थे वे। उनके शब्दों में ध्वनि या प्रतिध्वनि की गूँज के साथ ही विचारों की चमक भी रहती थी। बोलते समय भी वे जैसे संघर्ष करते होते थे। बात यह है कि उनकी चेतना में यह स्पष्ट था कि उन्हें क्या करना है, क्या लिखना है, क्या बोलना है। यह सब उनकी आँखों से झाँकता रहता था, उनके चेहरों से झलकता रहता था। उनकी चेतना में यह भी स्पष्ट रहता था कि उन्हें जो कुछ करना, लिखना या बोलना है, वह किसके पक्ष में होगा और किसके खिलाफ होगा। इन मामलों यदा-कदा, जहाँ-तहाँ दृष्टि और अन्तर्विरोध होने के बावजूद अपने तो बेधड़क थे। इन विशिष्टताओं के बावजूद उनमें कुछ कसक थी कि नए लेखक उनके पास बहुत कम आते थे और अज्ञेय के इर्द-गिर्द बहुत-से लेखक थे। नागार्जुन की साख नए लेखकों के बीच ज्यादा थी। अज्ञेय ने एक जगह लिखा है कि एक बार दिनकर जी ने उनसे पूछा, आपके साथ इतने नए लेखक क्यों हैं। अज्ञेय ने उत्तर दिया, मैं नए लोगों को पढ़ता हूँ, उन पर प्रतिक्रिया व्यक्त करता हूँ। दिनकर जी नया साहित्य पढ़ते थे, नए लोगों की कविताएँ पढ़ते थे। एक बार पटना कॉलेज के बी. ए. लेक्चरर थिएटर में एक साहित्यिक-समारोह आयोजित था, जिसमें दिनकर जी, सुधांशु जी और जगन्नाथ प्रसाद मिश्र तीनों एक साथ मंच पर थे। अध्यक्षता कर रहे थे, आचार्य नलिन विलोचन शर्मा। यह बात 1958 की होगी। उसमें दिनेश जी ने आधुनिक कविता के विरुद्ध क्रम पर एक संक्षिप्त व्याख्यान दिया था। श्रोताओं में मैं भी था। मुझे याद है कि दिनकर जी ने कहा था कि कविता बदल गई है।

उनका मतलब था कि उनकी और बच्चन जी की पीढ़ी के समय हिन्दी-कविता का जो मिजाज था, वह अब नहीं है, वह बदल गया है। उन्होंने नई कविता के बदले हुए मिजाज और उसके स्वरूप का कुछ परिचय भी दिया। असल में वे नई कविता की चारित्रिक विशेषता को समझने और आत्मसात करने की भी कोशिश की। उन्होंने खुद नलिन विलोचन शर्मा का संस्मरण लिखते हुए कहा है कि एक बार दिल्ली जाने के प्रसंग में वे और नलिन जी पटना से आरा तक साथ गए और साहित्य पर बातचीत करते रहे। इसी प्रसंग में दिनकर ने कहा, 'नदी के द्वीप' मैंने पहले नहीं पढ़ सका था किन्तु जून में उसे मैंने पढ़ लिया और मेरा विचार है कि केवल भाषागत कारीगरी की दृष्टि से यह उपन्यास बिल्कुल बेजोड़ है। भाषा भी खूबियों को उन्होंने भी कबूल किया, किन्तु अन्य बातों में हम दोनों के बीच थोड़ा मतभेद-सा रहा। इसी प्रकार मैंने उन्हें अमरकान्त के सूखा पत्ता, राजेन्द्र यादव के सारा आकाश, कृष्ण सोबती की 'दाल से बिछुड़ी', रजनी पत्रिका की 'जाड़े की धूप' अमृतलाल की 'सोहाग' रे नुपूर तथा छेदीलाल, मन्नू भंडारी और शैलेश मटियानी की कहानियों के बारे में अपनी प्रतिक्रिया बतलाई। (संस्मरण और श्रद्धांजलि)। जाहिद है कि नलिन विलोचन शर्मा से बात करते हुए दिनकर जी यह बताने की कोशिश की कि वे नया साहित्य भी पड़ते हैं। वे यह मानते थे कि रचनाशील बने रहने के लिए जीवन और समाज की अध्ययन करते रहने के बाद ही नई पीढ़ी की रचनाओं को पढ़ने से लेखकों की रचनात्मकता जीवन्त बनी रहती है। एक प्रसंग में पटना में चर्चित था कि पटना विद्यालय के एक प्राध्यापक आलोचक दिनकर से मिलने गए। दोनों साहित्य के बारे में बातचीत कर रहे थे। बात करते हुए दिनकर ने कहा, जो कहिए, लेकिन आचार्य शुक्ल जैसा आलोचक आज कोई नहीं है। इस पर अध्यापक ने तपाक से कहा, तो प्रसाद और निराला जैसा कवि भी तो नहीं हैं। दिनकर जैसे व्यक्ति भी थोड़ी देर के लिए सकपकाए, लेकिन उन्होंने तुरन्त कहा, तो क्या कवि से आलोचक पैदा होता है। शुक्ल जी तो बड़े आलोचक के रूप में बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही अपनी पहचान बना चुके थे, जब प्रसाद और निराला के आने का कोई संकेत भी हिन्दी कविता में नहीं था। वह अध्यापक-आलोचक थे, डॉ. रामखेलावन पाण्डेय, जो दिनकर जी के पड़ोसी भी थे।

दिनकर का काव्य-विवेक बड़ा सजग था और उनकी इतिहास-चेतना भी जागृत एवं समृद्ध थी। इसके साथ ही उनके मन में यह भाव भी था कि उनकी कविताएँ इतिहास में कैसी जगह बना पाऐगी। यहाँ इतिहास से उनका मतलब कविता का इतिहास नहीं, बल्कि काल की गति है। एक बार पटना से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'ज्योत्सना' में एक गोष्ठी हो रही थी। नए कवि और रचनाकार उसमें ज्यादा थे। दिनकर जी भी थे। उन्होंने उपस्थित नए कवियों से पूछा, बोलो तो, मेरी कितनी और कौन-सी पंक्तियाँ जन-चेतना के इतिहास में जिन्दा रहेंगी। यह विकट प्रश्न था फिर कोई जवाब देता भी तो दिनकर जी के बारे में! यह और मुश्किल। सभी चुप रहे। संस्कृत के एक आचार्य ने तो कह दिया है, 'जीवित कविराकयो, न वर्णनोपम्'। जीवित कवियों के बारे में अपना आशय वर्णन या व्यक्त करने योग्य नहीं है। कवि जब सामने हो और पूछ रहा हो अपने बारे में, तो जवाब देना बहुत कठिन है। सबको चुप देखकर दिनकर स्वयं बोले, 'अच्छा, यह देखो कि मध्यकाल के कवि मलूकदास को लोग आज भी याद करते रहते हैं, किन पंक्तियों के आधार पर? इस पर कई लोग साथ बोल पड़े-

'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कहि गयो, सबके दाता राम॥

इस पर फिर दिनकर ने कहा, तो क्या ऐसी दो-चार पंक्तियाँ मेरी रचनाओं से लोगों के दिमाग में नहीं रहेंगी। फिर तो उपस्थित नए कवियों ने कहा, क्यों नहीं, क्यों नहीं। यह छोटा-सा प्रसंग इस बात का संकेत देता है कि दिनकर अपनी कविताओं के बारे में भ्रम में नही थे, एक रचनाकार के रूप में यद्यपि वे सदा जीवित रहना चाहते थे, लेकिन एक विवेकी और पारखी के रूप में वे अपनी ऐतिहासिक हकीकत को समझते भी थे।

दिनकर अत्यन्त लोकप्रिय कवि थे। लोकप्रियता और प्रसिद्धि उनको अपने रचनाकाल की प्रारम्भिक अवस्था और अपने जीवन की एकदम युवावस्था में ही मिल गई थी। उन्होंने खुद लिखा है, "बात यों हुई कि जब मैं सम्मेलन (बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, 1933) देखने भागलपुर पहुँचा, मुझे पता चला कि दूसरे दिन जो कवि-सम्मेलन होने वाला है, उसके लिए कविता का विषय हिमालय रखा गया है। मैं वहाँ लालू चक मुहल्ले में एक मित्र के घर ठहरा था। स्थान-संकोच के कारण सो ने की जगह मुझे बरामदे में मिली थी, जो संकीर्ण था। मुझे जो खाट मिली थी, वह भी थोड़ी नसखट थी। उसे पर जगे-जगे मैंने रातभर में पूरी कविता लिख डाली। दूसरे दिन सम्मेलन में मैंने जब उसका पाठ किया तब जायसवाल जी (श्री काशी प्रसाद जायसवाल) समेत सारी सभा झूम उठी और उतनी लम्बी कविता को तीन-चार बार पढ़वाकर सभा ने मुझे भारी प्रोत्साहन और गौरव प्रदान किया। जायसवाल जी के साथ मेरा सम्पर्क उसी समय से आरम्भ हुआ और वे जब तक जीवित रहे, उनके सहज स्नेह से मेरा आन्तरिक व्यक्तित्व बराबर सिक्त और प्रफुल्लित होता रहा। इस प्रसंग में एक अत्यन्त रोचक घटना याद आ रही है। जो मैंने अपने बुजुर्ग लेखकों से सुनी है। मैं

नहीं कह सकता एक यह घटना है या किंवदन्ती। सन् 1934 में बिहार में भयानक भूकम्प आया था। मुँगेर उसका मुख्य केन्द्र था। उसके आस-पास भागलपुर तक तो उसका प्रभाव था ही और दूर-दूर तक धरती डोली थी। भूकम्प के बाद मुँगेर में एक साहित्य-समारोह में कवि-सम्मेलन आयोजित हुआ था।

भागलपुर के सम्मेलन में तो दिनकर यूँ ही पहुँचे थे, उसे देखने और समस्या पूर्ति के तर्ज पर उन्होंने 'हिमालय' कविता लिखी थी। लेकिन 'हिमालय' को वहाँ पाठ करने के बाद तो वे हर जगह बुलाए जाने लगे। मुँगेर के कवि-सम्मेलन में भी वे बुलाए गए। उस समय मुँगेर उनका गृह जिला था। वहाँ जब वे कविता सुनाने उठे तो प्रशंसा लूटने के लिए उन्होंने 'हिमालय' सुनाना शुरू किया। अभी कुछ ही पंक्तियाँ उन्होंने सुनाई थीं कि श्रोताओं ने हल्ला किया, बन्द कीजिए, बन्द कीजिए। दिनकर जी अवाक थे। क्या बात है? फिर लोगों ने कहा, 'एक बार आपने यह कविता सुनाई तो ऐसा भयानक भूकम्प आया, फिर भूकम्प कराने का इरादा है क्या?' सम्भव है लोगों ने समझा हो कि दिनकर के आह्वान पर शंकर ने प्रलय नृत्य कर ही दिया और धरा हिल उठी, भूकम्प हो गया। अब फिर नहीं। कविता का यह प्रभात, अन्धविश्वास के रूप में ही सही, देखकर दिनकर प्रसन्न हुए। उन्होंने दूसरी कविता सुनाई। तो 'हिमालय' कविता और उसके माध्यम से कवि की प्रसिद्धि और लोकप्रियता का यह दूसरा सबूत है।

दिनकर को अपनी लोकप्रियता का एहसास रहा है, लेकिन वे लगातार श्रेष्ठता के लिए भी प्रयत्नशील रहे, हालाँकि उन दिनों वे लोकप्रियता में ही झूमते थे, जो स्वाभाविक था। वे कहते हैं, "उन दिनों कला और काव्य की प्रक्रिया तथा उद्देश्य के विषय में मुझे बहुत थोड़ा ज्ञान था, इसलिए लोग जब मुझ पर कला हीनता का आक्षेप करते तब इस आक्षेप को मैं ठीक से समझ नहीं पाता था, और समझता भी तो जैसा कह चुका हूँ, उसे दूर करने की धीरता का मुझमें अभाव था। इतना नहीं, सभी कवियों की भाँति मुझमें भी अपनी कविताओं के प्रति कोई शंका या संदेह नहीं था।" श्रोताओं से जो वाहवाही उन्हें मिल रही थी, उस पर उनका कवि मजे में तैर रहा था। तुलसीदास ने लिखा है, 'निज कवित्त केहि लागि न नीका' यह कवियों के लिए आम बात है। दिनकर के समकालीन और मौज-मस्ती के कवि तथा दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण में एक भगवतीचरण वर्मा ने कहा है, 'निज कवित्त मोंहि लागहीं नीका'। तो दिनकर ने भी आगे चलकर लिखा है, 'ज्यों-ज्यों मेरी कविताएँ जन-समुदाय को आन्दोलित करती गईं, मेरा आत्मविश्वास जोर पकड़ता गया कि 'मैं समय का पुत्र हूँ और मेरा सबसे बड़ा कार्य यह है कि मैं अपने युग के क्रोध और आक्रोश को अधीरता और बेचैनियों को सबलता के साथ छन्दों में बाँधकर सब के सामने उपस्थित कर दूँ। मेरे पीछे और मेरे चारों ओर भारतीय मानवता खड़ी थी, जो पराधीनता के पार्थ से पूछने को बेचैन थी। अपने वैयक्तिक जीवन में मैं स्वयं ऐसे युवकों से घिरा था, जो देश सेवा का व्रत लिये हुए थे और जो समय के इंगित मात्र पर अपना जीवन होम कर देने को तैयार थे। उनकी अनुभूतियाँ और उनका उत्साह मुझे अत्यन्त प्रिय और पवित्र लगता था तथा कविताएँ रचते समय मुझे कई बार ऐसा महसूस होता, मानों मैं उन्हीं की वेदना और आग को अपनी भाषा में लिख रहा हूँ।"

ऊपर की पंक्तियों से दिनकर के कवि-व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया की झाँकी मिलती है। लेकिन इन पंक्तियों की सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक व्याख्या करें तो स्पष्ट होगा कि असल में स्वाधीनता संग्राम की एक विशेष प्रक्रिया और अवस्था से दिनकर के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। सन् 1921-22 का असहयोग आन्दोलन जब चौरी-चौरा कांड के बाद हिंसा-अहिंसा के नाम पर महात्मा गांधी ने स्थगित कर दिया, तो रातभर में, खास करके नई पीढ़ी में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इसी परिस्थिति में क्रान्तिकारी-आन्दोलन, कम्युनिस्ट-आन्दोलन, मजदूर किसान आन्दोलन, छात्र-नौजवान आन्दोलन तेजी से बढ़ रहा था, और उनका बढ़ावा और विकास जिस दिशा में हो रहा था, उसी को राजनीति के इतिहास में वामपंथ कहा गया है। यही दौर है जब गांधी जी ने संगठित किसान-आन्दोलन के बदले बारदोली में सत्याग्रह करने के लिए वल्लभ भाई पटेल को तैनात किया, सामूहिक किसान-आन्दोलन के बदले व्यक्तिगत-सत्याग्रह। यह दौर कांग्रेस के द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार कर लेने के बाद का है। इसी दौर में सुभाषचन्द्र बोस और जवाहरलाल नेहरू में उस व्यक्तित्व का विकास हुआ, जिसे इतिहास में वामपंथी कहा गया है। इन्हीं दिनों हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के नेता भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु और चन्द्रशेखर आजाद की शहादत देश में गूँज रही थी। ऐसे ही समय में प्रेमचन्द ने कहा कि अब मैं बोलशेविक उसूलों का कायल हो गया हूँ। इन्हीं दिनों जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि मार्क्सवाद ने मेरे दिमाग के अनेक अँधेरे कोनों को प्रकाशित कर दिया। 1931 में राहुल जी और आचार्य नरेन्द्र देव ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र का हिन्दी अनुवाद किया और बेनीपुरी, किशोरी प्रसन्न सिंह, गंगादास सिंह, राहुल जी आदि ने बिहार सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की (अखिल भारतीय नहीं, जैसा दिनकर जी ने अपने संस्मरण में लिखा है। अखिल भारतीय सोशलिस्ट पार्टी 1934 में कायम की गई।) यही समय है, जब स्वामी

सहजानन्द सरस्वती किसान आन्दोलन में सक्रिय हुए। इन सारी बातों का प्रभाव दिनकर के व्यक्तित्व पर और उनकी कविताओं पर है। 'बारदोली-विजय' से लेकर 'हिमालय' और 'हाहाकार' तक की रचनाओं में इसका सबूत मिलता है।

मोकामा वही जगह है, जहाँ खुदीराम बोस 1908 के मुजफ्फरपुर बमकांड के बाद गिरफ्तार किए गए थे, बाद में उन्हें फाँसी की सजा दी गई। दिनकर ने बेगूसराय ओर बरौनी के दियारा इलाके में, खुद अपने गाँव में देखा था कि किसान को किस तरह दिनभर मेहनत करने के बाद भी भर पेट अन्न नहीं मिल पाता।

यह शहादत की पुकार, देश की युवापीढ़ी की युयुत्सा है, क्रान्तिकारिता है, स्वाधीनता और समानता पाने की अधीरता है। दिनकर खुद लिखते हैं 'सच तो यह है कि उन दिनों बिहार के जो भी युवक समाजवाद और स्वाधीनता के लिए निर्भीक चिन्तन करते थे, उनमें बेनीपुरी का अन्यतम स्थान था। राष्ट्रसेवी युवकों की प्रवृत्ति उस समय यह थी कि गांधी जी देश के सबसे बड़े नेता हैं, अतएव उनका साथ देना देशभक्ति का काम है। किन्तु गांधी जी की अहिंसक नीति को वे युवक सन्देह से देखते थे।"

दिनकर के व्यक्तित्व का एक राजनीतिक पहलू है, जो कविताओं में तो प्रमुखता से है ही, जीवन के प्रति उनके नजरिये में भी है। उनकी यही राजनीति बेनीपुरी और उनके माध्यम से अन्य सोशलिस्ट नेताओं के साथ उनके सम्पर्क के कारण बनी और विकसित हुई। 'सामधेनी' नाम का अपना प्रसिद्ध कविता-संग्रह दिनकर ने बेनीपुरी को समर्पित किया। समर्पण में ये पंक्तियाँ लिखी गईं-

हैं कुमुद फूलते जहाँ, धन्य वह विधुमंडल
दिन के प्रवाह से बचे किन्तु किस भाँति कमल?
विधु पर आ जाएँ मिले अगर आधार एक
आत्मा के शिल्पी, बढ़ा किरण का तार एक।

इस कविता में दिनकर ने बेनीपुरी को अपनी आत्मा का शिल्पी कहा है। इसको और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, बेनीपुरी को अपनी आत्मा का शिल्पी कहकर मैंने अत्युक्ति नहीं की थी। वे सचमुच मेरी आत्मा के शिल्पी और मेरे कवि-जीवन के निर्माता थे। राष्ट्रीयता का अंकुर मेरे भीतर 'छात्र-सहोदर' पत्र ने उगाया था। वह अपने ढंग से बढ़ता भी आ रहा था। किन्तु जब मैं बेनीपुरी की संगति में आया, वह पौधा लहलुहान होकर वृक्ष बन गया। अपनी तत्कालीन कविताओं में कई बातें मैंने बेनीपुरी जी के मुख से सुनकर लिखी थीं। उनके मुख से चिनगारियाँ छिटकती थीं, उन्हें मैं मंजूषा में सजाकर उन्हीं के सामने रख देता था और वे मारे खुशी के उछल पड़ते थे।"

दिनकर के व्यक्तित्व का विकास किस तरह हुआ यह उनके उपर्युक्त कथन से पता चलता है। लेकिन यह भी सच है कि वे बेनीपुरी से एक सीमा तक ही प्रेरित हुए। बेनीपुरी स्वाधीनता-संग्राम में शामिल थे, दिनकर उससे अलग थे। बेनीपुरी सक्रिय राजनीति में थे, दिनकर राज्यसभा का सदस्य (1952 में) होने के पहले तक नौकरी करते रहे और ब्रिटिश सरकार की सेवा में भी रहे। छात्र जीवन में उन्होंने बेनीपुरी के कहने पर साइमन कमीशन के बहिष्कार-आन्दोलन में शामिल होने के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे। हस्ताक्षर में संकल्प यह था कि साइमन कमीशन के खिलाफ जुलूस में भाग लेंगे, उसके लिए मरना भी पड़े तो उन्हें उनका पश्चत्ताप नहीं होगा। दिनकर जी जुलूस में शामिल हुए, जुलूस में हजारों नौजवानों को देखकर सरकार ने दमन नहीं किया, बल्कि सच यह है कि भीड़ जमा होते देखकर सरकार ने जुलूस निकालने की अनुमति दे दी। इस तरह की गतिविधियों में भाग लेने का स्वाभाविक नतीजा है कि दिनकर में अन्याय के विरुद्ध आक्रोश और कविताओं में आवेशपूर्ण राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति मिलती है।

दिनकर के व्यक्तित्व के विकास-क्रम को देखने से एक महत्त्वपूर्ण बात यह सामने आती है कि उनमें अन्तर्विरोध है। उनके जीवन और काव्य-चेतना में मेल नहीं है। इस बात को उन्होंने खुद स्वीकार किया है। "मेरी राष्ट्रीय कविताओं और मेरे जीवन के बीच एक प्रकार की भिन्नता रही है, जो उस व्यक्ति के चारित्रिक विकास का प्रतीक है, जो कहता कुछ और करता कुछ और है। फिर भी यह सत्य है कि वचन और कर्म के बीच की खाई अत्यन्त संकीर्ण थी और किसी भी धक्के के साथ मेरा कर्म मेरे वचनों का अनुगामी बन सकता था किन्तु इस धक्के से मैं बराबर बचना चाहता था और अन्त तक मैं उससे बच भी गया।" आगे चलकर दिनकर ने यह भी साफ-साफ लिखा, "यह सत्य है कि योद्धा का पद मुझे मन से पसन्द नहीं था, न मैं कलम छोड़कर तलवार उठाने को तैयार था।" वास्तव में इस बात को लेकर वे बहुत द्वंद्व में रहे, द्विधा में रहे। राष्ट्रीयता या राजनीति के लिए संघर्ष की बात उनमें बाहरी परिस्थिति के दबाव से आई या उन कविताओं से जिनसे उनको प्रसिद्धि मिली तो वे उस तरह ओजपूर्ण देशभक्ति की कविताएँ लिखते रहे। वे तो खुद ही कहते हैं, "हिमालय, ताण्डव, नयी दिल्ली, विपथगा और दिगम्बरी आदि कविताओं को पढ़कर लोगों ने मुझे क्रान्तिकारी कवि मान लिया था, गरचे मैं ब्रिटिश सरकार की नौकरी में था। यह सम्भव है कि जनता का प्रेम मुझे इस

कारण कुछ और अधिक प्राप्त हुआ कि मैं अंग्रेजों की नौकरी में रहकर भी देशभक्ति और क्रान्ति की कविताएँ लिख रहा था किन्तु क्रान्ति की कविताएँ लिखकर मुझे पूरा संतोष नहीं था।" कर्म और वचन के बीच की खाई को पाटने के लिए जिस धक्के की आदत दिनकर को थी, वह उन्हें कभी नहीं लगा, ओर वे अन्त तक बच भी गए, तो इसका एक बड़ा कारण यह भी रहा होगा कि दिनकर लिखते ही थे; जनता को संगठित करने के आन्दोलन में नहीं थे, स्वाधीनता संग्राम में शरीक नहीं हुए। दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि वे सोशलिस्ट की संगति में थे, जो वर्ग-संघर्ष से अलग थे। राहुल जी सोशलिस्टों को बाबू क्रान्तिकारी कहा करते थे। ऐसे सोशलिस्ट कम्युनिस्ट आन्दोलन का विरोध करते थे, जो अंग्रेजों को ही नहीं, अपने देश के भी पूँजीपतियों को भी पसन्द था। बचने के लिए दिनकर जी ने अपनी अनेक उग्र कविताएँ 'अमिताभ' के नाम से छपवाई थीं। दिनकर ने खुद लिखा है, "आरम्भ में मेरी कुछ रचनाएँ दिनकर के नाम से न छपकर 'अमिताभ' के नाम से छपी थीं। इसका श्रेय भी बेनीपुरी को ही था। 'युवक' में जो कविताएँ कम खतरनाक समझी जाती थीं, वे तो दिनकर के नाम से छपती थीं, मगर जिन कविताओं को गंगा और बेनीपुरी ज्यादा खतरनाक समझते थे, उन्हें वे अमिताभ के नाम से प्रकाशित करते थे।" दिनकर जी समझते हैं कि ऐसा करने का श्रेय मुख्यतः गंगा बाबू (गंगाशरण सिंह) को था। एक प्रसंग ऐसा है, जिसके कारण दिनकर फेर में पड़ते-पड़ते रह गए, लेकिन इसके लिए वे बेनीपुरी पर कुछ नाराज हुए। सन् 1940 की बात है, जनता के विशेषांक के लिए उनसे कविता माँगी गई, उन्होंने कविता डाक से भेजी और लिख दिया, 'यह तो दिनकर की सृष्टि नहीं, अमिताभ देव का दुष्ट कर्म', जिसका मतलब यह था कि उसे दिनकर नहीं अमिताभ के नाम से छापें। कविता सेंसर हो गई, तब छापने के लिए बेनीपुरी को दे दी गई। कविता थी 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दुल बोल', जो उस समय आन्दोलन छेड़ने के प्रश्न पर गांधी जी की दुविधा पर चोट करती है। इस पर कलक्टर ने कवि को बुलाकर चेतावनी दी। इसी पर दिनकर लिखते हैं, 'अचरज मुझे इस बात पर हुआ कि कलक्टर के यहाँ से बुलाहट आने के पूर्व बेनीपुरी जी से मेरी मुलाकात मोतीहारी में होने वाले किसान-सम्मेलन में हो चुकी थी। उन्हें मालूम था कि कविता सेंसर हुई है मगर उन्होंने मुझसे इस बात का जिक्र तक नहीं किया। अगर उन्होंने मुझे बता दिया होता कि कविता सेंसर होकर छपी है, तो कलक्टर को मैं कोई मेल खाता हुआ उत्तर दे सकता था, लेकिन उन्हें मेरी नौकरी का कुछ भी ख्याल नहीं हुआ।" दिनकर ने गांधी जी के लिए तो लिखा, 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दुल बोल,' लेकिन वे स्वयं संग्राम में शामिल होने और नौकरी करते रहने की द्विधा से मुक्त नहीं हो सके। उपरोक्त कथन से तो लगता है कि वे द्विधा में नहीं थे। वे नौकरी करते रहना चाहते थे और करते रहे, इसीलिए तो बेनीपुरी पर थोड़ा नाराज भी हुए कि उन्होंने सेंसर वाली बात दिनकर को नहीं बताई। सन् 42-43 से तो उन्होंने प्रचार-विभाग में काम किया और बिहार विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय प्रोफेसर नियुक्त होने तक वे प्रचार-विभाग में ही रहे, जो अब जन-सम्पर्क विभाग कहलाता है। 'जनतंत्र का जन्म' शीर्षक कविता उन्होंने जन-सम्पर्क विभाग में रहते हुए ही उसकी पत्रिका बिहार समाचार के लिए लिखी थी, जो 26 जनवरी, 1950 के गणतन्त्र विशेषांक में छपी थी। उसी वर्ष वे प्रोफेसर नियुक्त किए गए। कहा जाता है कि राज्य सरकार के प्रचार-विभाग या जन-सम्पर्क विभाग के उपनिदेशक पद से मुक्त होते हुए दिनकर ने एक कविता लिखी, जिसमें प्रचार-विभाग में काम करने की पीड़ा की अभिव्यक्ति हुई है। काम करने की पीड़ा और मुक्त होने की खुशी दोनों एक साथ है। मुक्ति उन्होंने खुद नहीं ली बल्कि कांग्रेस सरकार से खासकर बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. श्रीकृष्ण सिंह से अपने अच्छे सम्बन्ध के आधार पर मिली। अब वे साहित्य के शिक्षक बन रहे थे, वह भी स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए, तो उन्हें स्वाभाविक खुशी थी। जब तक वे अध्यापक रहे उन्होंने कड़ी मेहनत की सुयोग्य अध्यापक बनने के लिए। 'संस्कृति के चार अध्याय' उसी अध्ययन का सुपरिणाम है। खैर प्रचार विभाग से मुक्त होते समय उन्होंने 'इस्तीफा' शीर्षक कविता लिखी, उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

विनय मान मुझको जाने दो
शेष गीत छिपकर गाने दो

मुझसे तो न सहा जाएगा
अब असीम यह कोलाहल

जी न सकूँगा पंक झेल अब
पी न सकूँगा ग्लानि गरल।

वास्तविकता चाहे जो हो, लेकिन इस कविता की भाषा, उनकी पीड़ा मार्मिक ढंग से व्यक्त कर रही है। लेकिन कविता और व्यक्तित्व के अन्तर्विरोध से बाद में भी उनको मुक्ति नहीं मिल पाई क्योंकि देश के आजाद हो जाने के बाद सत्ता की राजनीति की छत्रछाया में आ गए लेकिन मनोदशा तो इस तरह की पहले भी थी ही। बेनीपुरी वाले संस्मरण में ही उन्होंने लिखा है "जेल से वापस आते ही उन्होंने (बेनीपुरी) 'नव संस्कृति संघ' की स्थापना की तथा गेहूँ और गुलाब उनका नारा बन गया। सन् 1945 में ही इसका आभास मिलने लगा था कि अब भारत स्वाधीन हो जाएगा। अतएव बेनीपुरी ने यह ऐलान किया कि गेहूँ का

जमाना अब खत्म हो रहा है। अगला जमाना गुलाब का है यानी जन-आन्दोलन का काम अब समाप्त है।" इस पर आगे चलकर दिनकर ने लिखा, "नाम से मैं दिनकर था, किन्तु काम से असली सूर्य बेनीपुरी जी थे। मैं चाँद की तरह ठंडक में अपना काम कर रहा था।"

सन् 1952 में वे बिहार से राज्यसभा के सदस्य हो गए। डॉ. श्रीकृष्ण सिंह के निधन (31 जनवरी, 1961) के बाद दिनकर जी श्री बाबू को श्रद्धांजलि देते हुए जो लेख लिखा, उसमें लिखा है, "श्री बाबू का मैं कोपभाजन भी बना था और कृपा पात्र भी। किन्तु कृपा की मात्रा इतनी अधिक थी कि कोप की अब याद नहीं है।

सन् 1952 में जब मुझ पर यह सनक सवार हुई कि प्रोफेसरी छोड़कर मैं संसद का सदस्य बनूँ, तब श्री बाबू ने मेरे ही हित में मेरी इस इच्छा का विरोध किया था और कहा था कि जहाँ की इस बीच में आप क्यों आना चाहते हैं?।" कोप भाजन बनने का कारण दिनकर ने यह बताया है कि "मैं बेनीपुरी का दोस्त था, गंगाशरण और अवकेशव का मित्र था, जयप्रकाश का कवि और धनराज जी, मथुरा, रामविलास, चन्द्रलेखा और रामनारायण का भार था।" एक दिलचस्प बात ध्यान में आ रही है। दिनकर जी ने जयप्रकाश नारायण पर एक कविता लिखी थी, जो 'सामधेनी' में संकलित है। उस कविता की ये पंक्तियाँ मशहूर रही हैं-

ये नखत अमा के बुझते हैं
सारा आकाश तुम्हारा है
सेनानी करो प्रयाण कि
भावी इतिहास तुम्हारा है।

किवदन्ती की तरह यह बात प्रचलित रही है कि इस कविता को पढ़कर श्री बाबू ने दिनकर पर अपनी नाराजगी व्यक्त की। भावी इतिहास जयप्रकाश का है, तो हम लोग क्या घास छीलेंगे? खैर 1952 में दिनकर बिहार विधान सभा से चुने जाने पर राज्य सभा में गए। दिनकर कहते हैं कि इसके पीछे तत्कालीन बिहार कांग्रेस के अध्यक्ष लक्ष्मी नारायण सुधांशु की भूमिका थी। दिनकर कहते हैं, "सुधांशु जी ने मेरी वासना को उकसा दिया (उपरोक्त)।" दिनकर की राजनीति का यह नया दौर था। वे कांग्रेसी हो चुके थे। कांग्रेस में रहकर भी उन्होंने कांग्रेस पर व्यंग्य किया, 'परशुराम की प्रतीक्षा' में तो नेहरू पर भी व्यंग्य है। इस कविता का नेहरू उनकी गद्य-कृति 'लोकदेव नेहरू' से एकदम भिन्न हैं। 'भारत का रेशमी नगर' कविता में दिनकर ने दिल्ली पर जो व्यंग्य किया है, वह वास्तव में सत्ताधारी राजनीति और उसके नेताओं पर है, उसका विस्तार करके पूँजीवादी नेताओं पर व्यंग्य भी माना जा सकता है। 'समर शेष है' में भी उन्होंने सत्ता पर चोट की है-

सकल देश में हालाहल है
दिल्ली में हल्ला है।

यह अजीब बात है कि दिनकर की मानसिकता सत्ता के साथ और सत्ता के विरोध को एक साथ पालती रही। आजादी मिलने के बाद भी यह प्रवृत्ति व्यक्त होती रहती है। आजादी की पहली ही वर्षगाँठ के अवसर पर उन्होंने 'वर्षगाँठ' शीर्षक कविता लिखी, जिसमें वे कहते हैं-

टोपी कहती है, मैं थैली बन सकती हूँ
कुरता कहता है, मुझे बोरिया ही कर लो
ईमान बेचकर कहती हैं, आँखे सबकी
बिकने को हूँ तैयार, खुशी से जो दे दो।

मुझे लगता है कि उनकी भावनाएँ घटनाओं से प्रभावित, प्रेरित होती रही हैं, इसीलिए एक संगति का अभाव मिलता है।

डॉ. लोहिया 1963 में लोक सभा में उपचुनाव जीतकर पहुँचे। दिनकर ने एक कविता लिखी। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

तब भी माँ की कृपा, मित्र अब भी अनेक आए हैं
बड़ी बात तो यह कि लोहिया संसद में आए हैं
मुझे पूछते हैं, दिनकर कविता में जो लिखते हो
वह है सत्य या कि वह जो तुम संसद में दिखते हो?

दिनकर इस अन्तर्विरोध की व्याख्या करके उसका औचित्य सिद्ध कर सकते थे, करते भी थे। लेकिन उससे मुक्त कभी नहीं हो पाए। डॉ. लोहिया को उन्होंने उत्तर दिया-

मैं कहता हूँ मित्र, सत्य का मैं भी अन्वेषी हूँ
सोशलिस्ट ही हूँ, लेकिन कुछ अधिक जरा स्वदेशी हूँ
बिल्कुल गलत 'कमून', सही स्वाधीन व्यक्ति का घर है
उपयोगी विज्ञान मगर मालिक सबका ईश्वर है।

दिनकर ने डॉ. लोहिया को कम्युनिस्ट मानकर जबाव दिया, इसीलिए 'जरा स्वदेशी है' और 'स्वाधीन व्यक्ति' का सहारा लिया गया है। हकीकत यह है कि डॉ. लोहिया और अन्य सोशलिस्ट नेता कम्युनिस्टों को यही सब कहा करते थे। बहरहाल यह दिनकर जी की कमजोर नस थी, लेकिन उन्हें खुशी थी कि वे इस कमजोरी के बावजूद निभा ले गए।

दिनकर जी देश-विदेश बहुत घूमे और जहाँ भी गए सोहरत हासिल की। वारसा के अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन का विस्तार से जिक्र उन्होंने अपनी पुस्तक देश-विदेश में किया है। देश-विदेश में लिखित एक और अनुभव बहुत प्रासंगिक है भारत के लोगों के लिए।

दिनकर जी से मेरा कोई निकट सम्पर्क नहीं था। लेकिन कई बार मिलने का सुयोग मिल गया था। मई, 1962 की बात है, मैं उस समय संथाल परगना से स्थाई समिति का सदस्य था। विचार-विमर्श के क्रम में मैंने कहा, सम्मेलन की स्थिति यह है कि कोई जीवित रचनाशील लेखक इस ओर ताकता भी नहीं है। अतः इसके काम-काज में कुछ ऐसा परिवर्तन करना चाहिए कि नए लेखकों के लिए आकर्षण पैदा हो। बैठक में दिनकर जी, सुधांशु जी, शिवपूजन बाबू आदि भी थे। मैंने सुना दिनकर जी बगल में बैठे शिवजी से धीरे से पूछे यह नौजवान कौन है? शिवजी से मैं परिचित था। उन्होंने बताया, बाद में मैंने उन्हें प्रणाम किया। वे मुस्कुराते हुए चले गए। वे 1963 में विश्वविद्यालय के कुलपति होकर भागलपुर आए। वहाँ मैं उनसे कई बार मिला। वे छावनी कोठी बनैली राज की कोठी में रहते थे। मैं गया, तो उनकी बैठक भरी हुई थी। वे बोले, 'आइए, खगेंद्र बाबू, कहिए कैसे आना हुआ है?' मैंने कहा, 'मैं शोध कर रहा हूँ। उसी के बारे में आपसे बात करनी है।' फिर उन्होंने कुछ आवेश के साथ आगे झुककर कहा, अरे साहब, हिन्दी को शोध से भगवान बचाएँ। क्या शोध होता है यहाँ, तुलसी की अलंकार योजना, सूर की वात्सल्य भावना, हिन्दी-कविता में राष्ट्रीय चेतना, यह सब भी कोई शोध का विषय है?' मुझे ध्यान आया भागलपुर में ही एक अध्यापक ने राष्ट्रीय भावना वाले विषय पर शोध प्रबन्ध तैयार किया था और उसमें दिनकर जी पर पचास पृष्ठ लिखे गए थे। दिनकर जी को परीक्षक बनाया गया था, लेकिन हुआ ऐसा कि उन्होंने शोध प्रबन्ध को रद्द कर दिया। खैर हिन्दी शोध के बारे में अपनी धारणा व्यक्त करते हुए उन्होंने रुककर मुझसे पूछा, हाँ तो आपका विषय क्या है? मैंने कहा, 'छायावादी काव्य की भाषा'। यह सुनकर वे अपनी कुर्सी की पीठ से सटकर पीछे हो गए और बोले, 'अरे यह तो है शोध का विषय, इसका मतलब है कि कुछ काम भी हो रहा है! मैं चुप रहा। वे कुछ देर छायावादी काव्य के माध्यम भाषा में हुए विकास पर बोलते रहे और फिर उठते हुए बोले, 'अच्छा विषय है, फिर कभी आइए। भागलपुर का तो यह हाल है कि साहित्य पर बात करने वाला आदमी नहीं मिलता। वे अन्दर गए और मैं बाहर की ओर। एक बार और मैं उनसे वहीं मिला था। उनसे मिलना कठिन नहीं था और बातें भी मजे से होती थीं।

कुछ दिनों के बाद ही वे भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति पद से इस्तीफा देकर चले गए। वे दिल्ली में रहते थे और मेरे लिए दिल्ली दूर। अतः फिर मिलना नहीं हो सका। लेकिन दिनकर जी से मिलने और थोड़ी-बहुत ही बात करने का जो अवसर मिला, उसकी गहरी छाप मेरे मन पर है। यदि वे भागलपुर में कुलपति पद पर और भी रहे होते, तो शायद और भी मुलाकातें और बातें हुई होतीं। एक बार मैं उनसे अपने कॉलेज के शिक्षकों की कुछ समस्याएँ लेकर मिला, तो बातें सुनकर कहने लगे, भाई, आप तो लेखक हैं, लेकिन लगता है कि आप कानूनची भी हैं। मैंने कहा, मैं तो कानून नहीं जानता, सिर्फ यह पूछने आया हूँ :

पापी कौन मनुज से उसका न्याय चुरानेवाला,
या कि न्याय खोजते, विघ्न का सीस उड़ानेवाला!

यह सुनकर वे बोल उठे, अरे वाह मियाँ की जूती मियाँ के सिर, खूब है। अच्छी बात है, मैं देखूँगा, क्या कर सकता हूँ। लेकिन उन्हें देखने का अवसर नहीं मिल पाया। कुछ ही दिनों के बाद वे चले गए। दिल्ली वे गए, लेकिन दिल्ली में उन्हें पहले की तरह जमने की जगह नहीं मिली। वे भीतर से टूटने लगे। पारिवारिक स्थिति का भी उसमें योगदान था। 'हरिनाम' लेने लगे वे, यह मुख्य नहीं है, बल्कि यह है कि गिरि को दो टूक कर देने का हौसला रखने वाले कवि ने हार मान ली। वे लगातार ऊपर ही बढ़ते-चढ़ते गए, पीछे नहीं देखा कभी, देखा भी तो पीछे लौटे कभी नहीं, फिर भी वे महसूस कर रहे थे कि वे हार गए। अन्त में वे पांडिचेरी आश्रम जाने लगे थे। उनका अन्त भी तो वहीं हुआ।

समय-असमय का तनिक न ध्यान!
मोहिनी; यह कैसा आह्वान?

क्षितिज, जनशक्ति कॉलोनी, पथ संख्या 24,
राजीव नगर, पटना, बिहार - 800024

दिनकर का पूर्ववर्ती काव्य : १९२९-१९४७

प्रो. सत्यकाम

दिनकर का काव्य-संसार लगभग चार दशकों, 1929 से 1970 तक फैला हुआ है जिसमें 1947 का साल बहुत महत्वपूर्ण है। 1947 में उनका 'बापू' शीर्षक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ था और फिर चार वर्ष बाद ही, 1951 में, 'इतिहास के आँसू' कविता-संकलन प्रकाशित हुआ। देश की आजादी ने दिनकर के जीवन और कविता को कई तरह से प्रभावित किया था। 1947 के पूर्व वे गुलाम भारत की विदेशी सरकार के नौकर थे और कई तरह की बेधती हुई नजरों और ब्रिटिश नौकरशाहों के तने चेहरों की छाया में कविता लिखनी थी। एक अपेक्षाकृत बड़े, निर्धन परिवार के पालन-पोषण के लिए उनका सरकारी नौकरी करना और उसे बचाए रखना जरूरी था। दिनकर उन लोगों में नहीं थे जो राष्ट्रभक्ति के उफान में पारिवारिक दायित्व को भूल जाते हैं। सम्भव है, कोई इसे दिनकर की कमजोरी ही मान ले, पर इसका एक मानवीय पहलू भी है, इसे नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता। पर विशेष प्रशंसा की बात यह है कि दिनकर ने पारिवारिक दायित्व और अपनी काव्य-रचना में अद्‌भुत सन्तुलन बनाए रखा। तेरह साल की उम्र में ही मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की (1928), उनकी उम्र बीस साल की थी। तेरह साल की उम्र में ही उनका विवाह हो चुका था। मैट्रिकुलेशन की शिक्षा उन्होंने बड़े भाई के त्याग के फलस्वरूप प्राप्त की थी। उनकी बी. ए. की पढ़ाई भी परिवार ने मर-खप कर ही सम्पन्न करायी होगी। बी.ए पास करने के बाद (1932) एम.ए. में प्रवेश न ले पाने का कारण आर्थिक ही था। बी.ए. पास करने के बाद नौकरी की तालाश में भटकना और एक कस्बे के गैर-सरकारी स्कूल में अध्यापकी करना उनकी मजबूरी ही थी। अतः 1934 में जब उन्हें छोटे स्तर की ही सरकारी नौकरी मिली तो वह एक बड़ी नियामत की तरह थी। बेनीपुरी जैसे उनके घनिष्ठ मित्र और पं. बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे प्रख्यात संपादक ने उन्हें सरकारी नौकरी न करने की भी सलाह दी। पर यह दिनकर के नैतिक दायित्व को गवारा न हो सका। दिनकर जब 11 वर्ष के थे, तब 1919 में, गांधी जी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन, जिसमें कुछ दिन बाद सविनय अवज्ञा का कार्यक्रम भी जुड़ गया था, आरम्भ हुआ था। 1922 में चौरी-चौरा की हिंसात्मक घटना के कारण गांधी जी ने आन्दोलन वापस ले लिया था। इन राजनीतिक घटनाओं ने उनके बाल-मन पर कई प्रभाव डाले, इसका कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं। पन्द्रह साल की उम्र तक (1923) दिनकर की दुनिया गाँव-घर तक ही सीमित थी। इसके बाद हाई स्कूल की पढ़ाई के लिए उन्हें लगभग 15 कीलोमीटर दूर स्थित मोकामा हाई स्कूल की रोज यात्रा (आधी पैदल और आधी रेल अथवा नाव-स्टीमर से) करनी पड़ती थी। इस परिस्थिति में, नौकरी को लक्ष्य मानकर, पढ़ाई करने वाला किशोर देश की राजनीतिक स्थिति से कितना प्रभावित होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। 1922-27 की अवधि, वैसे भी, एक प्रकार से राजनीतिक पस्ती की अवधि थी। काँग्रेस के अन्य प्रमुख नेता तो पहले ही जेल में बन्द किये जा चुके थे, फरवरी 1922 में चौरीचौरा की घटना के बाद गांधी जी को छह वर्ष की सजा सुनाकर जेल के अन्दर कर दिया था। 1924 में जेल से छूट जाने पर भी वे कोई आन्दोलन आरम्भ करने की मनःस्थिति में नहीं थे। लगभग इसी समय दिनकर का बाल-विहग कविता के आकाश में पर तौलने लगा था। स्वयं दिनकर ने अपनी काव्य-यात्रा का आरम्भ 1924 में, जबलपुर से निकलने वाली पत्रिका 'छात्र-सहोदर' में प्रकाशित कविता से माना है। डॉ. राजेश्वर प्रसाद सिंह के अनुसार पटना से प्रकाशित 'देश', कन्नौज से प्रकाशित 'प्रतिभा', बेगूसराय से प्रकाशित 'प्रकाश' आदि पत्रिकाओं में भी उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगी थीं। यदि ये कविताएँ उपलब्ध होती तो हम इनके आधार पर दिनकर की संवेदन-प्रकृति का कुछ अनुमान कर सकने की स्थिति में होते। पर ये कविताएँ आज उपलब्ध नहीं हैं।

जब रामधारी ने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की (1928), देश की राजनीति ने, एक लम्बे मौन के बाद, करवट ली। भारत में संवैधानिक सुधार के उद्‌देश्य से साइमन से कमीशन 3 फरवरी, 1928 को बम्बई पहुँचा और वहीं से उसका 'स्वागत' अखिल भारतीय हड़ताल और प्रदर्शन से शुरू हो गया। लगभग साल भर तक, जब तक कमीशन देश के विभिन्न प्रान्तों में जाकर पिठ्ठू देशी राजाओं और काँग्रेस-विरोधी राजनीतिक दलों के साथ विचार-विमर्श का नाटक करता रहा, यह विरोध और प्रदर्शन जारी रहा और घोर सरकारी दमन के बावजूद कमीशन जहाँ-जहाँ गया उसके जोरदार विरोध में कोई

कमी नहीं आयी। पटना कॉलेज, जहाँ के दिनकर छात्र थे, ब्रिटिश शासन की प्रतिष्ठा की नाक था। कॉलेज के बाहर भी ब्रिटिश शासन का आतंक अपने चरम पर था।

भारतीय युवकों की राजनीतिक सक्रियता और किसानों-मजदूरों के आन्दोलन का भी यही समय हैं अगस्त 1928 में छात्रों का अखिल बंगाल सम्मेलन हुआ जिसका सभापतित्व जवाहरलाल नेहरू ने किया था। उत्तर प्रदेश में किसानों ने रैयती कानूनों में सुधार के लिए बड़े पैमाने पर आन्दोलन शुरू कर दिया था। गुजरात में भी जमीन की लगान-वृद्धि के सरकारी प्रयत्न का किसानों ने जबरदस्त विरोध किया। 1928 में सरदार वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में किसानों ने लगान बन्दी का आन्दोलन आरम्भ किया और उनकी जीत हुई। इसे इतिहास में 'बारदोली सत्याग्रह' के नाम से जाना जाता है।

1928 में ही गुप्त क्रन्तिकारियों की संस्था 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन' ने (अक्टूबर' 1928 में स्थापित 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन) नये समाजवादी परिप्रेक्ष्य में अपना राजनीतिक कार्यक्रम शुरू किया था। अक्तूबर, 1928 में, साइमन कमीशन-विरोध के प्रदर्शन-क्रम में, लाला लाजपत राय पुलिस के लाठीचार्ज में घायल और अस्पताल में दिवंगत हो गये थे। इस घटना की प्रतिक्रिया में 17 दिसम्बर, 1928 को क्रान्तिकारियों ने पुलिस दल के अफसर सॉन्डर्स की हत्या कर दी और 8 अप्रैल, 1929 को सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव एसेम्बली में बम का जोरदार धमाका किया। अप्रैल, 1930 में सूर्य सेन के नेतृत्व में चटगाँव में सरकारी हथियारों का भंडार लूट लिया गया। इसके जवाब में सरकार द्वारा क्रान्तिकारियों का कठोर दमन किया गया। फरवरी, 1931 में चन्द्रशेखर आजाद पुलिस के साथ मुठभेड़ में शहीद हुए। 23 मार्च, 1931 को भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को और 1933 में सूर्य सेन को फाँसी दी गयी। सैकड़ों की संख्या में क्रान्तिकारियों को जेलों में और कुछ अंडमान के कुख्यात सेलुलर जेल में बन्द कर दिया गया। इस प्रकार क्रान्तिकारी आन्दोलन का तो लगभग अन्त हो गया, पर स्वाधीनता आन्दोलन का दूसरा मोर्चा पुनः सक्रिय हो गया। एक लम्बे मौन के बाद गांधी जी पुनः सक्रिय राजनीति में प्रविष्ट हुए। 1929 के काँग्रेस के ऐतिहासिक लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य की घोषणा करने वाला प्रस्ताव पारित हुआ। 26 जनवरी, 1929 को आजादी का नया तिरंगा झंडा फहराया गया और 26 जनवरी, 1930 को 'प्रथम स्वतन्त्रता दिवस' मनाने का निश्चय किया गया। अधिवेशन में सविनय अवज्ञा आन्दोलन जारी करने की घोषणा भी कर दी गयी। 12 मार्च, 1930 को प्रसिद्ध दांडी यात्रा के रूप में गांधी जी ने नमक कानून के भंग के साथ सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आरम्भ कर दिया। इसके समर्थन में सारे देश में हड़ताल, प्रदर्शन, गैर-कानूनी नमक-निर्माण, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार लगान बन्दी और चौकदारी कर न चुकाने के सत्याग्रह आन्दोलन का कार्यक्रम आरम्भ हो गया। इसी समय पेशावर में एक उल्लेखनीय घटना घटी। गढ़वाली सैनिकों के दो प्लाटूनों ने, यह जानते हुए भी कि उन्हें कोर्टमार्शल और जेल की लम्बी सजा भुगतनी होगी, एक अहिंसक सत्याग्रही भीड़ पर गोली चलाने से इनकार कर दिया।

सरकार ने पहले की ही तरह इस आन्दोलन का भी उत्तर कठोर दमन से दिया, जो स्वाभाविक ही था। गांधी जी और अन्य नेताओं के साथ लगभग 90000 सत्याग्रही जेलों में बन्द कर दिये गये। काँग्रेस को अवैध घोषित कर दिया गया। समाचारों के कठोर निरोध द्वारा राष्ट्रीय प्रेस की जबान बन्द कर दी गयी। सरकारी आँकड़ों के अनुसार पुलिस की गोलीबारी में 110 से ज्यादा व्यक्ति मारे गये और 300 से ज्यादा घायल हुए। इसके अलावा पुलिस लाठी-चार्ज में हजारों की संख्या में लोग जख्मी हुए।

1930 में साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए भारतीय नेताओं और ब्रिटिश सरकार के प्रवक्ताओं की प्रथम गोलमेज कॉन्फ्रेंस लन्दन में हुई, जिससे काँग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थापित कर दिया और सितम्बर, 1931 में गांधी जी द्वितीय गोलमेज कॉन्फ्रेंस में शिरकत करने के लिए इंग्लैंड गये। पर उनकी जबरदस्त वकालत के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने 'डोमिनियन स्टेट्स' की तत्काल मंजूरी के रूप में स्वतंत्रता की राष्ट्रीय माँग को अस्वीकार कर दिया।

इसी बीच देश के विभिन्न हिस्सों में किसानों के बीच असंतोष की आग सुलगने लगी थी। विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के कारण उत्पादों के मूल्य में बहुत कमी हो गयी थी और किसानों के लिए लगान और दूसरे कर देना असह्य हो गया था। उत्तर प्रदेश में काँग्रेस ने लगान में कमी करने का आंदोलन आरम्भ कर था। दिसम्बर, 1931 में काँग्रस ने लगान बन्दी और कर न देने का अभियान शुरू कर दिया। इसके जवाब में सरकार ने 26 दिसम्बर को जवाहर लाल नेहरू को गिरफ्तार कर लिया। उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश, बिहार, आन्ध्र, बंगाल और पंजाब में भी किसान आन्दोलन शुरू हो गये थे। अतः भारत गांधी जी के पास सविनय अवज्ञा आन्दोलन को पुनः जारी कर देने के सिवा कोई विकल्प नहीं था।

अब सरकार को पुनः राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने का बहाना मिल गया। 4 जनवरी, 1932 को गांधी जी और काँग्रेस के अन्य नेता को अवैध घोषित कर दिया गया। इसके बाद कठोर सरकारी दमन के फलस्वरूप सविनय अवज्ञा आन्दोलन धीरे-धीरे कमजोर होता गया और, अंततः, काँग्रेस ने घोषित रूप में मई, 1933 में इसे स्थगित किया और मई 1934 में समाप्त कर दिया। जिस समय दिनकर ने सरकारी नौकरी शुरू

की (1934 का अन्त) उस समय राजनीतिक वातावरण प्रायः शान्त था।

इस तथ्य पर विचार होगा कि 1928-1932 की अवधि में, जबकि स्वाधीनता आन्दोलन अपने चरम पर था और दिनकर अभी बिहार के पटना कॉलेज में पढ़ ही रहे थे, उनकी काव्य-रचना की प्रकृति कैसी थी। दिनकर की राजनीतिक जागरूकता का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि उन्होंने इसी समय इस विषय पर 'दस-बारह गीत' लिखे थे जो 1928 में प्रकाशित, और सम्प्रति अनुपलब्ध, 'वारदोली विजय' में संकलित थे। इस संकलन की अनुपलब्धता के कारण दिनकर की प्रारम्भिक काव्य-चेतना के बारे में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता, पर शीर्षक और स्वयं कवि की स्मृति में बीच पंक्ति 'जगत्तारिणि, खद्दरधारिणि, वन्दे। विलसन-मद-मारिणि, वन्दे।' से अनुमान किया जा सकता है कि इसमें उनकी राष्ट्रीय चेतना को वाणी मिली होगी। इसके पहले भी दिनकर ने 'वीर बाला' और 'मेघनाद वध' शीर्षक काव्य लिखा था, पर वे अधूरे रह गये थे और उनकी पांडुलिपियाँ आज अनुपलब्ध हैं। दिनकर की दूसरी उपलब्ध रचना 'प्रणभंग' नामक लघु प्रबन्धकाव्य है, जो 1928 में ही लिखी गयी थी और 1929 में प्रकाशित हुई थी। प्रणभंग में दिनकर की राष्ट्रीय चेतना की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं हुई है। इसका कारण उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन का सरकार द्वारा क्रूर दमन और दिनकर की पारिवारिक परिस्थितियाँ ही रही होंगी। प्रायः ही ऐसी स्थितियों में औपनिवेशिक शासन के दमन और आतंक में जीने वाले राष्ट्रवादी लेखक एक तरह की व्याजारोपित राष्ट्रीयता, जिसे अंग्रेजी में लिखने वाले इतिहासकार Vicarious Nationalism कहते हैं, का मार्ग अपनाते हैं, जिसमें वर्तमान विदेशी शासन की आलोचना, उनके स्थान पर किसी दूसरे तत्व को प्रतिरोपित करके की जाती है। हिन्दी साहित्य के पूरे आधुनिक इतिहास में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति का यही रूप था और दिनकर ने भी प्रणभंग में यही मार्ग अपनाया है। इसमें कहानी तो महाभारत से ली गयी है, पर उसके माध्यम से यह कहा गया है कि गुलामी का अपमान भरा जीवन जीना कलंक है और यदि हम इसी प्रकार अपमान का विष पीकर जीवित रहते हैं तो यह हमारे वीर पूर्वजों का भी अपमान है। दिनकर वैचारिक दृष्टि से गांधी जी की अपेक्षा क्रान्तिकारियों के अधिक निकट थे। इसलिए युद्ध के पहले जब युधिष्ठिर के मन में पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म की द्विधा पैदा होती है, तो अर्जुन, भीम आदि एक साथ आक्रोश से फट पड़ते हैं-

अपना अनादर देखकर भी आज हम जीते रहे।
चुपचाप कायर-से गरल के घूँट यदि पीते रहे।
तो वीर जीवन का कहाँ रहता हमारा तत्व है?
इससे प्रकट होता यही हममें न अब पुरुषार्थ है।

दिनकर के अनुसार यदि भारत गुलाम था, तो इसका कारण भारत से पुरुषार्थ का लोप था। उनके अनुसार स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए देश को अहिंसा से अधिक पौरुष, दर्प और ओज की जरूरत थी। वे भारतीय युवकों में वही पौरुष और दर्प देखना चाहते थे। वस्तुतः कृष्ण के रूप में दिनकर का वही युवक सामने आता है-

थी नेत्र की प्रति-ज्योति से खर अग्निधारा छूटती।
थी रोष में प्रत्यंग से ज्वाला भयंकर फूटती।।
वह सृष्टि-नाशक सूर्य-सा करने चला संहार था।
कँपने लगा उस काल उसके रोष से संसार था।।

किसी को यह देखकर आश्चर्य हो सकता है कि जब छायावाद अपने प्रकर्ष पर था और नये कवि पन्त, प्रसाद, निराला आदि का अनुमान कर रहे थे, दिनकर ने अपेक्षाकृत पुराने पड़ चुके मैथिलीशरण गुप्त को अपना काव्यादर्श बनाया। इसका कारण यह था कि दिनकर प्रेमचन्द की तरह अपने 'समय' की आवाज की अनसुनी नहीं करना चाहते थे। पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम अपने 7 जुलाई, 1935 के पत्र में उन्होंने लिखा थाः "इधर मेरे मन में यह विचार उठ रहा है कि जिस प्रकार आपने कस्मैः देवाय की चर्चा की थी उसी प्रकार कविता और युगधर्म पर भी कुछ लिखा जाय। आज की कविताओं की रंगत देखिये। सोलह आने में चार आना भी तो युग की वाणी होनी चाहिए। कहते हैं, एक युग के सन्देश लिखने वाला कवि एकदेशीय होता है। इसलिए जो कवि Poet of all times बनना चाहता है उसे Eternal feeling को अपनी कविता में बाँधना चाहिए। यह किसी अंश में सत्य है किन्तु सर्वांश में नहीं, क्योंकि ये भाव भी जिन्हें हम एकदेशीय कहते हैं दरअसल सार्वदेशीय हैं। इनकी सत्ता भी सभी युगों में थी और रहेगी। अगर एकदेशीय भी मानें तो सभी कवियों को या कुछ विशेष कवियों को यंग के विचारों पर लिखना ही चाहिए। आगे के लोग हमें भूल जायेंगे तो भूल जायँ। कम से कम हमारे युग को तो इससे कुछ फायदा होगा। यह एक प्रकार का बलिदान है और शायद कवि के लिए इससे बड़ा बलिदान और कुछ भी नहीं हो सकता। किन्तु क्या जिस युग में जवाहरलाल नेहरू अपनी परम रूपवती प्रियतमा का बिछोह सह कर अपने व्रत का पालन कर सकते हैं, जिस युग में इतिहास के ज्योति-बीज मिट सकते हैं, उस युग में कवि अपनी कीर्ति का बलिदान नहीं कर सकते? 'भारत-भारती' के कवि की प्रतिष्ठा 1935 में भले ही न हो पर 1918 में वह राष्ट्र-विधायक साबित हुआ और यह पता लगाना कठिन है। राजनीतिक के विकास में भारत-भारती ने कितनी सहायता की। सम्भव है सौ बरस बाद मैथिलीशरण गुप्त जी को लोग भूल जाये पर तो भी भारतीयता, राष्ट्रीयता की नींव को यह ज्ञान रहेगा कि और चीजों के साथ-साथ उसकी सत्ता 'भारत-भारती' पर भी कायम है। क्या देश सेवा के लिए अपने को भुला देना एक महत् पुण्य-कार्य नहीं है? फिर हमारे कवि युगधर्म की वाणी क्यों

नहीं बोलते? दिनकर की इस 'युग-चेतना को ध्यान में रखे बिना उनकी कविता के साथ न्याय नहीं किया जा सकता।

प्रणभंग के बाद स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले दिनकर के प्रकाशित कविता-संकलन और प्रबन्धकाव्य हैं- रेणुका (1935), हुंकार (1947), बापू (1940), द्वन्द्वगीत (1940), कुरुक्षेत्र अन्य सभी कविता-संकलन हैं। द्वन्द्वगीत फुटकल पदों का संग्रह है और धूप-छाँह, किशोर पाठकों के निमित्त रचित कविताओं का संकलन है। अतः दिनकर के काव्य-विकास और काव्य-प्रकृति को समझने के लिए रेणुका, हुकार, रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, कुरुक्षेत्र, छूपछाँह, सामधेनी और बापू ही महत्वपूर्ण हैं। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना जरूरी है कि किसी संग्रह-विशेष के प्रकाशन के पूर्व लिखित सारी कविताएँ उसमें समाहित कर ली गयी हों, ऐसा नहीं है। मसलन 1929-35 अवधि में लिखित कुछ कविताएँ रेणुका (1964) में और 936-39 अवधि में रचित कुछ कविताएँ हुंकार (1939), रसवन्ती (1940), दिल्ली (1954) और मृत्ति-तिलक (1964) में और 1936-39 अवधि में रचित कुछ कविताएँ हुंकार (1939) में संकलित न होकर रसवन्ती (1940) और मृत्तितिलक (1964) में संकलित हुई हैं। इसी प्रकार 1941-47 में रचित अधिकतर कविताएँ तो सामधेनी (947) में संकलित हैं पर कुछ कविताएँ इतिहास के आँसू (1951), धूप और धुआँ (1964) में भी संकलित हुई हैं। अतः दिनकर के काव्य-विकास को समझने के लिए उनके कविता-संग्रहों के प्रकाशन-तिथि क्रम से अधिक महत्व कविताओं के लेखन-तिथिक्रम का है, जिसे ध्यान में रखना जरूरी है।

दिनकर की पहली उपलब्ध कविता 'बागी' है, जो 1929 में रचित और 1935 में रेणुका में प्रकाशित हुई थी। यह सात पंक्तियों का छन्द बोस्टन जेल में शहीद हुए यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु पर लिखा गया था। बड़ी कुशलता से केवल एक शब्द 'बागी' का प्रयोग करके एक सामान्य स्वजन-वियोग के भाव को सरकार की नजरों में एक खूँखार क्रान्तिकारी से जोड़ दिया गया है। निश्चिय ही कविता से साथ पाद टिप्पणी में जोड़ी गयी सूचना बाद के संस्करण की है। हुंकार में संग्रहीत इसी काल (1933) की 'दिल्ली' शीर्षक कविता में भी हँसते-हँसते मौत को गले लेने वाले क्रान्तिकारी युवकों का स्तवन किया गया है-

अपनी गरदन रेत-रेत असि की तीखी धारों पर
राजहंस बलिदान चढ़ाते माँ के हुंकारों पर।
पगली! देख, जरा कैसी मर मिटने की तैयारी?
जादू चलेगा न धुन के पक्के इन बनजारों पर।

इस तरह की कविताएँ 1933 के दमनकारी युग में लम्बे कारावास खतरा उठाकर ही लिखी जा सकती थीं। इनसे दिनकर की निर्भीक राष्ट्रीय चेतना का पता चलता है।

इस संकलन की पहली कविता मंगल आह्वान (1933) कवि की उस बेचैनी का परिचायक है, जिसमें वह अपनी विषम पारिवारिक परिस्थितियों में भी अपनी राष्ट्र-चेतना को वाणी देना चाहता है- "भावों के आवेग प्रबल मचा रहे उर में हलचल/पर, हूँ विवश, गान से कैसे/जग को हाय! जगाऊँ मैं, इस तमिस्र युग-बीच ज्योति की/कौन रागिनी गाऊँ मैं?... दो आदेश, फूँक दूँ शृंगी,/उठें प्रभाती-राग महान,/तीनो काल ध्वनित हों स्वर में,/जागे सुप्त भुवन के प्राण... प्रियदर्शन इतिहास कंठ में/आज ध्वनित हो काव्य बने,/ वर्तमान की चित्रपटी पर/भूतकाल सम्भाव्य बने।" इसी राष्ट्रीय भावबोध की कविताएँ 'कस्मैः देवाय', 'पाटलिपुत्र की गंगा से' (1931), 'कविता की पुकार', 'तांडव', 'हिमालय के प्रति' (1933), बोधिसत्व', 'मिथिला' (1934), 'प्रेम का सौदा' (1935) आदि हैं, जो रेणुका में संगृहित हुईं। हुंकार (1939) में प्रकाशित 'दिल्ली' (1934), 'कविता का हठ' (1934), 'परिचय', 'मेघरन्ध्र में बजी रागिनी', 'वसन्त के नाम पर', शब्दबेध (1935), आदि कविताओं को भी इन्हीं कविताओं के साथ रख कर देखना चाहिए। इन कविताओं में भारत के गौरवमय अतीत की स्मृति, वर्तमान व्यवस्था को बदलने की कामना, शौर्य और बलिदान के बल पर अतीत की समृद्धि को प्राप्त करने की तड़प आदि भावों की व्याजारोपित अभिव्यक्ति हुई है। उद्देश्य सरकार को चमका देकर युवा पाठकों को क्रान्ति-चेतना से अनुप्राणित करना था। 'मिथिला' शीर्षक कविता में मिथिला औपनिवेशिक भारत की तसवीर बन कर उभरी है- "मैं पतझड़ की कोयल उदास?'/बिखरे वैभव की रानी हूँ,/मैं हरी-भरी हिमशैल-तटी की विस्मृति करुण कहानी हूँ।" 'कस्मैः देवाय?' में कवि अपने वर्तमान से आहत होकर गौरवशाली अतीत की याद करता है- "दिल्ली की गौरव-समाधि पर/आँखों ने आँसू बरसाये;/सिकता में सोये अतीत के/ज्योति-वीर स्मृति में उग आये।... मैं निज प्रियदर्शन अतीत का/खोज रहा सब ओर नमूना,/ सच है या मेरे दृग का भ्रम? लगता विश्व मुझे यह सूना।" इस अतीत-स्मरण में कवि अपने वर्तमान को नहीं भूल पाता। वह देखता है कि संसार 'दुर्वह शस्त्रों के भार' से कराह रहा है, फिर भी अपने को 'सभ्य' कहनेवाला समाज 'युगव्यापी संहार' से संतुष्ट नहीं है।

औपनिवेशिक शोषण इसी साम्राज्यवादी-पूँजीवादी साजिश का परिणाम था। कवि लिखता है- "देख, कलेजा फाड़ कृषक/दे रहे हृदय-शोणित की धारें;/बनती ही उन पर जाती हैं। वैभव की ऊँची दीवारें/धन-पिशाच के कृषक मेघ में/नाच रही पशुता मतवाली,/ आगन्तुक पीते जाते हैं/ दीनों के शोणित की प्याली।" इन पंक्तियों में आये 'कृषक', 'वैभव की ऊँची दीवार', 'आगन्तुक' आदि के सन्दर्भ भारतीय परिवेश को सांकेतिक रूप में इंगित करते हैं। कवि को इसका समाधान क्रान्ति में दिखाई पड़ता है। रूस में यह क्रान्ति पहले ही हो चुकी थी, अतः कवि 'लेनिन के दिल की चिनगारी' के रूप में रूस में इस क्रान्ति का आह्वान करता है।

'पाटलिपुत्र की गंगा से' में कवि पाठक की स्मृति को जगाना चाहता है कि कभी विजयी चन्द्रगुप्त के चरणों पर झुक कर यूरोपीय सैल्यूकस ने 'मनुहार' किया था और "जगती पर छाया करती थी/कभी हमारी भुजा विशाल,/बार-बार झुकते थे पद पर/ ग्रीक-यवन के उन्नत भाल।"

दिनकर की कविताओं में उनका राष्ट्र-प्रेम अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। वे अपने पाठकों को अपने गौरवमय अतीत का स्मरण करने को ही नहीं कहते, बल्कि गाँवों की ओर जाने का भी निमन्त्रण देते हैं। आज (इक्कीसवीं सदी में) भारत भले ही गाँवों से नगरों की ओर आ रहा हो, पर दिनकर के समय में सचमुच 'भारत माता ग्रामवसिनी' थी। उस समय गाँवों की प्रकृति, पेड़-पौधों, धूल-धूसरित पगडंडियों, सूखी धरती, मुरझाए पौधों का आत्मीयतापूर्ण गान राष्ट्र-प्रेम का दिव्य रूप था। इसलिए कविता कवि से कहती है-

नालन्दा-वैशाली में तुम रूला चुके सौ बार,
धूसर भुवन-स्वर्ग-ग्रामों-में कर पायी न विहार।
आज यह राज वाटिका छोड़ चलों कवि वनफूलों की ओर।

और वह पाठक को वहाँ खड़ा कर देता है जहाँ -

स्वर्णचला अहा! खेतों से उतरी सन्ध्या श्याम परी,
रोमन्थन करती गायें आ रहीं रौंदती घास हरी।
घर-घर से उठ रहा धुँआ, जलते चूल्हे बारी-बारी,
चौपालों में कृषक बैठ गाते 'कहँ अटके बनवारी?
पनघट से आ रही पीतवसना युवती सुकुमार,
किसी भाँति ढोती गागर यौवन का दुर्वह भार।

इस कविता में कवि का गाँव के प्रति जो रागात्मक भाव व्यक्त हुआ है, वह वस्तुतः प्रकारान्तर से राष्ट्र-प्रेम ही है। 'कहँ अटके बनवारी' और 'किसी भाँति ढोती गागर' में संवेदनशील पाठक को औपनिवेशिक शासन में पीड़ित पराधीन भारत की व्यथा की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

गाँव से कवि का रागात्मक सम्बंध कितना गहरा है, इसका बोध इन पंक्तियों से होता है-

कवि! अषाढ़ की इस रिमझिम में धनखेतों में जाने दो,
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो।
दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,
रोऊँगी खलिहानों में, खेतों को हर्षाने दो।

किसानों की खलिहानों में रोने की नियति तो औपनिवेशिक शासन की अनिवार्य देन थी, जिसका अभूतपूर्व अंकन प्रेमचन्द ने भी किया है। इस अनिवार्य नियति के सन्दर्भ में खेतों में, जो आशा की डोर में बँधे दुखी किसानों का एकमात्र उत्सव है, 'पर्व मनाने' की कल्पना कितनी करुण है, यह सहृदय संवेद्य है। यह पूरी कविता औपनिवेशिक शासन में भारतीय किसान की दारुण नियति की महागाथा है। कविता कहती है-

ऋण-शोधन के लिए दूध-घी-बेच-बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़गें।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाड़ूँगा हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी।
इतने पर भी धन-पतियों की होगी उन पर मार,
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार।

कविता इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है कि यह कवि के वास्तविक अनुभव से पैदा हुई है। दिनकर को देश की गरीबी, अशिक्षा, पिछड़ेपन, सामाजिक विषमता आदि का पूरा बोध था और वे यह भी जानते थे कि इसके मूल में भारतीय प्रजाति की हीनता नहीं, जैसा अंग्रेज इतिहासकार प्रचार कर रहे थे, बल्कि अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीति थी। आजादी की लड़ाई के शुरूआती दिनों में ही रमेशचन्द्र दत्त आदि विद्वान अंग्रेजों की औपनिवेशिक आर्थिक नीति का पर्दाफाश कर चुके थे और एक ग्रामीण निर्धन परिवार का सदस्य होने के कारण दिनकर को इसका प्रत्यक्ष बोध भी था। अतः उन्होंने अपनी कविताओं में भारतीय दैन्य का जीता-जागता रूप प्रस्तुत कर दिया है। इसके साथ ही उन्होंने इस स्थिति के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि दिनकर 'कविता' नहीं 'समय' लिख रहे थे। सामंती शोषण पर उन्होंने लिखा' "देख, कलेजा फाड़ कृषक/दे रहे हृदय शोणित की धारें;/बनती ही जातीं उन पर/वैभव की ऊँची दीवारें।" इसी सन्दर्भ में 'तांडव' शीर्षक कविता का सौन्दर्य और उसकी प्रासंगिकता समझी जा सकती है। दिनकर इस साम्राज्यवादी-पूँजीवादी समाज की असलियत को समझते थे। उन्होंने इस कविता में लिखा है-

मिटे राष्ट्र उजड़े दरिद्र जन,
आह! सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित-शोषण

और उन्होंने भगवान शिव का आह्वान करते हुए कहा - "गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो,/लगे आग इस आडम्बर में,/वैभव के उच्चाभिमान में,/अहंकार के उच्च शिखर में,/स्वामिन्, अंधड़-आग बुला दो, जले पाप जग का क्षण-भर में।"साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और महाजनीवाद की तिमुँही ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध कविता का यह उद्घोष वाणी की चरम सार्थकता है।

'हिमालय के प्रगति' शीर्षक कविता में (जो बाद के संस्करणों में 'हिमालय' शीर्षक से छपी है) कवि देश की अतीत को याद करता है- *'तू पूछ अवध से, राम कहाँ?/वृन्दा! बोलो, घनश्याम कहाँ?/ओ मगध कहाँ मेरे अशोक?/वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ?'* इन पंक्तियों से यह नहीं समझना चाहिए कि कवि अपने कथित और विवादास्पद गौरवशाली अतीत में पलायन करना चाहता है। वस्तुतः इसका उद्देश्य अंग्रेज शासकों

को यह बताना था कि उनका जातीय श्रेष्ठता का दावा मिथ्या है और भारतवासियों का अतीत उनके अतीत की तुलना में कहीं ज्यादा उज्ज्वल है। कस्मैः देवाय', 'पाटलिपुत्र की गंगा से' और 'मिथिला' शीर्षक कविताओं में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त हुए हैं। भारतीय अतीत गौरव के पुनः स्मरण से कवि अंग्रेज और अनुयायी बुद्धिजीवियों द्वारा पैदा की गयी युवको की हीन भावना को मिटा देने का आकांक्षी है। यह 'इतिहास के प्रति अवैज्ञानिक दृष्टिकोण' नहीं है, जैसा कुछ आलोचकों का मानना है। इसके विपरीत यह उस दुष्प्रचार के प्रत्याख्यान का भावना-दीप्त प्रयास है, जो अंग्रेज और उनके अनुगामी इतिहासकारों की अवैज्ञानिक और दूषित इतिहास-दृष्टि से प्रेरित था। कवि के मन में भारत के अतीत और वर्तमान को लेकर कोई 'द्वन्द्व' भी नहीं है। वह अच्छी तरह जानता है कि भारत ऐतिहासिक कारणों से ब्रिटेन का उपनिवेश बना हुआ है और वह उस औपनिवेशिक शोषण से जर्जर हो चुका है। कवि संकट कराल, /व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे/ डँस रहे चतुर्दिक विधि व्याल।' और इसके लिए वह जरूरी समझता है कि देश के युवकों में आत्मविश्वास, स्वाभिमान, आजादी का सपना और बलिदान की आकांक्षा हो। वह बुद्धि के मिथ्याजाल को भावना की तलवार से, इतिहास के प्रपंच को कविता के आवेग से मिटा देना चाहता है। इसीलिए वह हिमालय से कहता है-

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

दिनकर इतिहास के विद्यार्थी थे, अतः उन्हें इस बात अच्छी तरह बोध था कि यूरोपीय साम्राज्यवपादी ताकतें किस प्रकार एशियाई और अफ्रीकी देशों को अपने उपनिवेश में बदल रही थीं और उनका रक्त चूस रही थीं। 'मेघरन्ध्र में बजी रागिनी' में अफ्रीका पर फासीवादी इटली के आक्रमण पर कवि का आक्रोश व्यक्त हुआ है। भारत भी उनकी इसी औपनिवेशिक आर्थिक नीति का शिकार था। दिनकर ने अपनी 'तांडव' शीर्षक कविता में लिखाः

मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्र जन,
आह! सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित शोषण।

दिनकर की राष्ट्रवादी कविताओं का पहला दौर 1934 में समाप्त होता है, जबकि वे सरकारी नौकरी में नहीं आये थे। 1935-47 का समय दिनकर की काव्य यात्रा का वह दौर है जिसमें उन्हें उसी औपनिवेशिक सरकार की नौकरी करनी थी, जिसके विरुद्ध उन्हें कविता लिखनी थी। 1935 तक सरकार की नजर उनकी कविताओं पर नहीं पड़ी थी, पर रेणुका के प्रकाशन के बाद उनकी प्रसिद्धि ने सरकार के कान खड़े कर दिये। बनारसी दास चतुर्वेदी के नाम 12 सितम्बर 1939 को लिखे उनके पत्र से ज्ञात होता है कि लगभग 1936 से ही सी.आई.डी. उनके पीछे लग गयी थी और सरकार की तरफ से इन्हें मिलनेवाली धमकी, चेतावनी और कैफियत का सिलसिला शुरू हो गया था। कारण चाहे जो रहे हों, पर सरकार उन्हें परेशान ही कर रही थी, नौकरी से बरखास्त नहीं कर रही थी। पर दिनकर ने जैसे तय कर लिया था कि वे स्वयं इस्तीफा नहीं देंगे। जैसा दिनकर के पत्र से ज्ञात होता है, इसका कारण केवल पारिवारिक उत्तरदायित्व ही नहीं था, बल्कि सरकार को चुनौती देने का भाव भी था। किया उन्होंने इतना ही कि अब कविताओं में प्रयुक्त शब्दों पर संयम बरतने लगे ताकि बात भी कह दी जाए और वे कानून की पकड़ाई में भी न आ सकें। अपनी इस मनःस्थिति में लिखित कुछ कविता-पंक्तियों का हवाला भी दिनकर ने अपने उस पत्र में लिखा था : "...पाँच वर्षों की दूरी तय करके अभी मैं अपने में वही उन्मेष और जोश पाता हूँ और मेंरी यह जिद्द बरकरार चली आ रही है कि मैं झुकूँगा नहीं। अब झुकने की बात भी नहीं है क्योंकि अपने जीवन और भावना के बीच मैंने एक प्रकार की हारमोनी पैदा कर ली है। विश्लेषण करने पर मुझे मालूम होता है कि इस सामंजस्य का आधार मेरी यह वृत्ति है कि मैं अपनी भावना के साथ चलता रहूँगा, अगर इसके कोई कैटास्ट्रॉफी आती हो तो आया करे।" इसके प्रमाण में उनहोंने जो पंक्तियाँ उद्धृत हैं वे भी दृष्टव्य हैं-

फेंकता हूँ लो तोड़मरोड़, अरी निष्ठुर बीन के तार
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख, फूँकता हूँ भैरव हुंकार
नहीं जीते-जी सकता देख, विश्व में ढँका तुम्हारा भाल
वेदना मधु का भी कर पान, आज उगलूँगा गरल कराल

फोड़ पैठूँ अनन्त पाताल? लूट लाऊँ वासव का देश?
चरण पर रख दूँ तीनो लोक? स्वामिनी करो शीघ्र आदेश।
चाहती हो बुझना यदि आग, होम की शिखा बिना सामान
अभय दो कूद पड़ूँ जय बोल, पूर्ण कर लूँ अपना बलिदान।

अपने 17 सितम्बर, 1945 के पत्र में दिनकर ने चतुर्वेदी जी को लिखा था-The post I hold now is very degrading and now, ...I wonder, how could I tolerate it for two years. अपने 18 फरवरी, 1952 के पत्र में उन्होंने चतुर्वेदी जी को लिखा- "...अपने जानते मैंने नौकरी में अब तक अपमान का अनुभव तो किया है। किन्तु कभी भी इस भय से मेरी लेखनी नहीं रुकी कि मेरी नौकरी पर कोई खतरा होगा। भावों का दलन तो कभी-कभी किया है, मगर, नौकरी बचाने के लिए नहीं, बल्कि अन्य कारणों से। और बंधनों का अपने लिए मैं कुछ उपयोग भी मानता रहा हूँ। सरकारी बंधन रहने के कारण ही मैंने देश के लिए वेदना और आक्रोश का अनुभव एक विचित्र रूप से किया और यही विचित्रता वह ऐंठन है जिसे मेरी राष्ट्रीय अथवा क्रान्तिकारी कविताओं में

विच्छिति उत्पन्न हुई है। नेशनल वार फ्रंट में रहते हुए मैंने दो बार इस्तीफे दिये थे, मगर, इसलिए नहीं कि देश में मेरी निन्दा हो रही थी, बल्कि इसलिए कि अपने ऊपरवाले अफसर के व्यवहार से मेरे स्वाभिमान को धक्का लगा था और तीसरे साल प्रचार विभाग से भी मैंने इस्तीफा दिया था और वह भी स्वाभिमान के प्रश्न पर ही।... कविता तो अंग्रेजों के खिलाफ छिपकर भी छपवाता था और प्रत्यक्ष नाम से भी और एक बार मेरा छद्म पत्र सरकार के हाथ पड़ भी गया था और सरकार ने उसका फोटो भी उतरवाया था। लेकिन कुछ किया नहीं केवल वार्निंग देकर छोड़ दिया। इसी पत्र में उन्होंने यह भी लिखा था कि "अंग्रेजी सरकार ने उन्हें तीन वर्षों के अन्दर 22 ट्रॉन्सफर किया था, जगह-जगह उन पर खुफियों की निगरानी भी रखी गयी थी और चेतावनियाँ तो आती ही रहती थीं।" इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि दिनकर ने कभी अपनी भावनाओं से समझौता नहीं किया। उनका कवि विदेशी शासन के प्रति अपने विद्रोह भाव को हमेशा वाणी देता रहा।

1936 के बाद की दिनकर की राष्ट्रीय कविताएँ, जो मुख्यतः हुंकार और सामधेनी में संकलित हैं, उसके पहले कविताओं के विस्तार के रूप में ही देखी जा सकती हैं।

'दिल्ली' (1933), 'कविता का हठ' (1934), 'परिचय', 'मेघ रन्ध्र में बजी रागिनी', 'बसंत के नाम पर', शब्दबेध' (1933), आदि कविताओं के अतिरिक्त हुंकार (1939) में सम्मिलित अन्य कविताएँ थीं- 'आश्वासन', 'सिपाही' (1936), 'हाहाकार' (1937) 'अनल किरीट', 'आमुख', 'तकदीर का बँटवारा', 'फूलों के पूर्व जन्म', 'वर्तमान का निमन्त्रण', 'विपथगा', 'शहीद स्तवन' (1938) 'असमय आह्वान', 'कल्पना की दिशा', 'चाह एक', 'स्वर्ग दहन', 'प्रणति', 'भविष्य की आहट', 'भीख', 'वनफूलों की ओर', 'व्यक्ति', 'साधना आ द्विधा', 'स्वर्ग दहन' (1935-38), 'दिगम्बरी', आलोकधन्वा (1939) आदि। 'आमुख', (1938) में कवि अपने अतीत से वर्तमान में आने का संकेत देता है-

समय-द्रूह की ओर खिसकते मेरे गीत विकल धायें;
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आये?

इससे कवि की भावभूमि में एक बदलाव आता दिखाई देता है। साम्राज्यवादी युद्ध और साम्राज्यवादी-सामन्तवादी शोषण, दोनों के शिकार मुख्यतः ग्रामीण किसान थे। 'हाहाकार' (1937) शीर्षक कविता में कवि किसानों के बारे में लिखता है- "जेठ हो कि हो धूप, हमारे कृषकों को आराम नहीं है;/छुटे बैल से संग, कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है।"...."बैलों के ये बन्धु, वर्ष भर क्या जाने, कैसे जीते हैं?/जुबाँ बन्द, बहती न आँख, गम खा, शायद आँसू पीते हैं?"... "पर, शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना?/चूस-चूस सूखा तन माँ का सो जाता रो-बिलप नगीना।" शोषक सामन्तों के बारे में वह सामने इसके अलावा और कोई चारा नहीं कि वह क्रान्तिकारियों का ही मार्ग अपनाएँ-

हटो व्योम के मेघ, पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
"दूध दूध" ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

हुंकार की 'चाह एक' शीर्षक कविता में कवि कहता है- "मैं खोज रहा हूँ तिमिर बीच कब से ज्योतिर्मय दाह एक,/बल उठे किसी दिशि वह्नि-राशि, ले-देकर मेरी चाह एक।" इसमें उसका वाणी का संयम स्पष्ट है। पर यही भी स्पष्ट है कि उसे क्रान्ति का रास्ता ही प्रिय है। 'दिगम्बरि' (1939) में भी वह अपनी इस 'चाह' की पुष्टि करता है- "नये युग की भवानी, आ गयी बेला प्रलय की' और अपना संकल्प व्यक्त करता है-

जरा तू बोल तो, सारी धरा हम फूँक देंगे;
पड़ा जो पन्थ में गिरि, कर उसे दो टूक देंगे।

वस्तुतःयह मात्र कवि की ही वाणी नहीं थी, बल्कि दबी हुई युग की वाणी थी जो 1942 में फूट पड़ी थी। कवि ने उसकी भविष्यवाणी बहुत पहले कर दी थी।

यद्यपि इस समय तक भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन विफल हो चुका था, पर कवि के सामने इसका कोई विकल्प नहीं था। उसके सामने एकमात्र आशंका की किरण एशिया का जागरण था, जो कदाचित् रूसी क्रान्ति की ओर संकेत करता है। यह संकेत 'भविष्य की आहट' कविता की इन पंक्तियों में सुना जा सकता है - "आज कम्पित मूल क्यों संसार का?/अर्थ का दानव भयाकुल मौन है;/ झोंपड़ी हँस चौंकती, वह आ रहा/ साम्य की वंशी बजाता कौन है?" पर इतिहास ने इस सत्य को भी झुठला दिया। साम्यवादी रूस आत्मरक्षा में ब्रिटेन और अमेरिका का सहयोगी बन गया और भारतीय साम्यवादी दल भी उसी के सुर में सुर मिलाने लगा। 1942 का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन भी औपनिवेशिक दमन की भेंट चढ़ गया और कवि के पास यह कहने के सिवा कोई मंजिल दूर नहीं है।"

राष्ट्रीय चेतना के साथ साथ कवि की दूसरी भावधारा शृंगारमूलक सौन्दर्य-चेतना की है, जो प्रकृति और नारी को आलम्बन बना कर चलती है। प्रकृति के प्रति कवि का आकर्षण आरम्भ से ही दिखाई देता है। 'कवि' और 'विश्व-देवि' 1931 की रचित कविताएँ हैं। 'कवि' में प्रकृति का अव्याजमनोहर रूप और उससे कवि का तादात्म्य अत्यन्त प्रभावी रूप में व्यक्त हुआ है-

फैलता वन-वन आज वसंत,
सुरभि से भरता अखिल दिगंत,
प्रकृति आकुल यौवन के भार,
सिहर उठता रह-रह संसार।

पुलक से खिल-खिल उठते प्राण!
बनो कवि! फूलों की मुस्कान।

'विश्व-छवि' कविता में कवि सारे विश्व में प्रकृति के सौन्दर्य का प्रसार देखता है और उससे अपने को एकात्म पाता है:

फूलों की क्या बात? बाँस की हरियाली पर मरता हूँ।
अरी दूब, तेरे चलते जगती का आदर करता हूँ।
किसी लोभ से इसे छोड़ दूँ, यह जग ऐसा स्थान नहीं;
और बात क्या? बहुधा मैं चाहता मुक्ति वरदान नहीं।

कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह ही प्रकृति और मानव-सौन्दर्य से पूरित इस विश्व को जीने की जगह मानता है- "मरिते चाई ना आमि सुन्दर भुवने,/मानवेर माँझे आमि बाँचिबारे/ एई सूर्यकरे एई पुष्पित काननें/ जीवंत हृदय माझे जदि स्थान पाई।" जिस प्रकृति से कवि दिनकर का परिचय है, वह ग्राम-प्रकृति है और ग्राम-जीवन से अभिन्नतः जुड़ी हुई है। वह राष्ट्र का भी प्रतीक है; भारतमाता का रूप। यही कारण है कि प्रकृति है और राष्ट्र-प्रेम कवि को साथ-साथ कविता की प्रेरणा देते रहे हैं।

स्वच्छन्दतावादी कविता का प्रकृति से अनिवार्य सम्बंध होता। दिनकर, भाव-वेग की अभिव्यक्ति की दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी कवि ही थे, इसमें मत नहीं हो सकते। छायावादी कवि भी स्वच्छन्दतावादी ही थे, पर दिनकर का स्वच्छन्दतावाद छायावादी कवियों की तुलना में समकालीन जीवन से अधिक जुड़ा हुआ था। उन्होंने प्रकृति को भी 'युग के सन्देश-वाहक' के रूप में ही देखा है। 'कविता की पुकार' में प्रकृति और जीवन का यह अभिनव भाव सम्बंध लक्षित किया जा सकता है-

वन-तुलसी की गन्ध लिये हलकी पुरवैया आती है,
मन्दिर की घंटा-ध्वनि युग-युग का सन्देश सुनाती है।
टिमटिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगण,
परदेसी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन,
"भैया! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग,
चारो कोने खेम-कुसल माँझे ठाँ मारे वियोग।

प्रकृति और मानवीय संवेदना का यह विरल योग कविता में अभिनन्दन की वस्तु है। रेणुका में ही 'राजा-रानी' नामकी एक कविता संग्रहीत है, जिसमें बसंत और वर्षा ऋतु के मानवीकरण और तुलना के रूप में नारी की आँसू भरी कथा कही गयी है : "राजा बसंत, वर्षा ऋतुओं की रानी,/पर दोनो की है कितनी भिन्न कहानी!/राजा के मुख में हँसी, कंठ में माला,/रानी का अंतर विकल, दृगों में पानी।" इस कविता की रमणीयता इस बात में भी है कि 'रानी' अपना 'रानीपन' छोड़कर प्रिया या जीवन-संगिनी का भी अर्थ ध्वनित करती है- "सुख की तुम मादक हँसी, आह दुर्दिन की,/सुख-सुख, दोनो में, विभा इन्दु अमलिन की/प्राणों की तुम गुंजार, प्रेम की पीड़ा,/रानी! निशि का मधु और दीप्ति तुम दिन की।" इतना ही नहीं, उसके क्रान्ति का रूप धारण करते भी देर नहीं लगती : "छिटकी तुम विद्युत्-शिखा, हुआ उजियाला,/मत-विकल सैनिकों में संजीवन डाला;/हल्दीघाटी हुंकार उठी जब रानी!/ तुम धधक उठी बनकर जौहर की ज्वाला।"

रेणुका की राष्ट्रवादी कविताओं का प्रसार यदि हुंकार में दिखाई पड़ता है, तो शृंगारमूलक सौन्दर्य-चेतना की कविताओं का प्रसार रसवन्ती में हुआ है। दिनकर की काव्य-चेतना का आरम्भ ही राष्ट्र और केन्द्रित भावना के द्वन्द्व से हुआ था। उनके सामने एक तरफ पद-दलित राष्ट्र था जिसकी उपेक्षा वे नहीं कर सकते थे तो दूसरी तरफ उनका रोमानी भावों से भरा तरुण हृदय था, जिसकी पुकार को भी वे अनसुनी नहीं कर सकते थे। इसलिए यद्यपि उन्होंने वरीयता राष्ट्रीय चेतना को ही दी, पर रोमानी को भी सर्वथा धुँआने नहीं दिया। किया केवल यह कि उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को तो शुरू में ही धधक जाने दिया और सौन्दर्य-चेतना की चिनगारी को जला कर कुछ दिनों के लिए छोड़ दिया। 1940 तक आते आते दिनकर की राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति लगभग पूरी हो चुकी थी। पर उनकी सौन्दर्य-चेतना अभिव्यक्ति के लिए छटपटा रही थी। यह उल्लेखनीय है कि 'रसवन्ती' शीर्षक कविता, जिस पर रसवन्ती संग्रह का नामकरण किया गया है, 1935 में ही लिखी गयी थी। इसके साथ साथ उनकी 'प्रीति' (1936), अज्ञेय की और', गीत अगीत', 'रास की मुरली' (1937), बालिका से वधू, 'दाह की कोयल' (1938), 'अगुरू धूम', 'गीत-शिशु', 'पतझड़ की सारिका', 'पुरुष', 'शेष गान', 'संबल', 'संध्या' (1939), 'अन्तर्वासिनी', 'कर्त्तन का गीत', 'कालिदास', 'गीत', 'नारी', 'पावस गीत', 'भ्रमरी', 'मरण', 'मानवती', 'रहस्य, 'विजन में', 'समय', 'सावन में' (1935-40) आदि कविताएँ रसवन्ती (1940) में संकलित हुई थीं। रसवन्ती की कविताओं का लेखन काल भी लगभग वही है जो हुंकार की कविताओं का है। इसका अर्थ यह है कि दिनकर अपनी कोमल भावनाओं के प्रति उस समय भी एकदम उदासीन नहीं थे, जब वे देशप्रेम की कविताएँ लिख रहे थे। रसवन्ती के प्रथम संस्करण की भूमिका में दिनकर ने लिखा था: "रसवन्ती की रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई और इसमें किसी निश्चित सन्देश का अभाव सा है।" दिनकर के क्रान्तिकारी कवि-रूप को देखने के अभ्यस्त कुछ आलोचकों को यह बात बहुत खटकी थी और उन्होंने दिनकर को "दिग्भ्रमित' और 'अन्तर्विरोध' ग्रस्त कवि तक कह डाला था। पर वस्तुतः दिनकर नहीं, वे आलोचक ही दिग्भ्रान्त थे। क्रान्ति और सौन्दर्य, शौर्य और शृंगार यदा-कदा सहगामी भी होते हैं, यह उन आलोचकों कों ज्ञात न था। अतः रसवन्ती के माध्यम से दिनकर की सौन्दर्य-चेतना का जो रूप सामने आया, वह चौकाने वाला चाहे जितना सिद्ध हुआ हो, अन्तर्विरोध से ग्रस्त कदापि न था। रसवन्ती में संगृहीत नारी-विषयक

कविताएँ इसका प्रमाण हैं। 'संध्या' में शुद्ध प्रकृति का चित्रण हुआ है। पर, प्रकृति और नारी दोनो का सौन्दर्य कवि-चेतना को साथ साथ अभिभूत करता रहा है- "तैरती स्वप्नों में दिन-रात/मोहिनी छवि-सी तुम अम्लान,/कि जिसके पीछे नारि!/रहे फिर मेरे भिक्षुक गान।" (नारी); नारी-रूप उनके हृदय को किस रूप में आन्दोलित करता रहा है, इसका आभास इन पंक्तियों में देखा जा सकता है-

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गयी लिख कलम-पंक्ति अम्लान

दिनकर का बीस वर्ष का बचपन और कैशोर्य गाँव में व्यतीत हुआ था। उनका विवाह तेरह वर्ष की उम्र में हो गया था और बिहार के पिछड़े गाँवों में पत्नी कभी भी प्रेमिका की भूमिका में नहीं आ पाती। यदि उनकी किशोरावस्था में कोई ग्राम-किशोरी उनके प्रेम का आलम्बन बनी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उस युग में एक विवाहित ग्रामीण किशोर के लिए प्रेम करना और वियोग झेलना बिल्कुल सामान्य तथ्य था। एक संवेदनशील चेतना वाले कवि के लिए प्रकट रूप से ऐसी कविताओं को सन् तीस के दशक में प्रकाशित न करने का एक कारण हो सकता है। पर यह तो स्वाभाविक है कि दिनकर की प्रेम और सौन्दर्य-चेतना में ग्रामीण भोलापन, सहजता और अकृत्रिम कमनीयता हो। 'बालिका से वधू' शीर्षक कविता में कवि ग्रामीण की मार्मिक तस्वीर प्रस्तुत करता है-

माथे में सेंदुर पर छोटी दो बिन्दी चमचम-सी,
पपनी पर आँसू की बूँदें मोती-सी शबनम-सी।
लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम सी,
यौवन की विनती-सी भोली, गुमसुम खड़ी शरम सी

1939 में यूरोपीय शक्तियों के बीच दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया जो 1945 में समाप्त हुआ। यद्यपि भारत की जनता स्वेच्छा इस युद्ध में शामिल नहीं हुई थी, पर उसका औपनिवेशिक प्रभु इस महायुद्ध का प्रमुख घटक था और भारतीय जीवन पर भी इस युद्ध का प्रभाव पड़ रहा था। इस विश्वयुद्ध के साथ साथ निहत्थी भारतीय जनता और विश्वशक्ति ब्रिटेन के बीच एक दूसरा महाभारत भी जारी था। दिनकर इन दोनो महायुद्धों के बीच घुटन की जिन्दगी जी रहे थे। इसे नियति का व्यंग्य ही माना जाएगा कि जिस सरकार के खिलाफ दिनकर एक दशक से भी अधिक समय से कविता लिखते आ रहे थे उसी सरकार के युद्ध-प्रचार विभाग में वे चाकरी कर रहे थे। 1942 में 'भारत छोड़ों' आन्दोलन आरम्भ होने के ठीक पूर्व गांधी जी सहित सारे प्रमुख नेता जेलों में बन्द किये जा चुके थे। ब्रिटिश सरकार पाश्विक दमन का सहारा लेते हुए आन्दोलन को कुचल चुकी थी। देश की पूर्वी सीमा पर सुभाषचन्द्र बोस देश की स्वाधीनता के निमित्त सैनिक युद्ध का शंख फूँक चुके थे। इधर जयप्रकाश नारायण हजारीबाग जेल से भाग कर भूमिगत आन्दोलन में शिरकत कर रहे थे। दिनकर की सहानुभूति गांधी जी के साथ नहीं, बल्कि जयप्रकाश नारायण और सुभाषचन्द्र बोस के साथ थी। इसकी झलक उनकी 1941-46 में लिखित कविताओं में मिलती है, जो देश के स्वतंत्र होने के बाद 1947 में सामधेनी कविता-संग्रह में प्रकाशित हुई। 1943 में रचित 'आग की भीख' में उन्होंने लिखा था- "आगे पहाड़ को पा, धारा रुकी हुई है,/बल-पुँज केसरी की, ग्रीवा झुकी हुई है;/अग्निस्फुलिंग रज का, बुझ, ढेर हो रहा है,/ है रो रही जवानी, अन्धेर हो रहा है।" यह वह समय था जब 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का दमन हो चुका था, गांधी जी और अन्य नेता जेल में थे और सुभाषचन्द्र बोस भारत के बाहर से लड़ रहे थे। यह कविता कवि की उसी समय की मनःस्थिति का परिचय देती है। इसी वर्ष लिखित कविता 'आशा का दीपक' में कवि को स्वतंत्रता -प्राप्ति की उम्मीद बँधती हुई दिखाई पड़ती है और स्वतंत्रता-सेनानी को उत्साह बँधाता हुआ कहता है' "वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है;/ थक कर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।" और "वह देखो, उस पार चमकता है मन्दिर प्रियतम का।/आकर इतना पास फिरे, वह सच्चा शूर नहीं है।" सामधेनी में ही प्रकाशित 1945 में लिखित कविता 'दिल्ली और मास्को' में कवि एक तरफ तो साम्यवादी रूस का फासीवाद के विरोध में आ जाने के लिए अभिनंदन करता है, पर दूसरी तरफ भारतीय साम्यवादियों के अन्तर्विरोध पर तरस खाता है-

एक देश है जहाँ विषमता से अच्छी हो रही गुलामी,
जहाँ मनुज पहले स्वतंत्रता से हो रहा साम्य का कामी;
भ्रमित ज्ञान से जहाँ जहाँ हो रही दीप्त स्वातंत्र्य-समर की
जहाँ मनुज पूज रहा जग बिसार सुधि अपने घर की।
जहाँ मास्को के रणधीरों के गुण गाये जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।

डॉ. हरदयाल ने इस कविता को याद करते हुए ठीक ही लिखा है कि रूस की प्रशंसा और भारतीय साम्यवादियों का विरोध दिनकर में इसलिए है कि वे भारतीय साम्यवादी दल की तरह मास्को के प्रति अंधी प्रतिबद्धता नहीं रखते थे। उनकी प्रतिबद्धता भारत के साथ थी।" भारतीय साम्यवादियों ने 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का विरोध किया, सुभाषचन्द्र बोस को फासिस्ट कहा और काँग्रेस सोशलिस्टों को 'पंचमार्गी' की संज्ञा दी। किन्तु दिनकर भारतीय यथार्थ को दृष्टि में रखकर, राष्ट्रीयता की भावना से लिख रहे थे। उनके लिए सुभाषचंद्र बोस फासिस्ट नहीं थे, क्योंकि उनका उद्देश्य देश को औपनिवेशिक शासन से मुक्ति दिलाना था। इसीलिए उन्होंने 'सरहद के पार' शीर्षक कविता में आजाद हिन्द फौज का स्वागत किया है और 'जयप्रकाश' शीर्षक कविता में जयप्रकाश नारायण का अभिनन्दन किया है - "झंझा सोयी, तूफान रुका, प्लावन जा रहा कगारों में,/जीवित है सबका तेज किन्तु अब

भी तेरे हुंकारों में।" और "हाँ, जयप्रकाश है नाम समय की करवट का, अँगड़ाई का,/भूचाल, बवंडर के ख्वाबों से भरी हुई तरुणाई का।" 'तिमिर में स्वर के बोले दीप आज फिर आता है कोई', हे मेरे स्वदेश', 'फैलेगी डालों में तलवार', 'जवानी का झंडा', 'जवानियाँ' आदि कविताओं में भी दिनकर का सही इतिहास- बोध से युक्त राष्ट्रीय मुखरित हुआ है।

सामधेनी में संकलित कविताओं में उस समय जारी विश्वयुद्ध की प्रतिक्रिया भी व्यक्त हुई है। 1941 में ही रचित 'कलिंग विजय' कविता दिनकर की युद्धविरोधी संवेदना की बड़ी ही सशक्त अभिव्यक्ति है। अपनी इस कविता के द्वारा वे मानो सारे विश्व को सावधान कर रहे हैं। कलिंग-युद्ध तो एक बहाना है-

युद्ध का परिणाम?
युद्ध का परिणाम ह्रासत्रास!
युद्ध का परिणाम सत्यानाश!
रूण्ड-मुंड-लुंठन, निहिंसन, मीच!
युद्ध का परिणाम लोहित कीच!

हो चुका जो कुछ रहा भवितव्य,
यह नहीं नर के लिए कुछ नव्य;
भूमि का प्राचीन यह अभिशाप,
तू गगनचारी! न कर सन्ताप।

मौन कब के हो चुके रण-तूर्य,
डूब जा तू भी कहीं ओ सूर्य!

जैसा दिनकर ने सूचित किया है कुरुक्षेत्र (1946) की रचना भी 1941 ही आरम्भ हो चुकी थी। देश में चल रही आजादी की लड़ाई के साथ-साथ दिनकर की काव्य-चेतना विश्वयुद्ध की विभीषिका और उसके परिणाम से भी आक्रान्त थी। महायुद्ध ने दिनकर को उसके कारणों, परिणामों और युद्ध बनाम शान्ति के प्रश्न के सामने खड़ा कर दिया था। द्वापर युग का महाभारत प्रत्येक भारतीय की स्मृति का अभिन्न अंग तो है ही, अतः दिनकर ने यदि अपनी उबाल खाती हुई संवेदना और चिन्तना की अभिव्यक्ति के लिए महाभारत की ओर देखा तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

कुरुक्षेत्र में दिनकर ने युद्ध की विभीषिका का बहुत सशक्त वर्णन किया है। पर इसमें कोई मौलिकता या अनुभव का ताप नहीं है। दिनकर ने शायद ही कोई युद्ध-भूमि देखी हो। पर महाभारत से लेकर पृथ्वीराज रासों तक अनेक काव्यों में युद्ध-वर्णन की परम्परा उन्हें विरासत में मिली थी। उसका लाभ उन्होंने कुरुक्षेत्र में उठाया है। पर दिनकर की मौलिकता युद्ध के कारणों और युद्ध बनाम शान्ति से जुड़ी उनकी संवेदना और चिन्तन में दिखाई पड़ती है। जब वे युद्ध के कारणों पर विचार करते हैं तो लगता है कि उनके सामने भारतीय जनता और ब्रिटिश शासन का युद्ध है। कुरुक्षेत्र के बारे में दिनकर का कथन है कि वह "उन सभी भावनाओं का परिपाक है, जो मुझे आरम्भ से ही आंदोलित करती आ रही थी।...विश्वशांति की स्थापना की चिन्ता मुझे कुरुक्षेत्र में कम थी। अपने देशवासियों की विचार दिशा बदलने की भावना से आंदोलित होकर ही मैंने इस काव्य की रचना की थी। कुरुक्षेत्र में महात्मा गांधी के विचारों का प्रतिनिधित्व युधिष्ठिर करते हैं किन्तु जो नवयुवक गांधी जी की अहिंसा को धर्म के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, उनके प्रतिनिधि अथवा प्रतीक भीष्म के इस कथन में अहिंसा को धर्म न मानने वाले युवकों का स्वर ही मुखरित हुआ है-

चुराता न्याय जो रण को बुलाता भी वही है।
युधिष्ठिर! स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है।
नरक उनके लिए जो पाप को स्वीकारते हैं,
न उनके हेतु, जो रण में ललकारते हैं।

यदि हम इन पंक्तियों को औपनिवेशिक शासन और महात्मा गांधी, जयप्रकाश नारायण, सुभाषचंद्र बोस के सन्दर्भ मे देखे तो इनका नया अर्थ खुलता है। गांधी जी ने भी 'भारत छोड़ो' की घोषणा करके ब्रिटिश शासन को ललकारा ही था, जो कि उनके अहिंसा मार्ग में दिनकर को विश्वास नहीं था। दिनकर अकुंठ भाव से कहते हैं-"छीनता हो स्वत्व कोई, और तू/त्याग-तप से काम ले, यह पाप है,/पुण्य है विछिन्न कर देना उसे/बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।" यह सुभाषचंद्र का स्वर है। दिनकर अहिंसा, क्षमा, दया आदि को मानव जीवन की विभूति तो स्वीकार करते हैं, पर भौतिक शक्ति के अभाव में इनकी व्यर्थता को भी उजागर करने में वे कोई संकोच नहीं करतेः "क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।/ उसको क्या, जो दंतहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो?" और "सहनशीलता, क्षमा, दया को तभी पूजता जग है,/बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है।" कुरुक्षेत्र में भीष्म कहते हैं-

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी,
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप-त्याग को।

हिन्दी संकाय, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय विश्वविद्यालय
मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068

कुरुक्षेत्र : एक युद्ध काव्य

रामदरश मिश्र

युद्ध हमेशा से होते आए हैं और कुछ संवेदनशील व्यक्तियों को हमेशा मानवीय मूल्यों के लिए यह एक भीषण संकट के रूप में दीखता रहा है। युद्ध से सदैव एक मनीषी, एक कवि, एक मनुष्य आहत होता रहा है किन्तु अहंकार, भोग, राज्य विस्तार की लिप्सा सदा से जीभ लपलपाती हुई युद्ध के रूप में सामाजिक मूल्यों को चुनौती देती रही है और तब? तब एक भयानक युद्ध, नर-संहार, विकृतियाँ, खंडित आस्थाएँ, टूटे हुए मूल्य...। युद्ध की विभीषिका आधुनिक काल में बढ़ गयी है। युद्ध का रूप और उसके परिणाम दोनों ही अत्यंत भयानक और विश्व-ग्रासी हो गये हैं। एक ओर भौगोलिक दूरियों के घट जाने के कारण अंतरराष्ट्रीय मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ है दूसरी ओर एक का संकट दूसरे का संकट भी हो गया है। दो शक्तियों की टकराहट से बार-बार युद्ध की चुनौती के स्फुलिंग उड़ते हैं और सारा विश्व भयानक विनाश के भय से थर्रा उठता है। थोड़े ही वर्षों के अंतराल से विश्व के पटल पर दो-दो महायुद्धों का उतर आना कितना भयावह रहा। तीसरे विश्वयुद्ध की आशंका भी रह-रहकर कौंध उठती है। एक ओर बहुत-से देश विश्व-परिवार की कल्पना करते हैं, दूसरी ओर कुछ अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के विस्तार में लगे हुए हैं। इस षड्यंत्र में पूँजीवादी और साम्यवाद दोनों ही देश शामिल हैं, शेष देश अपनी सीमाओं की सुरक्षा में अपनी राष्ट्रीय संपत्ति का अधिकांश झोंक रहे हैं। राष्ट्रीयता जहाँ एक अंधे उन्माद को जन्म दे रही है वहीं अंतरराष्ट्रीयता एक नये प्रकाश-मार्ग की खोज कर रही है। इससे मूल्यों में अद्‌भुत टकराहट उत्पन्न हो गयी है। राष्ट्रीयता की पुनःपरीक्षा करते हुए प्रबुद्ध लोग उसे अंतरराष्ट्रीय मानव-चेतना से संलग्न करना चाहते हैं। विज्ञान की नयी खोजें जहाँ एक ओर मानव-शक्ति की नयी संभावनाएँ उद्‌घाटित कर रही हैं वहीं अणु बम और परमाणु बम का निर्माण कर मानव-मात्र के विनाश की एक छोटी-सी भूमिका है।

इसीलिए आधुनिक काल में प्रायः विश्व की सभी भाषाओं में युद्ध-संबंधी कविताएँ लिखी गयी हैं। किंतु इन कविताओं ने (सस्ती राजनीतिक कविताओं को छोड़कर) एक राष्ट्रीय उन्माद में आकर युद्ध को प्रोत्साहित करने के स्थान पर एक मानवीय स्तर पर युद्ध के प्रश्नों पर विचार किया है-उसकी अनिवार्य स्थितियों, द्वन्द्वों और परिणितियों के बीच से गुजरती हुई मानव यातना की अनुभूति उभरी है। इस चिन्तन और अनुभूति को कवियों ने मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री, मानवतावादी सत्यों के आलोक में विकसित अनेक जीवन-प्रश्नों और मानव-कल्पनाओं से संदर्भित किया है।

यह सच है कि युद्ध सदा मानव-समाज को यातना, टूटन और अंधकार प्रदान करता है, इसलिए यह मानव-मूल्यों की दृष्टि से गर्हित है और मानव-मूल्यों में आस्था रखने वाला हर विवेकशील प्राणी युद्ध की अनिवार्यता को बार-बार टालने का प्रयत्न करता है और युद्ध होने के बाद भी विजयोल्लास से उन्मत्त होने के स्थान पर एक पीड़ा, एक विषाद और आत्म-ग्लानि से भर जाता है। फिर भी युद्ध होते हैं। क्योंकि किन्हीं परिस्थितियों में वे अनिवार्य हो उठते हैं। जहाँ अंधकार प्रकाश को निगलने के लिए बार-बार मुँह फाड़ता हो, वहाँ आखिर विकल्प क्या बचता है? और ऐसे अवसरों पर मानवता की ओर से लड़ा गया युद्ध मानव-मूल्य के सौंदर्य से दीप्त होता है। वास्तव में मूल्य एक जटिल वस्तु है उसकी परख परिस्थितियों की सापेक्षता में ही की जा सकती है। जो गुण एक व्यक्ति के लिए मूल्य हो सकते हैं वे ही समाज के लिए दोष और कमजोरी भी। 'कुरुक्षेत्र' में आत्मग्लानि में डूबे युधिष्ठिर से भीष्म पितामह कहते हैं कि तप, त्याग, क्षमा, शांति एक व्यक्ति के लिए भूषण तो हो सकते हैं, किन्तु उस समाज के लिए नहीं जिसकी स्वाधीनता, अधिकार और स्वाभिमान को ग्रसने के लिए एक दूसरा समाज ललकारता हो।

'कुरुक्षेत्र' एक काव्यात्मक गीता है जिसमें आध्यात्मिक चिंतन के स्थान पर आधुनिक जीवन के प्रश्नों का चिन्तन है। युद्ध की समस्या को लेकर लिखे गये प्रबंध काव्यों में 'कुरुक्षेत्र' का बहुत ऊँचा स्थान है। कवि ने युद्ध को निन्द्य बताते हुए भी आधुनिक परिवेश में उसके जटिल रूप को, उसके संक्रांत मूल्य को उभारा है। प्रश्न इतना ही नहीं है कि युद्ध निन्द्य है, उससे बड़ा प्रश्न यह है कि निन्द्य वस्तु बार-बार इतनी अनिवार्य क्यों हो उठती है और युद्ध के रूप में इतिहास की एक बहुत बड़ी चुनौती क्यों बार-बार शांतिप्रिय लोगों को

स्वीकार करनी पड़ती है? क्यों उन्हें ऐसा लगता है कि एक विशेष सामाजिक या मानवीय संदर्भ में युद्ध शांति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हो जाता है? इस ओर या उस ओर खड़ा होकर एक विशेष प्रकार के निर्णय की साफ-साफ घोषणा करना आसान है किन्तु मानव-निर्यात और विषम सामाजिक परिस्थितियों से गुजरता हुआ सत्य अपने को न जाने कितने आवर्तों में लिपटा हुआ पाता है और आज की कविता इसी सत्य के गहन और संक्रांत स्वरूप को उद्‌घाटित करना जितना प्रांसगिक मानती है उतना उसके किसी काल्पनिक निर्णय का स्वप्न चित्रित करना नहीं। उत्तर भले न मिल पाता हो, प्रश्न और प्रश्न तो करना ही है। 'कुरुक्षेत्र' में भी वास्तव में कोई उत्तर नहीं है, युद्ध का कोई समाधान नहीं है। जहाँ समाधान खोजने का प्रयास है वहाँ कवि केवल स्वप्न-द्रष्टा रह गया है- अर्थात ऐसा हो तो ऐसा होगा और आओ हम उस दिन की आशा से मुँह न मोड़ें। किन्तु कुरुक्षेत्र की शक्ति उसकी यह आशा नहीं है, उत्तर का काल्पनिक नियोजन नहीं बल्कि वह द्वन्द्व-ग्रस्त प्रश्न है जो धर्मराज और भीष्म के माध्यम से उसके भीतर से गुजरता है।

शांति काम्य है, युद्ध निषिद्ध है किन्तु युद्ध के लिए अनिवार्य परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं। जब अनुनय हार जाता है तब प्रतिरोध आवश्यक होता है। इस अवस्था में विनय, शांति, क्षमा, मूल्य न रह कर पाप बन जाते हैं- सामाजिक पाप। सच बात तो यह है कि विनय, क्षमा, त्याग उसी को शोभते हैं जिसमें पौरुष हो, आँच हो। अतः विशेष परिस्थितियों में युद्ध प्रकृति और समाज का धर्म बन जाता है। सामाजिक युद्ध का उत्तरदायी व्यक्ति नहीं होता। इसलिए अपने को युद्ध का उत्तरदायी मान लेना गलत ढंग से एक ऐतिहासिक निर्णय को अपने ऊपर ओढ़ना होता है।

किन्तु युद्ध की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेने मात्र से प्रश्नों का अंत नहीं होता। युद्ध शुरू होने पर मूल्य ऐसे उलझ जाते हैं कि रावण और कौरवों के असंख्य अधर्म प्रहारों के साथ राम और पांडवों को भी कुछ न कुछ अधर्म प्रहार करने ही पड़ते हैं। धर्म जहाँ थोड़ा सा स्खलित हुआ, वह सरकता और उलझता हुआ चला जाता है और धर्मयुद्ध शुरू करने वाला इस अधार्मिकता के लिए कहीं न कहीं विवश हो जाता है और अपनी इस विवशता और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न अधार्मिकता का बोध उसे निरंतर पीड़ित करता है। अर्थात वह एक ही साथ एक युद्ध बाहर लड़ता है, एक भीतर। एक और भीषण नर-संहार करता है। दूसरी ओर उसे लगता है कि वही अनेक लोगों के रूप में अनेक बार मर रहा है। युयुत्सा और मानवीय करुणा का एक भयानक द्वन्द्व उसे कसता चला जाता है और विजय के पश्चात भी वह उल्लास नहीं, पश्चाताप भोगता है, साम्राज्य नहीं, सामने बिछा हुआ श्मशान पाता है। युद्धोत्तर समाज के सारे विघटन, विकलांग जीवन, श्रीहीनता, छटपटाहट, आदि को उदास आँखों से देखता है और विजयश्री उसके सामने उपेक्षित सी खड़ी रहती है। कुरुक्षेत्र के 'धर्मराज' इसी प्रकार के एक संवेदनशील योद्धा के मूर्त्तरूप हैं जो आत्मग्लानि के अरितरेक में अपने को ही युद्ध का उत्तरदायी मानकर भीष्म के सामने विलाप करते हैं।

वास्तव में हमारा काव्य अब तक यह सोचने का आदी रहा है कि विपक्षी का मरना और है और स्वपक्षी का मरना और है। पक्ष के लोगों का मरना दुखदायी है और विपक्ष के लोगों का मरना सुखदायी। आज का काव्य पूरे युद्ध को एक मानवीय धरातल पर लेता है, मरता चाहे कोई हो, एक मानव मरता है, उसका दर्द हमारा दर्द है, उसका खून हमारा खून है, उसकी मृत्यु जैसे हमारी मृत्यु है। इतना होने पर भी यह अनिवार्य तो है ही, नहीं तो उसे हम मारते क्यों? 'धर्मराज' इसी प्रकार युद्ध की यातना को एक विराट मानवीय धरातल पर देखते हैं। किन्तु एक संवेदनशील विजेता आत्मग्लानि की अवस्था में उसी प्रकार असंतुलित होकर उपने को उत्तरदायी मानकर स्वयं को पीड़ित करने लगता है जिस प्रकार एक क्रूर विजेता अपने को विजयी मानकर असीम क्रूर उल्लास का अनुभव करता है।

इसलिए भावुकता से अतिक्रांत धर्मराज अपने समस्त पीड़ित रूप में युद्ध के केवल एक पक्ष को व्यक्त कर पाते हैं, युद्ध का जो जटिल प्रश्न है उसे बौद्धिक स्तर पर सामने रखने में वे असफल रहते हैं। यह काम करते हैं भीष्म। इस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' धर्मराज और भीष्म के माध्यम से युद्ध के मूल्य और निर्यात की अलग-अलग धाराओं में बँट जाता है। धर्मराज मूलतः युद्ध के मानवीय मूल्य का प्रश्न उठाते हैं, और भीष्म नियति का। इस क्रम में धर्मराज व्यक्तिवादी ढंग से अपने को युद्ध का उत्तरदायी मान कर शांति, क्षमा त्याग, प्रेम आदि मानवीय मूल्यों को विनाशक मानते हैं। और यह कहना चाहते हैं कि युद्ध चाहे जिस रूप में हो वह मानवता का संहारक है और अपना सब कुछ खोकर भी मानवीय मूल्यों के पक्षधरों को युद्ध नहीं करना चाहिए। भीष्म सामाजिक चेतना के प्रतीक हैं, उनमें भावुकता के स्थान पर तटस्थ चिंतन है, इसलिए वे युद्ध की नियति की परीक्षा करते हुए कहना चाहते हैं कि समाज में जब तक विषमताएँ हैं, जब तक दो वर्गों के सुखों और सुविधाओं में आकाश पाताल का अंतर है, तब तक युद्ध की संभावना मिटायी नहीं जा सकती। भीष्म के माध्यम से कवि ने आज के समाज के वैषम्य, विसंगति और भयानक विरूपता को उद्‌घाटित किया है। शांति तो सबसे बड़ी अशक्ति है समाज की, क्योंकि शोषक औरों का खून चूस कर उनसे कहता है शांत रहो। यह शांति बड़ी ही मानवघातिनी है। इसलिए युद्ध का समाधान एक ही तरीके से हो सकता है।

समाज में साम्य स्थापित कर दो या तो भेड़ियों के दाँत दे दो। भीष्म स्वप्न देखते हैं कि धर्मराज जैसे लोग यदि हैं तो एक दिन अवश्य आयेगा, जब सच्चे अर्थों में शांति स्थापित होगी।

'कुरुक्षेत्र' केवल युद्ध काव्य नहीं है, युद्ध के प्रश्न के बहाने भीष्म ने आज के सामाजिक जीवन के अनेक प्रश्नों को, अनेक सत्यों को छुआ है। कवि ने मानववाद के स्वर को मुखर करते हुए उपेक्षितों के प्रति प्रेम और सहानुभूति तो व्यक्त की ही है उनके अधिकारों का जोरदार समर्थन भी किया है। इसलिए यह मानववाद केवल करुणा बन कर ही नहीं चुक जाता, वह साम्यवाद की स्थापना का स्वर ऊँचा करता है। अद्वैतवाद भी समता का समर्थक है किन्तु वह अंतर्मुख व्यावहारिक नहीं। इसलिए कवि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समता स्थापित करना चाहता है। ऐतिहासिक वातावरण के सत्य-निर्वाह के कारण मार्क्सवाद का कहीं नाम नहीं लिया है। वह बार-बार भीष्म के माध्यम से भाग्यवाद का विरोध और कर्मवाद का सर्मथन करता है। कवि ने अपने युग की चेतना को पहचाना है, इतना ही नहीं, अपने विवेक से उसके मंगल-अमंगलकारी स्वरूप की ओर इंगित भी किया है। कवि ने मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और मानवतावाद के आलोक में अनेक जीवन-प्रश्नों और मूल्यों को युद्ध और शांति के मुख्य प्रश्न के संदर्भ में आंकलित किया है। मानव का बड़प्पन आज स्वतः निर्णीत नहीं है। उसमें पाप और पुण्य की धूप-छाया जटिल रूप में बुनी हुई होती है। और सच बात तो यह है कि पाप की एक निरपेक्ष व्याख्या करना भी कठिन है। जहाँ आधुनिक काल ने समाजवाद, मानववाद जैसा मानव मंगलकारी व्यावहारिक दर्शन दिया, मनोविज्ञान जैसी मानव-पारखी-दृष्टि, वहाँ उसने बुद्धिवाद का अतिरेक तथा भौतिक सुखों की असीम स्पृहा देकर युद्धों का भयानक तनावपूर्ण वातावरण बना दिया। इसलिए दिनकर ने बुद्धिवाद का विरोध किया है। किन्तु यह अद्भुत विसंगति है कि समाजवाद का समर्थन करने वाला कवि बुद्धि का ही विरोध करने लगता है अर्थात वह बुद्धि को एक विशेष प्रकार के राजनीतिक छल-छद्म में ही सीमित कर देता है।

'कुरुक्षेत्र' निस्संदेह हिन्दी का एक विशिष्ट ही नहीं, समृद्ध प्रबंध काव्य है। यह एक विचार-प्रधान प्रबंधकाव्य है, जिसमें कवि ने महाभारत का एक प्रसंग लेकर आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में कुछ बुनियादी प्रश्नों पर विचार किया है। कवि ने कहा है, "कुरुक्षेत्र में एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोलता रहा है।" जाहिर है कि कवि वर्तमान परिस्थितियों में साधारण मनुष्य की भाँति शंकाकुल है, उसके भीतर संकल्प-विकल्प का द्वन्द्व है और साथ ही अनेक प्रश्न संक्रांत रूप में उभरते हैं जो हृदय को अपने ढंग से प्रतिक्रियायित करते हैं और दोनों की प्रतिक्रियाएँ टकराती हुई उलझ जाती हैं। कवि का शंकाकुल हृदय युधिष्ठिर के माध्यम से और मस्तिष्क भीष्म के माध्यम से व्यक्त हुआ है। प्रबंध में ये दो अलग-अलग पात्र दोनों स्थितियों के संकल्पों-विकल्पों से गुजरते तो कविता का द्वन्द्व, हृदय और मस्तिष्क का संघर्ष कुछ और होता, उसका प्रभाव और भी गहरा और संक्रांत होता, यहाँ तो वह साफ-साफ दो पात्रों में बँट गया है, दोनों ही पात्र विकल्प के परे हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि कुरुक्षेत्र में भाव और चिंतन का गुंफन है।

इस विचार प्रधान प्रबंध काव्य में चरित्र, वस्तु, प्रकृति आदि के क्रमिक विकास और वैविध्य का अभाव होना स्वाभाविक है किन्तु चिंतन और संवाद के क्रम में अनेक जीवन संदर्भ उभर कर कविता को एकरस बनाये रखने से बचाते हैं। प्रश्न हो सकता है कि चिंतन मात्र क्या कविता हो सकता है, नहीं किन्तु कुरुक्षेत्र का चिंतन हार्दिक आवेगों, जीवन्त जीवन-संदर्भों और अनेक मार्मिक स्मृति-चित्रों से जुड़ा होने के कारण अपना एक अलग ही प्रभाव छोड़ता है। यों रसवादी पाठकों के लिए धर्मराज का अंतर्मथन तो स्पष्ट रूप से कविता प्रतीत होगा ही, चिंतनशील भीष्म के भावुक क्षणों का बार-बार घेराव भी उन्हें घेरेगा किन्तु ये सब मिलकर शेष वस्तु को भी काव्य का ही रूप देते हैं। चिन्तन अपनी प्रकृति में गतिशील, संक्रांत और नवीन है, उपदेश या आत्मचिंता के रूप में न होकर संवादात्मक है तथा जीवंत ताजे बिम्बों के जरिये मूर्त हुआ है। इसलिए उसमें लयात्मकता और काव्यात्मकता है। कवि ने धर्मराज और भीष्म की मनःस्थितियों के अनुसार ही सरल जटिल बिम्बों की रचना की है।

आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059

ये चार फूल हैं मोल किन्ही
कातर नयनों के पानी के
ये चार फूल प्रच्छन्न दान
हैं किसी महाबल दानी के
ये चार फूल, मेरा अदृष्ट था
हुआ कभी जिनका कामी,
ये चार फूल पाकर प्रसन्न
हँसते होंगे अन्तर्यामी।

दिनकर से मिलना और न मिलना

हरीश नवल

सन् 1974 के वसंत की वह एक दोपहर थी। दिल्ली विश्वविद्यालय के दौलतराम कॉलेज का वार्षिक उत्सव था, जिसमें बतौर मुख्य अतिथि देश के प्रतिष्ठित ओजस्वी कवि श्री दिनकर को आना था। सबको चाहत थी अपने प्रिय साहित्यकार को देखने-सुनने की। मैं भी अग्रिम पंक्ति में प्रतीक्षारत था। अग्रिम पंक्ति का सुख मुझे इसलिए मिल गया था कि मेरी पत्नी स्नेहसुधा दौलतराम कॉलेज के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापिका थीं। मैं तब कॉलेज ऑफ वोकेशनल स्टडीज में था। हमारी शादी हुए लगभग चार महीने ही हुए थे। दिनकर जी को कवि सम्मेलनों और सभाओं में दूर-दूर से देखा भर था कभी बात नहीं हुई थी। असाधारण व्यक्तित्व के स्वामी थे दिनकर जी। लम्बा-ऊँचा कद, विशाल बाहु, भीतर तक देखने की क्षमता लिए गहरी बड़ी आँखें, उन्नत ललाट, ललाट पर आए तनिक घुँघराले बाल और ओजस्वी वाणी। दिनकर जी के आकर्षण में अनेकानेक व्यक्ति उनकी सभाओं में जाते थे और उनकी कविता या भाषण श्रवण कर आनंदित होते थे... उस दिन भी दिनकर जी को सुनने आने वाले ऐसे व्यक्तियों की खासी संख्या थी जो व्यक्तिगत निवेदनवश वहाँ उपस्थित थे।

अचानक फ्लैश लाइटें कौंधने लगीं। स्वागत-गान बजने लगा, हर्षातिरेक और भावुकता में उपस्थित जन जिसमें अधिक संख्या छात्राओं की थी, उठकर खड़े होने लगे। मैं भी खड़ा था और पीछे घूम कर देख रहा था। दिनकर जी की भव्य मूर्ति प्राचार्या व अन्य के साथ पांडाल के उसी ओर पधार रही थी, जिधर सौभाग्य से मैं भी था।

वे आए, अभ्यर्थना स्वीकार कर अपने निर्धारित स्थान पर बैठ गए। तालियाँ अभी तक बज रही थीं, उन्होंने पीछे घूम कर मानो सिंहावलोकन किया और तालियाँ बंद करने का निर्देशात्मक संकेत दिया और बैठ गए। प्राचार्या उन्हें आस-पास के जगत के जीवों से परिचित करवा रही थीं- मेरा भी क्रम आया, मैं हाथ जोड़, सिर झुका खड़ा हो गया। प्राचार्या ने मेरा नाम आदि बताया, औपचारिक रूप से दिनकर जी ने सिर हिलाया, तभी जैसे प्राचार्या महोदया को कुछ ध्यान आ गया, वे बोल उठीं, 'ये विजयेंद्र स्नातक जी के दामाद हैं, स्नातक जी की बेटी हमारे यहाँ पढ़ाती है।' सुनते ही औपचारिकता के अस्त्र परास्त हो गए और प्राकृतिक अनौपचारिक भाव उस अति विशिष्ट जन के मुख पर प्रकट हो गए। उन्होंने सच में मुझे हाथों-हाथ लिया और खींचकर साथ बिठा लिया। मैं अवाक व बाकी सब चकित-से थे कि घन गरज उठा, "तू सुधा का पति है?" मैं पहले ही संकोच में था, अब इतना आत्मीय सम्बोधन सुनकर गड़-सा गया और कोई उत्तर न दे सका। तभी दूसरा प्रश्न बरसा, "क्या करता है तू?" यह वाक्य आज भी मुझे वर्तमान लगता है। मैंने अपना प्राध्यापक होना बताया था, कॉलेज का नाम भी लिया था। उन्होंने कहा था, "स्नातक जी बता रहे थे, तू लिखता भी है, क्या लिखता है तू?" मैं एक अदना-सा कंकड़, अब भला हिमालय को क्या बताता कि क्या लिखता हूँ मैं.... वार्षिक उत्सव प्रारम्भ हुआ। मुख्य अतिथि का परिचय बाकायदा पढ़ कर दिया जा रहा था, दिनकर जी ने मुझसे कहा, "जब मुख्य अतिथि की हैसियत कोई नहीं जानता तो ऐसा लंबा परिचय दिया जाता है ताकि सबको विश्वास हो सके कि सही आदमी को बुलाया गया है," कहकर वे इतने उन्मुक्त भाव से जोर से हँसे कि जनता का ध्यान उधर चला गया, पर वे वैसे ही स्वाभाविक स्थिति में रहे। मैं उनका अतिशय आत्मविश्वास देख विमुग्ध था। कार्यक्रम के बाद मैंने उन्हें श्रद्धेय डॉ. स्नातक द्वारा उनके लिए प्रेषित एक बड़ा-सा लिफाफा दिया। दिनकर जी ने मुझसे लिफाफा खोलने को कहा, लिफाफा खुला, उसमें स्नातक जी का पत्र तथा 'धर्मयुग' के नवीन अंक की प्रति थी जिसमें दिनकर साहित्य विषय का एक लेख डॉ. स्नातक द्वारा लिखा गया था।

एक दृष्टि लेख पर डालकर, चलते-चलते दिनकर जी मुझसे बोले, "लिखता तू रहियो पर स्नातक जी जैसा विद्वान भी बनियो"

दिनकर अस्ताचल में चला गया पर मेरे लिए बहुत-सी रोशनी छोड़ गया। उनका दिव्य व्यक्तित्व, भव्य अंदाज, गहरी अनौपचारिक आत्मीयता और 'सूदिंग वाइब्रेशन' मुझे देर तक अपने से बाँधे रहे। जो सम्भाषण उनसे, उस

रोज हुआ उससे लगा था कि अब मुझे उनसे मिलते रहने का मल्टीपल वीजा मिल गया है। कुछ ही दिन बाद मैंने श्रीमती कमलारत्नम के साथ दिनकर जी से मुलाकात करने की बात की। वे दिनकर जी के निकट मंडल में थीं, उन्होंने बताया कि दिनकर जी मानसिक रूप से परेशान हैं, उनके परिवार में कहीं कोई विवाद है, जब सहज हो जाएगा, मिल लेना।

संभवतः विवाद मिटा नहीं, कुछ सहज नहीं हुआ और कुछ ही दिनों बाद अप्रैल माह की बीस तारीख को दिनकर जी मन की शांति के लिए तिरुपति गए और 24 अप्रैल को मद्रास में उनका शरीरांत हो गया।

अचानक उनका यों चला जाना उनके प्रशंसकों को आहत कर गया। मैंने उनके जाने के बाद उनकी लगभग अंतिम काव्यकृति 'हारे को हरिनाम' पढ़ी- निराशा हुई थी कि उत्साह और संघर्ष के कवि ने हार कर हरिनाम स्वीकार किया था। अवश्य उनकी भौतिक वेदनाएँ गहरी होंगी।

मुझे याद आता है, वह दिन, जब सन् 1966 में हरिवंश राय 'बच्चन' को राज्य सभा में नामजद सदस्य हो जाने के उपलक्ष्य में सप्रू हाउस में एक बड़ा आयोजन हुआ था। हिंदू कॉलेज के बी.ए. ऑनर्स हिंदी के हम तीन छात्र, जिन्होंने 'मित्रत्रयी' नाम से थोड़ा बहुत लिखना आरंभ किया था। उस आयोजन में गए थे सप्रू हाउस नामी-गिरामी साहित्यकारों, पत्रकारों से पटा पड़ा था लेकिन सबसे प्रभावी थे दिनकर। वे विशिष्ट अतिथि के रूप में मंच पर बच्चन के साथ उपस्थित थे। कुर्सी-मेज नहीं थी गाव-तकिए के सहारे साथ-साथ बैठे दो दिग्गजों को देखना एक विशिष्ट अनुभव था, हम तीनों यानी मैं, सुरेश ऋतुपर्ण और राकेश जैन (सिंधुराज) रोमांचित थे। हम लोग प्रख्यात छायाकार श्री वसंत दवे के सौजन्य से उनके साथ वहाँ जा सके थे। तब से ही उसने मिलने की चाह थी।

दरअसल इतने करीब से पहली बार दिनकर जी को देख था, उन्होंने हलके भूरे रंग की गांधी टोपी लगाई हुई थी। देर तक हम उन्हें समीप से देखते रहे थे और मुग्ध होते रहे थे। एक बार गुजराती समाज में भी उनको देखा था। तब वे और डॉ. नगेन्द्र साथ-साथ थे। तब गुरुवर डॉ. नगेन्द्र की कृपा से मुझे दिनकर के ऑटोग्राफ मिल सके थे जिसके ऊपर महाकवि ने लिख था, "तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है।" इस पंक्ति का संधान करने का अवसर बरसों बाद बरसों तक रहा है वैसे मुझे उनका गद्यकार 'शुद्ध कविता की खोज' में बेहद प्रभावित करता है।

स्मरण आते हैं चंद ऐसे कवि सम्मेलन जहाँ दिनकर के मुख से उनकी कविताएँ सुन रोमांच की सीमाएँ टूट गई थीं। लाल किला के एक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए एक बार जब उन्होंने मेरे मित्र कवि श्री गोविंद व्यास के गले में अपने गले की माला डाल दी थी, मन बहुत प्रसन्न हुआ था। गोविंद भाई की कविता उन्हें पसंद आई थी और उत्साहवर्धन या नई पीढ़ी की संस्तुति इस प्रतीक से ज्यादा क्या हो सकती है। दिनकर जी के प्रति मन में रखी हुई श्रद्धा का भार बढ़ गया था।

दिनकर शताब्दी-वर्ष पर हाल ही में दूरदर्शन पर दिनकर के व्यक्तित्व और कवि पर बोलने के लिए मुझे आमंत्रित किया गया था। निर्माता निर्देशक श्री अमरनाथ 'अमर' से रिकार्डिंग से पूर्व दिनकर चर्चा चली थी, उन्होंने पूछा था, 'डॉ. साब, दिनकर जी से कभी मिले थे आप?...'

मैं तब से यही सोच रहा हूँ कि जितना मिला था, वह मिलना था भी कि नहीं। अतः जाहिर है कि अमर जी जवाब की प्रतीक्षा में ही हैं।

15 सी, विश्वविद्यालय मार्ग, दिल्ली-110007

"दूध, दूध!" गंगा, तू ही अपने पानी को दूध बना दे।
"दूध, दूध!" उफ़! है कोई, भूखे मुर्दों को जरा मना दे?

"दूध, दूध!" फिर "दूध!" अरे, क्या याद दूध की खो न सकोगे?
"दूध, दूध!" मरकर भी क्या तुम बिना दूध के सोन सकोगे?

वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं!
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में "दूध, दूध!" जो चिल्लाते हैं!

बेकसूर, नन्हें देवों का शाप विश्व पर पड़ा हिमालय!
हिला चाहता मूल विश्व का, देख रहा क्या खड़ा हिमालय?

"दूध, दूध!" फिर सदा कब्र की, आज दूध लाना ही होगा;
जहाँ दूध के घड़े मिलें, उस मंजिल पर जाना ही होगा।

जय मानव की धरा साक्षिणी! जय विशाल अम्बर की जय हो;
जय गिरिराज! विन्ध्य-गिरि जय-जय! हिन्द महासागर की जय हो!

हटो व्योम के मेघ, पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
"दूध, दूध!" ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहण करते समय दिनकर का संभाषण

ज्ञानपीठ पुरस्कार ने एक शिखर तैयार कर दिया है, जिस पर खड़ा होने से आदमी सारे देश को दिखाई पड़ जाता है और उत्सव के दिन क्षण भर को उसे यह अधिकार भी मिल जाता है कि वह कुछ बोले और लोग उसकी बातों को सुनें। यह बहुत बड़ा गौरव है और मैं सच्चे हृदय से उन सभी सहृदय विद्वानों को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मेरे 'उर्वशी' काव्य को इस पुरस्कार के योग्य समझा और मुझे इस उच्च शिखर पर खड़ा होने का अवसर प्रदान किया है। जिस विशाल देश में सोलह भाषाएँ संविधान द्वारा स्वीकृत हों और प्रायः सभी भाषाओं में साहित्य-निर्माण बड़ा ही कठिन कार्य है। जब भारतीय ज्ञानपीठ ने अपने पुरस्कार की योजना पहले-पहल विज्ञापित की थी, उस समय पुरस्कार-योजना के शुभचिन्तक भी मन ही मन सहमे हुए थे। उन्हें चिन्ता थी कि सभी भाषाओं की पुस्तकों के बीच तुलना का कार्य किस प्रक्रिया से सम्पन्न किया जाएगा और तुलना करने के पश्चात् जब प्रवर-समिति किसी ग्रन्थ को सर्वश्रेष्ठ घोषित करेगी, तब प्रवर-समिति का निर्णय सामान्यतः मान्य समझा जाएगा या नहीं। किन्तु पिछले आठ वर्षों के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि यदि सदाशयता हो और पूरा परिश्रम किया जाए, तो यह असम्भव कार्य भी सम्भव बनाया जा सकता है।

भारतीय ज्ञानपीठ ने जिस बीहड़ काम में हाथ डाला था, उसमें उसे सफलता प्राप्त हुई। इसलिए वह देश में प्रशंसा का पात्र हो गया और पिछले आठ वर्षों में इस पर प्रशंसा के जो पुष्प बरसे हैं, ज्ञानपीठ की सेवा उनके योग्य थी। मेरी दृष्टि में ज्ञानपीठ की इस सफलता का ऐतिहासिक महत्त्व है। स्वराज्य होने के पूर्व हम अपने देश की अन्य भाषाओं के साहित्यकारों के नाम तब तक नहीं सुनते थे, जब तक वे रवीन्द्र, प्रेमचन्द, शरत् या इक़बाल न हो जाएँ। स्वराज्य होने के बाद भारतीय भाषाओं को परस्पर समीप लाने का आन्दोलन आरम्भ हुआ और हमारी प्रत्येक भाषा के लोग अपने देश की अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ लेखकों के नाम कुछ ज्यादा सुनने लगे। इस दिशा में साहित्य अकादमी ने जो कार्य किया हे, उसकी महिमा स्पष्ट है। किन्तु इतना कुछ होने पर भी साहित्य में अखिल भारतीय मंच की कल्पना निराकार की निराकार ही रही। उसे साकार करने का श्रेय इतिहास भारतीय ज्ञानपीठ को देगा, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। भारतीय ज्ञानपीठ ने भारत-राष्ट्र का एक बहुत बड़ा कार्य कर दिया, जिसके लिए मैं उसे बधाई देता हूँ।

ज्ञानपीठ-पुरस्कार में केवल साहित्य की ही सेवा नहीं हो रही है, उससे भारत की भावात्मक एकता में भी वृद्धि हो रही है। भारत अपने बौद्धिक व्यक्तित्व को भी ऊपर उठा रहा है, साहित्य के क्षेत्र में उसके आत्मविश्वास में भी वृद्धि हो रही है और, अप्रत्यक्ष रूप से, वह अंग्रेजी के दबाव से भी निकलता जा रहा है।

ज्ञान का साहित्य मनुष्य किसी भी भाषा में लिख सकता है, जिससे उसने भलीभाँति सीख लिया हो, किन्तु रस का साहित्य वह केवल अपनी भाषा में रच सकता है। प्रत्येक ऐसे देश की आत्मा, जिसका कोई इतिहास है, उस देश की अपनी भाषा में बोलती है। भारत की भाषा उसकी अपनी भाषा है। अंग्रेजी के माध्यम से हमने भारत की महिमा का प्रचार किया है। अन्यथा अंग्रेज और अंग्रेजी के युग में भी भारत की आत्मा की भाषा उसकी अपनी ही भाषा थी। भारतीय भाषाओं का पुजारी होने के कारण भारतीय ज्ञानपीठ श्रद्धा का पात्र है। मैं श्रद्धा के भाव से उसे प्रणाम करता हूँ। अपनी भाषा की उन्नति करना और उन्नत देशों की भाषाएँ सीखना, ये दोनों परस्पर विरोधी कार्य नहीं हैं। किन्तु भारत को यदि मौलिक राष्ट्र बनाना है, तो उसकी अपनी भाषाओं को सर्वाधिक महत्त्व देना ही पड़ेगा।

अब मैं असमंजस में हूँ कि ज्ञानपीठ को धन्यवाद देने के पश्चात् आज मुझे बोलना क्या चाहिए। देश की रक्षा के लिए किया जाने वाला संघर्ष बड़ा, परिवार की रक्षा के लिए किया जानेवाला संघर्ष छोटा होता है। फिर भी मैंने सारी आयु इसी छोटे संघर्ष में बितायी है। दिन का जो ताजा हिस्सा था, वह परिवार के लिए रोटी कमाने में गया। उसके बाद जो अवसाद की घड़ियाँ होती हैं, उन्हीं में मैंने साहित्य की साधना की है। फिर भी साहित्य-संसार ने मेरी ओर आँख उठाकर देखने

की कृपा की, इसे मैं अपना सौभाग्य और उस प्रभु का वरदान समझता हूँ, जिसकी कृपा से मूक बोलते और पंगु पर्वतारोहण करते हैं।

लगता है, पृथ्वी पर आने के पूर्व जब भगवान को प्रणाम करने गया, वे कलाकारों के बीच छेनी, टाँकी, हथौड़ी, कूँची और रंग बाँट रहे थे। लेकिन भगवान ने मुझे छेनी, टाँकी और हथौड़ी नहीं दी, जो पच्चीकारी के औजार हैं। उनके भण्डार में एक हथौड़ा पड़ा हुआ था। भगवान ने वही हथौड़ा उठाकर मुझ दे दिया और (जरा-सी आत्मश्लाघा के लिए क्षमा कीजिए) कहा कि जा, तू इस हथौड़े से चट्टान का पत्थर तोड़ेगा और तेरे तोड़े हुए अनगढ़ पत्थर भी काल के समुद्र में फूल के समान तैरेंगे।

लगता है, जब मैं हथौड़ा लेकर चला, मैं छेनी और टाँकी की ओर मुड़-मुड़कर लोभ से देख रहा था। वह लोभ मुझे जीवन-भर सताता रहा है और जीवन-भर मैं इस विचिकित्सा में पड़ा रहा हूँ कि कविता का वास्तविक प्रयोजन क्या है। क्या वह मनुष्य को जगाने, सुधारने और उन्नत बनाने के लिए है? या उसका काम आदमी को रिझाना और उसे प्रसन्न करना है, या इनमें से कोई भी ध्येय कविता का ध्येय नहीं है? जैसा कि एज़रा पॉउण्ड ने कहा है, कविता केवल कविता है, जैसे वृक्ष केवल वृक्ष है। वृक्ष अपनी जगह पर स्थिर खड़ा है। वह किसी को भी नहीं बुलाता। फिर भी लोग उसकी हरियाली को देखकर खुश होते हैं, उसकी छाया में बैठते हैं और पेड़ अगर फलदार हुआ, तो वे फलों को तोड़कर खा लेते हैं। चेतना के तल में जो घटना घटती है, जो हलचल मचती है, उसे शब्दों में अभिव्यक्ति देकर हम सन्तोष पाते हैं। यही हमारी उपलब्धि हैं यदि देश और समाज को उससे कोई शक्ति प्राप्त होती है, तो वह अतिरिक्त लाभ है। किन्तु, इतना जरूर है कि पेड़ मनुष्य और पक्षियों के नहीं रहने पर भी फूल और फल सकते हैं, किन्तु पाठक और श्रोता न रहें, तो कवि कविता लिखेगा या नहीं, इसमें मुझे भारी सन्देह है। अगर सारी दुनिया खत्म हो जाए और केवल एक आदमी जीवित खड़ा हो, तो कवि होने पर भी, वह कविता शायद ही लिखेगा। मेरी दृढ़ धारणा है कि कविता व्यक्ति द्वारा सम्पादित सामाजिक कार्य है और शुद्ध कविता भी समाज के लिए ही लिखी जाती है।

अपने निर्माण के दिनों में प्रत्येक नये कवि को, उस एक महाकवि का पता लगाना पड़ता है, जिसके समान वह बनना चाहता है। मेरा दुर्भाग्य या सौभाग्य यह रहा है कि मैंने एक के बदले ऐसे दो महाकवियों का पता लगा लिया, जिनके समान बनने की मुझमें उमंग थी। इनमें से एक थे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जिनके नाम की सारे संसार में धूम थी और जिनके प्रभाव में आकर भारत की कई भाषाओं में छोटे-छोटे रवीन्द्रनाथ पैदा हो गये थे; और दूसरे थे सर मोहम्मद इक़बाल, जिन्हें नोबेल पुरस्कार तो नहीं मिला था मगर जिनकी कविताएँ पाठकों के रुधिर में आग की तरंगें उठती थीं, मन के भीतर चिन्तन का द्वार खोल देती थीं।

प्रभाव तो इन दोनों कवियों का मुझ पर पहले ही पड़ गया। यह पता बहुत बाद को चला कि रवीन्द्र और इक़बाल दो ध्रुवों के कवि हैं और वे अकसर आमने-सामने के दो विरोधी क्षितिजों से बोलते हैं। भगवान के प्रति रवीन्द्रनाथ का भाव सम्पूर्ण आत्म-समर्पण का भाव था

प्रभु, तोमा लागि आँखि जागे।
देखा नाइ पाइ, शुधू पथ चाइ,
सेओ माने भालो लागे।

किन्तु इक़बाल भगवान के उस प्रकार के भक्त थे जो चाहता है कि मैं भगवान में लीन नहीं होऊँगा, भगवान को ही मुझमें विलीन होना पड़ेगा

खुदी को कर बुलन्द इतना
कि हर तक़दीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे,
बता, तेरी रज़ा क्या है?

यह भी कि रवीन्द्रनाथ उपयोगिता को कोई महत्त्व नहीं देते थे। जहाँ तक उपयोगिता का सवाल है, आदमी और जानवर में कोई भेद नहीं है। मनुष्य का असली व्यक्तित्व तब बनता है, जब वह उपयोगिता के घेरे को लाँघकर ऐसी भूमि में पहुँच जाता है जो निरुद्देश्य आनन्द की भूमि है, जहाँ मनुष्य आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर साहित्य का सृजन नहीं करता, न समाज के किसी स्थूल प्रयोजन की पूर्ति के लिए कविता या चित्र बनाता है।

रवीन्द्रनाथ की तरह इक़बाल भी मानते हैं कि कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। किन्तु, व्यक्तित्व की परिभाषा उनकी कुछ और है। जो अभी आराम में है, जो संघर्ष से दूर है, जो बड़े मक़सदों को हासिल करने के लिए जद्दोजहद नहीं कर रहा है, इक़बाल उस मनुष्य को व्यक्तित्वहीन समझते हैं। व्यक्तित्व की स्थिति संघर्ष की स्थिति होती है, तनाव की स्थिति होती है, और जो आदमी जितने ही अधिक तनाव में है, उसका व्यक्तित्व भी उतना ही बड़ा और बलवान है।

शुरू में ही मुझ पर रवीन्द्र और इक़बाल का जो विरोधी प्रभाव पड़ गया, उसके कारण मैं काफी वर्षों तक बेचैन रहा। मेरे निर्माण का समय वह था जब गाँधी जी समस्त देश को जीवन, जागरण, प्रेरणा और संघर्ष से आलोड़ित कर रहे थे। ऐसा समय क्या कोमल, वायवीय, निरुद्देश्य गीतों का समय होता है? अथवा सम्भव है कि पराधीनता का विरोध, शोषण

और साम्राज्यवाद पर प्रहार तथा समता के समर्थन में गान मैंने भी प्रचार के लिए नहीं, बल्कि इसलिए किया था कि वैसा करना मुझे अच्छा लगता था, आनन्ददायी मालूम होता था। कॉलेज में वर्ड्स्वर्थ की ये पंक्तियाँ कदाचित् मैंने भी पढ़ी होंगी-

The gods approve the depth
And not the tumult of the soul

लेकिन जवानी भर मुझे इसकी परवाह ही नहीं रही कि देवताओं की पसन्द क्या है। मुख्य बात यह थी कि गर्म लोहे पर हथौड़े की चोट जोर से पड़ती है या नहीं। मैं रन्दा लेकर काठ को चिकनाने नहीं आया था। मेरे हाथ में तो कुल्हाड़ी थी। मैं जड़ता की लकड़ियों को फाड़ रहा था।

लेकिन मुझे राष्ट्रीयता, क्रान्ति और गर्जन-तर्जन की कविताएँ लिखते देखकर मेरे भीतर बैठे हुए रवीन्द्रनाथ दुःखी होते थे और संकेतों में कहते थे, "तू जिस भूमि पर काम कर रहा है, वह काव्य के असली स्रोतों के ठीक समीप नहीं है।" तब मैं 'असमय आह्वान' में, 'हाहाकार' में तब अन्य कई कविताओं में अपनी किस्मत पर रोता था कि हाय, काल ने इतना कसकर मुझे ही क्यो पकड़ लिया? मेरे भीतर जो कोमल स्वप्न हैं, वे क्या भीतर मुरझाकर मर जाएँगे? उन्हें क्या शब्द बिलकुल ही नहीं मिलेंगे?

लेकिन शब्द इन कोमल स्वप्नों को भी मिले। 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्व-गीत' इन्हीं कोमल कविताओं के संग्रह हैं किन्तु विरुद मेरा चारण और वैतालिक का ही रहा। 'हुंकार' के आमुख में मैंने स्वयं स्वीकार किया था

अमृत-गीत तुम रचो कलानिधि,
बुनो कल्पना की जाली।
तिमिर-ज्योति की समर भूमि का
मैं चारण, मैं वैताली।

तब सन् 1943 के आसपास मेरा परिचय 'अदृश्य कवि' इलियट की कविताओं से हुआ। यह मेरी काव्य-चेतना में आनेवाला पहला भूडोल था। पूर्व इसके कि युग की बीमारी अपनी हस्ती का ऐलान करे, कवि को चाहिए कि वह युग से कह दे कि तुम बीमार हो या होने वाले हो। इलियट की कविताएँ पूरी तरह मेरी समझ में नहीं आयीं, लेकिन तब भी मैं मान गया कि उन्होंने युग को यह चेतावनी दे दी है।

मैं बड़ी ही निश्चिन्तता और आत्मविश्वास के साथ गाता जा रहा था, साम्राज्यवाद की कुरूप छाती में अपने गीतों के खंजर चुभोता आ रहा था, पराधीनता की बेड़ियों पर उस हथौड़े से प्रहार करता आ रहा था, जो मुझे भगवान से प्राप्त हुआ था। किन्तु, इलियट को पढ़ते ही मैं थोड़ी देर के लिए ठिठककर रहा गया। अरे, इलियट की कविताएँ हम लोगों की कविताओं यानी मेरे गुरु रवीन्द्रनाथ और इक़बाल की कविताओं से कितनी भिन्न है! फिर मन ने कहा यह अवश्य ही परिस्थितियों का भेद है। इलियट उस दुनिया के कवि हैं, जो दुनिया समृद्धि की अधिकता से बेजार है, जिस दुनिया ने आत्मा को सुलाकर शरीर को जगा लिया है। किन्तु, हम तो पराधीन देश के कवि हैं। हमारा तो कोई देश ही नहीं है फिर हम 'मरु देश' की कल्पना कैसे कर सकते हैं?

मगर इलियट को मैं चाहे जितना भी भूलना चाहता, मैं उन्हें भूल नहीं पाता था। उनकी कविताएँ समझ में भले ही नहीं आती हों, किन्तु वे मेरी शान्तिभंग करने में समर्थ थीं, मेरे मन को वे अकसर उस दिशा में भेज देती थीं जिस दिशा में कहीं कोई क्षितिज नहीं था, न कोई किताब खुलकर बन्द होती थी। मेरी चेतना के घाट बँध चुके थे, मेरी चमड़ी मोटी हो चुकी थी, मेरे मुहावरे अब बदले नहीं जा सकते थे। अतएव, इलियट के लिए यह असम्भव कार्य था कि वे मुझे बदलकर अपनी राह पर लगा लें। लेकिन मन बराबर यह महसूस करता रहा कि इलियट रवीन्द्र और इक़बाल से छोटे हों या बड़े, यह अलग बात है, किन्तु वे उन दोनों से भिन्न हैं और उनके साथ कविता में कोई ऐसी अदा उतरी है, जो संसार में और कभी दिखाई नहीं पड़ती थी। उस समय मैं यह क्या जानता था कि नवीनता का पाठ कविता ने इलियट में ही आकर नहीं पढ़ा! यह पाठ इलियट की कविताओं से कोई पचास वर्ष पूर्व वह फ्रान्स में पढ़ चुकी थी। लेकिन भारतवासियों को तो भारत से बाहर केवल अंग्रेज नहीं बदले, भारतवासियों ने कविता के क्षेत्र में बदलने की बात सोची भी नहीं, जो बिल्कुल स्वाभाविक बात थी।

आगे चलकर श्री अरविन्द के एक लेख में मैंने पढ़ा कि भविष्य की कविता मन्त्र के समान छोटी और वैसी ही प्रभावशालिनी होगी। इलियट की कविता, मन्त्र कविता का पूर्वाभास है। कविता जिस साधना में लगी हुई है, उसमें यदि वह सफल हो गयी, तो मन्त्र की तरह संक्षिप्त होना उसका स्वभाव हो जाएगा और वह संकेत में इस प्रकार बोलेगी मानो आगामी पीढ़ियों को कवि चिट्ठी नहीं, तार भेज रहा हो। मुझे उन कवियों और आलोचकों पर तरस आता है जो इलियट की गणना साहित्य के लकड़बग्घों में करते हैं।

रवीन्द्र और इक़बाल ने मेरे हृदय-सरोवर को खूब हिलकोरा था। जब सरोवर किंचित् जड़ होने लगा, उसे इलियट और उनके समानधर्मी कवियों ने फिर से हिलकोर दिया। नयी कविता से मेरे घबराने का एक कारण यह था कि वह मेरी समझ में नहीं आती थी। दूसरे, उसने छन्द की राह छोड़ दी थी। किन्तु जब मैंने देखा कि चित्रकारी बालू और कोलतार से तथा मूर्तिकारी लोहे के तारों से की जा रही है, तब मैंने भी यह मान लिया कि कविता का गद्य में लिखा जाना कोई अनुचित बात नहीं है।

मुझे जो कुछ बनना था, रवीन्द्र और इक़बाल की कृपा से मैं बन चुका था। जब मुझे यह उम्मीद नहीं थी कि मुझ पर कविता के नये आन्दोलन का भी प्रभाव पड़ेगा। लेकिन जो बात जवानी में नहीं हो पायी, वह बुढ़ापे में आकर हो गयी। इस प्रभाव का अदृश्य आरम्भ 'नील कुसुम' में हुआ, उसका दृश्य प्रमाण 'हारे को हरि नाम' में मौजूद है। धर्म में निराकार से साकार की ओर गया हूँ। कविता में मेरी यात्रा साकार से निराकार की ओर है। पहले मैं यह जानता था कि कविता कहाँ से आ रही है और वह किस तरफ को जाएगी। अब मुझे यह मालूम ही नहीं होता कि कविता कहाँ से आती है और क्या उसका गन्तव्य है।

कविता युग के संचित ज्ञान का आख्यान नहीं है। कविता का क्षेत्र ज्यों-ज्यों नवीन होता जाता है, कवि त्यो-त्यों अधिक गहराई में उतरता जाता है, और ज्यों-ज्यों वह गहराई में उतरता जाता है, त्यों-त्यों यह बताने में वह अधिक असमर्थ होता जाता है कि यह सत्य है और वह सत्य नहीं है। कविता की जो यात्रा गहराई की ओर है, वही उसे अनेकान्त की ओर लिये जा रही है। कवि यह जान गया है कि कोई भी बात जोर से बोलने के योग्य नहीं है। इसलिए अब वह निश्चित और अनिश्चित, ज्ञात और अज्ञात के सन्धिस्थल पर काम करता है। मनुष्य इतनी बार धोखा खा चुका है कि उसे अब किसी भी ज्ञान पर विश्वास नहीं रहा और सत्य को उसने इतनी बार बदलते देखा है कि वह कहीं भी दुराग्रह-पूर्वक अड़ने को तैयार नहीं है। इसका प्रभाव कविता पर पड़ना स्वाभाविक था। कविता अब सत्य का उद्घोष नहीं, उसके अनुसन्धान का प्रयास है। मैं भी 'उर्वशी' में सिखाने के बदले अनुसन्धान के काम में ज्यादा लगा रहा हूँ। यह ठीक है कि 'उर्वशी' बहुत-से संचित ज्ञान का कथन बड़े ही उत्साह के साथ करती है, किन्तु वह सब का सब सच है या नहीं, यह बात मुझे भी मालूम नहीं है। कविता में एक स्थिति वह भी आती है, जब कवि को अपने अहं का लोप करना पड़ता है अथवा समाधि की स्थिति में देर तक टिके रहने से कवि के अहं का आप से आप लोप हो जाता है। तब तो भूमि रिक्त रह जाती हे, वहाँ कहीं से स्रस्त होकर कविता खुद-ब-खुद उतर आती है। 'उर्वशी' में ऐसे कई स्थल हैं। किन्तु उनके बारे में अधिकारपूर्वक बोलना मेरे लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि जहाँ-जहाँ ऐसे स्थल आये हैं, मेरा अस्तित्व विलुप्त हो गया है। वहाँ जो है, वह कविता है, मैं नहीं हूँ।

इस प्रसंग में 'उर्वशी' को 'कुरुक्षेत्र' से मिलाकर देखने की उत्सुकता स्वाभाविक है। 'कुरुक्षेत्र' में प्रकाश है, 'उर्वशी' में द्वाभा और गोधूलि हैं। 'कुरुक्षेत्र' की वाणी विश्वास की वाणी है, 'उर्वशी- की वाणी संशय और द्विधा से आक्रान्त है। 'कुरुक्षेत्र' में मैं धृष्टतापूर्वक गुरु के पद से स्वयं बोल गया हूँ। 'उर्वशी' की ऊँचाई पर पहुँचकर मुझे ऐसा लगा कि काश, कोई गुरु मिल जाता, तो उससे पूछ लेता कि असली रहस्य क्या है।

अपने स्वप्न, अपनी कल्पना की व्याख्या कवि स्वयं नहीं कर सकता, न यह काम करने की उसे कोशिश करनी चाहिए। कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः! फिर भी मैंने यह विवर्जित कार्य इसलिए किया कि मुझे लगा कि इससे आपका किंचित् मनोरंजन हो जाएगा। यह वह युग है, जिसमें माध्यम प्रमुख, सन्देश गौण हो गया है। लोग कविता कम, कविता के बारे में अधिक सुनना चाहते हैं। कवि की जीवनियाँ आज ज्यादा बिकती हैं, उनकी कविताओं की बिक्री कम हो गयी है। कवि की कविता से अधिक महत्त्व अब कवि के साथ की गयी भेंट-वार्ता को दिया गया है।

जिस सभ्यता में हम जी रहे हैं, वह चौकोर व्यक्तित्वालों की नहीं, विशेषज्ञों की सभ्यता है। ज्ञान के वृक्ष की डालियाँ अब बढ़कर इतनी स्वतन्त्र हो गयी है कि एक डाल पर बसनेवाला पक्षी दूसरी डाल के पक्षी की बोली समझने में असमर्थ है। एक समय ऐसा भी था, जब गेलीलियो, वैज्ञानिक होने पर भी, कविता करते थे और लियोनाडो द बिंची को, कलाकार होने पर भी, विज्ञान की सारी बातें मालूम थीं। भारत में तो कवि अकसर ज्योतिषी भी हुआ करते थे। ख़ाख़ाना अब्दुर रहीम केवल शायर ही नहीं, ज्योतिषी और सिपहसालार भी थे। लेकिन अब समय ऐसा आ गया है कि भौतिकी के सारे आविष्कार गणित के फॉरमूलों को समझ सकें। नतीजा यह है कि वैज्ञानिक की बातें सभी वैज्ञानिकों की समझ में नहीं आतीं। इसी प्रकार कवियों की कविताएँ भी कुछ खास-खास कवि ही समझ पाते हैं। यह स्थिति कविता के लिए सामान्य नहीं, अच्छे-खासे सुधी पाठकों के लिए भी दुखदायी हो रही है। काश, कोई ऐसा कवि पैदा होता, जो इलियट और रिल्के के स्वप्नों को तुलसी की सरलता से लिखने का मार्ग निकाल देता।

देवियो और सज्जनो, अन्त में अपने जीवन का एक और भेद बताकर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ, जिस तरह मैं जवानी भर इक़बाल और रवीन्द्र के बीच झटके खाता रहा, उसी प्रकार मैं जीवन-भर गाँधी और मार्क्स के बीच झटके खाता रहा हूँ। इसीलिए उजले को लाल से गुणा करने पर जो रंग बनता है, वही रंग मेरी कविता का रंग है। मेरा विश्वास है कि अन्ततोगत्वा यही रंग भारतवर्ष के व्यक्तित्व का भी होगा।

जय वाग्देवी! जय हिन्द!

■■■

संस्कृति के चार अध्याय

मनीषियों के विचार

स्वर्गीय आचार्य शिवपूजन सहाय, पटना

'संस्कृति के चार अध्याय' का प्रत्येक अध्याय स्वाध्यायशील लेखक के गहन चिन्तन-मनन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह जैसा ज्ञानवर्द्धक है, वैसा ही रोचक भी। इतिहास और उपन्यास की तरह आकर्षक और मनोरंजक प्रतीत होता है। हिन्दी में ऐसा ग्रंथ अब तक मैंने नहीं पढ़ा था। हिन्दी संसार में यह बिहार का गौरव बढ़ाने वाला सिद्ध होगा।

पंडित सुमित्रानन्दन पंत, इलाहाबाद

आपने इस युग में फिर से सागर-मंथन करके रख दिया, जिसकी बड़ी आवश्यकता थी। मैं तो कहूँगा कि इसे पढ़े बिना हिन्दी के सामान्य पाठकों का अध्ययन ही अधूरा रह जायेगा। आपने भारतीय मानव का युग-युग-व्यापी विस्तार, उसकी गहराई, ऊँचाई और उसका उद्वेलन एवं उत्थान-पतन, इन पृष्ठों में बाँधकर हिन्दी जगत के अतिरिक्त समस्त देश की इस बहुभाषी देश की बड़ी सेवा की है।

पंडित इलाचन्द्र जोशी, इन्दौर

ग्रन्थ की प्रशंसा के लिए मैं उपयुक्त विशेषण नहीं खोज पा रहा हूँ। इस विषय पर बड़े-बड़े विद्वानों की बड़ी-बड़ी पुस्तकें मैंने पढ़ी पर जैसी प्रांजल शैली, जो उदात्त आदर्श और जैसा विराट विजन 'संस्कृति के चार अध्याय' में प्रस्फुटित हुआ है, वैसा कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिला। आदि से अन्त तक संपूर्ण ग्रन्थ गहन-गंभीर और खोजपूर्ण तथ्यों से भरा होने पर भी सरसता और रोचकता में कहीं तनिक भी कमी नहीं आने पायी है। यह कला कितनी असाधारण है, अनुभवी ही बता सकते हैं।

श्री मोटूरी सत्यनारायण, मद्रास

इस ग्रन्थ का नाम वास्तव में 'संस्कृति-सरिता-सागर' होना चाहिए था। इस सारे ग्रन्थ में समग्र दृष्टि से आपने जो विचार-मंथन किया है, उसका फल अद्वितीय निकला। संस्कृति से संबंधित कई पुस्तकों को पढ़ने का मुझे अवसर मिला। उन्हें एकांगी तथा सर्वांगीण दृष्टि से भी मैंने अध्ययन करने का प्रयत्न किया था लेकिन भारतीय संस्कृति को मानवता के विकास की दृष्टि से समझने और इस ग्रन्थ में प्रस्तुत करने का जो प्रयत्न आपने किया है, वह भारतीय साहित्य में पहला ही प्रयत्न कहा जा सकता है।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, काशी

कई दिनों से सोच रहा था कि आपके द्वारा उपस्थापित, दीर्घकालीन भारतीय संस्कृति की धारावाहिक परंपरा के इस सुन्दर चित्रण को किस शब्द के द्वारा प्रकट करूँ। मैं ठीक शब्द नहीं पा सका हूँ, पर इसे मैं भारतीय संस्कृति की मोहिनी मूर्ति कहने की ओर ही प्रलुब्ध हूँ। आपकी यह पुस्तक इतिहास की तथ्य-परीक्षा मात्र नहीं है। मेरी दृष्टि में यह एक प्राणवती मानवीय प्रयत्न धारा की मोहिनी मूर्ति है। मोहिनी अर्थात् मुग्ध कर देने वाली। अनेक दुर्दिनों, विपत्तियों, संपत्तियों के भीतर से भारतीय संस्कृति ने जो विचित्र, वैभवमयी मूर्ति धारण की है, वह आपकी पुस्तक से प्रत्यक्ष हो उठती है।

डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी, भू. पू. वाइस चान्सलर, सागर विश्वविद्यालय

Such a useful and able contribution is not available in a readable and convenient form even in English. Of course, it is the first attempt in any Indian language to narrate the long and varied story of our culture in an effective and interesing style in one volume.

डॉ. के. के. दत्त, प्राध्यापक इतिहास, पटना विश्वविद्यालय

You have rendered immense service to us by unfolding a picture of Indian culture and social life on the basis of various sources. Your references from literature are highly inspiring, because the true history of a country can not be understood property without a study of its literature. Literature is, indeed, the most ruthless mirror of a nation's life. I consider your volume to be a creative work of great value and extend to you my heartiest congratulations for this excellent performance.

पंडित नरेन्द्र शर्मा, दिल्ली

जाग्रत भारत की भैरवी, यह पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' 'सूर्यादय वेला' की प्रथम किरण के समान ही अभिनन्दनीय है। पाठक के प्रति अन्त में यही कहना शेष है कि भारत का सच्चा नागरिक बनना चाहता है तो उसके लिए यह अनिवार्य है कि वह भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन कराने वाले इस ग्रन्थ का अवश्य अध्ययन करे।

स्वर्गीय पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी, दिल्ली

ऐसे ग्रन्थ की हिन्दी में नितान्त आवश्यकता थी और मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो पाठक इसे आदि से अन्त तक पढ़ेंगे, उन्हें भारत की सामासिक संस्कृति के वास्तविक रूप का सच्चा बोध हो जायेगा। मेरी यह कामना है कि इस पुस्तक का घर-घर में प्रचार हो। इतना ही नही, मेरी यह भी कामना है कि इस अनमोल ग्रन्थ का भारत की अन्य तेरह क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद होकर देश भर में इसका प्रचार किया जाय। भारतीय एकता की शृंखला को मजबूत बनाने में यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा। आपने इस ग्रन्थ को लिखकर जो काम किया है, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। चिर काल तक हम सब आपके इसके लिए ऋणी रहेंगे।

श्री भगवान सहाय, आई. सी. एस. (नेपाल में भारत के राजदूत)

भारतीय संस्कृति के विषय में सैकड़ों प्रश्न मेरे मस्तिष्क में जमा होते रहे हैं। हर प्रश्न का उत्तर भी मैं सही या गलत मानता रहा हूँ। परन्तु भारत के ज्ञान के लिए उनका भिन-भिन क्या महत्व है, इससे मैं अनभिज्ञ था। इस पुस्तक ने उन प्रश्नों को एक बड़े साँचें में बिठला दिया और इससे मानने योग्य एक तस्वीर निकल आयी। हिन्दी में तो क्या विश्व के समस्त साहित्य में यह पुस्तक बहुमूल्य समझी जायेगी।

स्वर्गीय श्री बालगंगाधर खेर, बम्बई

श्री जवाहर लाल नेहरू ने इसकी प्रस्तावना लिखी है, जो पुस्तक की शोभा वैसे ही बढ़ाती है, जैसे रत्न कांचन की। सत्य-स्वरूप दिनकर-किरणों की प्रभा से भारतीय संस्कृति उज्ज्वलतर हो और उसका प्रकाश मानव समाज का मार्गदर्शन करे, यह मेरी हार्दिक प्रार्थना है।

श्री बालकृष्ण राव, इलाहाबाद

आपने बहुत ही ठोस और सुन्दर चीज दी है। इसके लिए आप हमारे साधुवाद के अधिकारी तो हैं ही, आने वाली पीढ़ी को भी आभार-अवनत होना पड़ेगा।

श्री रंगनाथ दिवाकर, राज्यपाल, बिहार

आपका प्रयत्न बहुत बड़ा है और शायद हिन्दी में सबसे बड़ा है।

डॉ. बालकृष्णकेसकर, मंत्री, भारत-सरकार, नई दिल्ली

यह दिनकर जी ने एक बिल्कुल नये और अनोखे ढंग की पुस्तक हिन्दी में लिखी है। दिनकर जी का प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय है और जिस परिश्रम से उन्होंने इस काम को किया है, वह हिन्दी साहित्य में एक नया अध्याय शुरू करता है।

नई धारा, पटना

इस पुस्तक को हम अपने देश के किसी कोने के किसी भी देश भाई के हाथ में अर्पित कर अपने लिए, अपनी भाषा के लिए गर्व अनुभव कर सकते हैं। एक अच्छा कवि, अच्छा गद्य लेखक भी हो, यह विरल है। किन्तु वह इस क्षेत्र में कुछ ऐसा कमाल कर दे कि इस क्षेत्र के धुरंधर आचार्यों को भी कुछ सोचने-समझने को बाध्य होना पड़े, यह सबसे बड़ी बात है।

हिन्दी के ऊपर एक जिम्मेवारी आ गई है, उसे भारत की सांस्कृतिक एकता की भाषा बनना है। अतः दिनकर ने हिन्दी में इस पुस्तक को लिखकर उसकी जिम्मेवारी निभायी है। हम कह सकते हैं कि राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी ने यह प्रथम पुस्तक देश को अर्पित की है, जिसमें देश अपने संपूण रूप की झलक पा सकता है।

धर्मयुग, बम्बई

श्री दिनकर ने इस ग्रन्थ की रचना कर देश और दुनिया की मूल्यवान सेवा की है। यह पुस्तक उनके कृतित्व का एक ज्योतिर्मान स्तम्भ बनकर सदा जीवित रहेगी। इसे लिखकर उन्होंने अपनी आत्मा को अपने देश की युगान्तर-गामिनी जनता की प्रगतिशील आत्मा के साथ तदाकार किया है। दिनकर की कीर्ति शायद उनके काव्य से भी अधिक उनके इस ग्रन्थ में अमर होकर रहेगी।

राष्ट्रवाणी, पटना

लोग अक्सर राष्ट्रभाषा हिन्दी की श्रीहीनता पर ऊँगली उठाते हैं। मानो, उसी चुनौती को कबूलकर हिन्दी ने अपनी ओर से भारतीय साहित्य को यह देन दी है। यह भारतीय वाङ्मय का गौरव-ग्रन्थ माना जायेगा। अंग्रेजी भाषा और साहित्य पर आसक्त भारतीयों को, विशेषकर शासन के कर्णधारों को, मंत्रिगण तथा आई॰ सी॰ एस॰ और आई॰ ए॰ एस॰ अधिकारी वर्ग को, जिनके हाथों में देश-रचना का सूत्र है, अपने बुक सेल्फ में इस पुस्तक को आदर की जगह देनी चाहिए और वे देखेंगे कि यह उसकी शोभा बढ़ाती है और उनका उचित दिशा निर्देश करती है।

हिन्दी में यह पुस्तक पहले आयी, यह उचित ही था। लेकिन, समय की आवश्यकता तो अब पूरी होगी, जब इसका अनुवाद अंग्रेजी समेत देश की अन्य तेरह भाषाओं में अविलंब हो जाये।

लीडर, प्रयाग

To say that Shri Ramdhari Singh Dinkar's SANSKRITI KE CHAR ADHYAY is a compendium of interesting as well as valuable information respecting the rise and development of Indian culture would amount to telling the truth, but it will not amount to the whole truth. The book is much more than a mere compendium. Dinkar has rendered a valuable national service by producing his book at such a time as the present and the fact that the book is in Hindi, is perhaps, not merely an addition to the treasure-house of Hindi alone, but a happy sign of the increasing awareness of the Hindi writer of his responsibility to the entire nation.

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति के चार अध्याय भारतीय मनोभूमि का भूगोल है, जिसे जाने बिना हम भारत की आत्मा का दर्शन नहीं पा सकते। भारत की आत्मा को समझने के लिए इस पुस्तक का आदि से अन्त तक पाठ कर जाना अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान समय में हमें इस ग्रन्थ के अध्ययन की आवश्यकता इसलिए भी प्रतीत होती है कि सदियों से गुलाम रहने के बाद देश, हाल में ही स्वाधीन हुआ है। हम अपनी खोई सम्पत्ति और परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इसके लिए हमें अपने अतीत को जानना, उसे पहचानना आवश्यक है। तभी हमारी परम्परा सुदृढ़ भित्ति पर कायम हो सकती है, जिसका आधार होगा भारतीय संस्कृति का वह मूल रूप जिसका सदा हमें गर्व रहा है और जो अनेक आपदाओं को झेलती हुई आज भी उसी प्रकार बनी हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना कर दिनकर जी ने हिन्दी भाषा का ही नहीं, अपितु भारतीय समाज का बहुत बड़ा उपकार किया है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से केवल नये ज्ञान का संचय ही नहीं होता बल्कि उससे मन में एक हलचल पैदा होती है और जिज्ञासा की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। भारतीय संस्कृति पर अपने ढंग का यह पहला ग्रन्थ है। हिन्दी या अंग्रेजी किसी भी भाषा में अभी तक इस तरह का ग्रन्थ प्रस्तुत नहीं हो सका है, जहाँ इतनी सारी सामग्री, आलोचनात्मक ढंक से एक स्थान पर संग्रहित हो। साधारण पाठक, जो खोजपूर्ण ग्रन्थों के जंजाल में पड़ना नहीं चाहते, जो खोज-ग्रन्थों की नीरस भाषा से घबराते हों, उनके लिए यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय है।

आजकल, दिल्ली

इस पुस्तक को भारतीय संस्कृति का एक विश्वकोष कहना अत्युक्ति न होगा। पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय से कोई सहमत हो या न हो, इस पुस्तक में जो सामग्री भारत की संस्कृति और इतिहास के सम्बन्ध में एकत्र करके रख दी गयी है, वह इतनी विशद और विचित्र है तथा सैकड़ों पुस्तकों से बूँद-बूँद करके चुआई हुई है कि संस्कृति या इतिहास का कोई भी गंभीर विद्यार्थी इसकी अवज्ञा नहीं कर सकता। मुझे तो पता नहीं कि किसी भारतीय भाषा में इतनी ठोस सामग्री कहीं एकत्र भी है।

योगी, पटना

आलोच्य ग्रन्थ, अपनी व्याख्या में, हिन्दी के लिए सर्वथा प्रथम कहा जाएगा। ग्रन्थकार ने बड़े अध्यवसाय, धैर्य और उदारता के साथ संस्कृति पर अपना ऐतिहासिक तथा साहित्यिक अध्ययन उपस्थित किया है। 'संस्कृति के चार अध्याय' न केवल हिन्दी साहित्य बल्कि कुछ हद तक भारतीय साहित्य में भी विशिष्ट अवतरण के रूप में मान्यता प्राप्त करने वाला स्पृहणीय ग्रन्थ है।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति के इस इतिहास को लिखने में दिनकर जी ने बहुत परिश्रम किया है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के लिए दिनकर जी सचमुच गर्व अनुभव करने के अधिकारी हैं।

संस्कृति का विषय बहुत जटिल है। स्वराज्य के बाद भारतीय संस्कृति के स्वरूप और विकास का परिज्ञान बहुत महत्व की बात हो गयी है।

दिनकर जी ने यह पुस्तक इस उद्देश्य से लिखी है कि भारत के सर्वसाधारण लोगों को भारतीय संस्कृति के स्वरूप व विकास के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त हो जाय। इसके अनेक प्रकरणों में साहित्यिक निबन्धों का रस विद्यमान है और पाठक उन्हें अवश्य रुचिपूर्वक पढ़ेंगे।

Indian Nation, Patna

Dinkar writes concrete and virile prose, shorn a verbiage and nonsense and his prose works are taught in the highest classes of the Universities.

In nearly seven hundred pages, the author goes back almost to creation itself and comes to the present day, travelling though the winding paths of history of floating on the waves of the subtlest philosophical thoughts of relishing the literacy flavour of centuries through which Indian culture has maintained continuous streams. There are many new things which people, not familiar with the subject, can learn from this educative volume.

The book is a contribution not only to Hindi language, but to Indian literature as such.